ओ३म

उपनिषद् रहस्य

एकादशोपनिषद्

(मूल, शब्दार्थ, व्याख्या और श्लोक-मन्त्र शब्दानुक्रमणिका सहित)

भारतीय मनीषा का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण उपनिषद् हैं, ये आध्यात्मिक चिन्तन के सर्वोत्कृष्ट नवनीत हैं।

उपनिषद् शब्द का एक अर्थ 'रहस्य' भी है। उपनिषद् अथवा ब्रह्म-विद्या अत्यन्त गूढ़ होने के कारण साधारण विद्याओं की भाँति हस्तगत नहीं हो सकती, इन्हें 'रहस्य' कहा जाता है। इन रहस्यों को उजागर करने वालों में महात्मा नारायण स्वामीजी का नाम उल्लेखनीय है।

व्याख्याकार

महात्मा नारायण स्वामी

ईश उपनिषद्

ओ३म्

उपनिषद् रहस्य

एकादशोपनिषद्

(मूल, शब्दार्थ, व्याख्या तथा श्लोक-मन्त्र अनुक्रमणिका सहित)

लेखक :

स्व० श्री महात्मा नारायण स्वामी जी महाराज

विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द

उपोद्घात

उपनिषद्-भवन की आधारशिला ईशोपनिषद् है। इस उपनिषद् में जो शिक्षाएं दी गयी हैं, उनको वेद अथवा उपनिषत् की शिक्षा का सार कह सकते हैं और इन्हीं शिक्षाओं का विस्तार पश्चात् की उपनिषदों में किया गया है। उदाहरण की रीति से ईशोपनिषत् की एक शिक्षा है–"नैनद्देवा आप्नुवन्" (देखो मन्त्र ४) अर्थात् "इन्द्रियों से ईश्वर प्राप्तव्य नहीं है।" बाद की सम्पूर्ण दूसरी (केन) उपनिषद् में इसी शिक्षा का विस्तार किया गया है।

ईशोपनिषद् यजुर्वेद का चालीसवां अध्याय है। वेद और उपनिषद् के पाठ में अन्त में थोड़ा सा अन्तर अवश्य है, परन्तु उससे आशय का भेद नहीं होता और यह अन्तर भी केवल इसलिए है कि वर्तमान ईशोपनिषद् यजुर्वेद की काण्वशाखा का ज्यों का त्यों ४०वां अध्याय है। इस प्रकार उपनिषदों की शिक्षा (ब्रह्मविद्या) वेद-मूलक है। और भी अनेक स्थलों पर वेदों में ब्रह्मविद्या की शिक्षा का मूल पाया जाता है। उदाहरण की रीति से देखो निम्न वाक्य–

"वेनस्तत्पश्यन् निहितं गुहा सत्" ॥ १ ॥ यजुर्वेद (३२/८) अर्थात् विद्वान् उसको गुहा (हृदय) में देखता है।

"आत्मनात्मानमभिसंविवेश" ॥ २ ॥ (यजुर्वेद ३२/११)

अर्थात् (जीव) आत्मा के द्वारा आत्मा (ब्रह्म) में प्रवेश करता है। इस प्रकार की अनेक शिक्षाएँ चारों वेदों में फैली हुई पायी जाती हैं। जब हम इस प्रकार ब्रह्म (परा) विद्या को भी वेद मूलक कहते हैं, तब स्वाभाविक रीति से हमारे सम्मुख मुण्डकोपनिषत् का प्रारम्भिक वाक्य (देखो १/१/५) आता है, जिसमें वेद और वेदांगों की गणना अपरा विद्या में की गयी है। यदि ब्रह्म (परा) विद्या भी वेदमूलक है, तब वेदों को 'अपरा' क्यों कहा गया है ? इसका उत्तर स्पष्ट है कि वेद केवल परा विद्या का पुस्तक नहीं है। वेद में परा (ब्रह्म) और अपरा (लोक) दोनों प्रकार की विद्याओं का समावेश है। दोनों शिक्षाओं के सम्मिलित होने से उन्हें केवल परा (ब्रह्म)

विद्या का पुस्तक नहीं कह सकते। इसलिए उनकी गणना केवल परा विद्या में नहीं की गई है। अस्तु। ब्रह्म-विद्या के वेदमूलक होने में किसी को किन्तु-परन्तु करने की जरा भी गुंजाइश नहीं है। इस ईशोपनिषद् में जो शिक्षाएं दी गई हैं, उनके प्रकार पर दृष्टिपात करने ही से प्रकट हो जाता है कि उनमें ब्रह्म-विद्या का मूल मौजूद है। इस उपनिषत् के चार भाग हैं–

प्रथम भाग–प्रथम के तीन मन्त्र पहला भाग है, जिनमें कर्त्तव्य-पञ्चक का विवरण दिया गया है अर्थात् उनमें पांच कर्त्तव्यों का विधान किया गया है, जिन को आचरण में लाने ही से कोई व्यक्ति ब्रह्म-विद्या में प्रवेश करने का अधिकार प्राप्त किया करता है। वे पांच कर्त्तव्य ये हैं–

(१) ईश्वर को प्रत्येक स्थान में मौजूद समझना।
(२) संसार की समस्त वस्तुओं को भोगते हुए यह भावना रखना कि वे सब वस्तुएँ ईश्वर की हैं। भोक्ता का इनमें केवल प्रयोगाधिकार है।
(३) किसी का धन या स्वत्व नहीं लेना।
(४) कर्त्तव्य समझ और फल की आकांक्षा से रहित होकर सदैव कर्म करना।
(५) अन्तरात्मा के विरुद्ध आचरण न करना।

दूसरा भाग–उपनिषद् का दूसरा भाग ४ से ८वें मन्त्र तक है, जिसमें व्रह्मविद्या का वर्णन है। और इन्हीं ५ मन्त्रों में ब्रह्मविद्यामूलक मुख्य सिद्धान्तों का वर्णन किया गया है।

तीसरा भाग–उपनिषद् का तीसरा भाग ९ से १३वें मन्त्र तक पूरा होता है। इसमें मनुष्य के कर्त्तव्य का विधान किया गया है कि किस प्रकार वह ब्रह्मविद्या को प्राप्त करे।

चौथा भाग–सत्रहवें मन्त्र में एक महत्त्वपूर्ण परीक्षा की बात कही गयी है और अन्तिम अट्ठारहवें मन्त्र में प्रभु से सफलता की प्रार्थना की गई है और इसी प्रार्थना के साथ उपनिषद् समाप्त हो जाती है। उपनिषत् के इस स्थूल विवरण से ही उपनिषद् की महत्ता प्रकट होती है। इतने थोड़े मन्त्रों में इतनी महत्त्वपूर्ण शिक्षाओं का

विधान ही वेद की महत्ता का द्योतक है। समय-समय पर अनेक विद्वानों ने इस उपनिषद् पर विचार किया और बहुतों ने उसकी टीकाएँ लिखीं और व्याख्याएँ भी की हैं। इनमें से प्राय: ४१ टीकाओं के देखने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ है। इनमें सब से पुरानी टीका संस्कृत में श्री शंकराचार्य की है। विधर्मियों में सब से पुराना अनुवाद शाहजादा दाराशिकोह का किया हुआ फारसी भाषा में है। इस निष्पक्ष शाहजादे की लिखी हुई भूमिका प्रकट करती है कि उसे शान्ति केवल उन्हीं उपनिषदों की शिक्षा से प्राप्त हुई थी। जर्मनी के प्रसिद्ध दार्शनिक शौपनहार ने अपनी जगत् प्रसिद्ध फिलासफी का आश्रय छोड़कर उपनिषदों ही को जीवन और अन्त दोनों कालों के लिए शान्तिदायक समझा था।[१] निष्कर्ष यह है कि इस प्रकार की कोई न कोई विशेषता अधिकांश टीकाओं में मिलती है। शंकराचार्य जी की टीका की विशेषता यह है कि उन्होंने उपनिषद् के मन्त्रों को अद्वैतपरक लगाया है। इसके विपरीत श्री रामानुजाचार्य उसे विशिष्टाद्वैतपरक और श्री माधवाचार्य उसे द्वैतपरक समझते हैं। वास्तव में उपनिषद् क्या है ? इसका उत्तर उपनिषद् के अक्षरार्थ से प्राप्त होता है। मैंने यद्यपि अनेक टीकाएँ देखीं, परन्तु अन्त में उन टीकाओं की विभिन्नता देखते हुए सिद्धान्त यही स्थिर किया कि उपनिषदों का भाव उसके ही अक्षरों से समझना चाहिए। इसमें किसी भी टीका का अनुकरण नहीं किया गया है। जो कुछ लिखा गया वह वही है, जो उपनिषद् के अक्षरों से समझा जा सकता है या कम से कम मैंने समझा है।

स्वाध्यायशील नर-नारी इन पृष्ठों को पढ़कर विश्वास है कि इसी परिणाम पर पहुंचेंगे। एक दूसरा कारण इन पृष्ठों के लिखने का यह भी था कि प्राय: ४-५ वर्ष से जब से मैंने उपनिषद् की कथाओं का प्रचार शुरू किया था, तब से कथा सुनने वाले तकाजा कर रहे

1. In the whole world there is no study so beneficial and so clevating as that of Upnishads. It has the solace of my life and it will be the solace of my death. (Schopenhaur)

थे कि उसी ढंग से जिससे मैं कथाएँ कहा करता हूँ उपनिषदों की टीका लिख दूं। यद्यपि यह समझ कर कि जब अनेक टीकाएँ पहले ही से मौजूद हैं, फिर क्यों कोई नवीन टीका और लिखी जाय। मैं बराबर टीका लिखने की बात टालता रहा।

अन्त में विवश होकर अध्यात्मविद्या के प्रेमियों की इच्छा के सामने सिर झुकाना ही पड़ा। मैं शायद और भी कुछ देर तक इस बात को टालता, परन्तु 'प्रभात' के सम्पादक प्रिय धर्मेन्द्रनाथ जी के तकाजों ने, कि 'प्रभात' के लिए अध्यात्म-विद्या के सम्बन्ध में कुछ न कुछ लिखना ही चाहिए। इस काम को पूरा करने के लिए बाधित किया और उन्हीं के 'प्रभात' में लिखे हुए लेखों का यह संग्रह है।

यदि इन पृष्ठों के स्वाध्याय से किन्हीं का कुछ भी मनोरंजन होगा तो उसका श्रेय धर्मेन्द्रनाथ जी को ही प्राप्त समझना चाहिए।

—नारायण स्वामी

॥ ओ३म् ॥

ईशोपनिषद्

ईशावास्यमिद ँ् सर्वं यत्किञ्च जगत्याञ्जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ॥ १ ॥
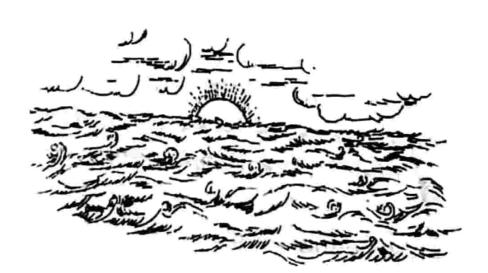
१. (इदं, सर्वम्) यह सब (यत्किञ्च) जो कुछ (जगत्याम्); पृथ्वी पर (जगत्) चराचर वस्तु है (ईशा) ईश्वर से (वास्यम्) आच्छादन करने योग्य अर्थात् आच्छादित है।

२. (तेन) उसी ईश्वर के (त्यक्तेन) दिये हुए पदार्थों से (भुञ्जीथाः) भोग कर।

३. (कस्यस्वित्) किसी के भी (धनम्) धन का (मा गृधः) लालच मत कर।

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छत ँ् समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥ २ ॥

४. (इह) यहाँ (कर्माणि) कर्मों को (कुर्वन्नेव) करता हुआ ही (शतं समाः) सौ वर्ष तक (जिजीविषेत्) जीने की इच्छा करे (एवम्) इस प्रकार (त्वयि) तुझ (नरे) मनुष्य में (कर्म) कर्म (न, लिप्यते) नहीं लिप्त होता है (इतः) इससे (अन्यथा) भिन्न और कोई मार्ग (न) नहीं है।

असुर्य्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥ ३ ॥

५. (ये के च) जो कोई (आत्महनः) आत्मा के घातक (आत्मा के विरुद्ध आचरण करने वाले) (जनाः) मनुष्य हैं (ते) वे (प्रेत्य) मर कर (अन्धेन तमसा) गहरे अन्धेरे से (आवृताः) आच्छादित हुए (ते असुर्य्याः नाम लोकाः) वे, प्रकाश-रहित नाम वाले जो लोक-योनियां हैं, (तान्) उन (योनियों) को (अभिगच्छन्ति) प्राप्त होते हैं।

व्याख्या

मनुष्य शक्ति का केन्द्र है। शक्ति उसी के भीतर निहित है। इन्हीं शक्तियों के विकास का नाम शिक्षा है। मनुष्य-जीवन की सफलता का भेद यही शक्तिविकास है। यही शक्ति विकसित होकर अभ्युदय और निःश्रेयस, लोक और परलोक की सिद्धि का कारण बनती है। शक्ति-विकास के कार्यक्रम का ही नाम अध्यात्म (योग)विद्या है। योग कर्म में कुशलता का नाम है, जैसा कि गीता में कहा गया है कि–'योगः कर्मसु कौशलम्'। महामुनि पतञ्जलि ने भी योग को क्रिया (कर्म) योग ही कहा है और उसके केवल तीन भाग किए हैं–"तप:स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि क्रियायोगः।' (योगदर्शन २/१) अर्थात् तप, स्वाध्याय और ईश्वर-भक्ति करने ही से योग की सिद्धियां प्राप्त होती हैं। सुतराम् क्रिया(कर्म) ही योग है। उस क्रिया को करने के लिए सब से पहला साधन तप है। तप व्रतानुष्ठान को कहते हैं। व्रत नाम कर्त्तव्य-प्रतिज्ञा का है। शक्ति के विकास के लिए जिस तप को करना, जिस व्रत का अनुष्ठान करना या जिस कर्त्तव्य का पालन करना है, उसी का नाम कर्त्तव्य-पञ्चक है अर्थात् क्रियात्मक जीवन बनाने के लिए जिस प्रकार के वातावरण (Atmosphere) के उत्पन्न करने की जरूरत है, वह उन पांच कर्त्तव्यों के पालन करने से उत्पन्न होता है, जिसका नाम कर्त्तव्य-पञ्चक है। यह उपनिषद् की आदिम शिक्षा है। इन्हीं कर्त्तव्यों के पालन करने से किसी भी व्यक्ति को वह अधिकार प्राप्त हुआ करता है, जिसका नाम अध्यात्म-विद्या में प्रवेशाधिकार है। इसलिए उपनिषदों की शिक्षा के वर्णन करने में पहला स्थान इसी कर्त्तव्य-पञ्चक को दिया गया है।

पहला कर्त्तव्य

पहली बात यह है कि मनुष्य उच्च प्रकार की आस्तिकता के भावों से अपने हृदय को भर ले। इसका साधन यह है कि मनुष्य ईश्वर को परिच्छिन्न (एकदेशीय) न मानकर उसे विभु व्यापक रूप में माने, अर्थात् जिस प्रकार प्रत्येक वस्तु आकाश में है और प्रत्येक

वस्तु के भीतर भी आकाश है, इसी प्रकार से ईश्वर भी जगत् में ओत-प्रोत हो रहा है। कोई वस्तु ऐसी नहीं है, जो ईश्वर में न हो और जिसमें ईश्वर न हो। इस सिद्धान्त के आचरण में आने से मनुष्य का हृदय लचकीला हो जाता है। हृदय के लचकीला होने के लिए दो बातों की जरूरत होती है। प्रथम वह निष्पाप हो, दूसरे उसमें प्रेम की मात्रा अधिकता से हो। ये दोनों बातें ईश्वर को उपर्युक्त भांति सर्वव्यापक मानने से मनुष्य में आया करती हैं।

मनुष्य पापाचरण के लिए सदैव एकान्त की खोज किया करता है। चोर इसलिए रात्रि को सफलता का साधन समझता है, क्योंकि उसमें एक प्रकार के एकान्त की अधिक सम्भावना होती है, जो ऐसे दुष्ट कर्मों के लिए आवश्यक है। परन्तु ईश्वर का विश्वास होने पर पापाचरण के लिए एकान्त स्थान मिल ही नहीं सकता। एक उर्दू कवि ने इसी भाव को अपनी एक कविता में इस प्रकार प्रकट किया है–

जाहिद[१] शराब पीने दे मस्जिद में बैठकर।
या वह जगह बता कि जहाँ पर खुदा न हो॥

अस्तु, जब तक मनुष्य के हृदय में नास्तिकता न आये तब तक वह पाप नहीं करता। इसलिए ईश्वर के सर्वव्यापकत्व पर विश्वास होने ही से मनुष्य निष्पाप हो सकता है। दूसरी बात प्रेम है। मनुष्य ईश्वर को सर्वव्यापक मानने से विवश है कि प्रत्येक प्राणी में ईश्वर की सत्ता, उसके व्यापकत्व गुण से, स्वीकार करे और जब इस प्रकार प्रत्येक प्राणी में–चाहे वह अछूत हो या और कोई उनसे भी निकृष्ट–ईश्वर का होना मानेगा, तब उससे घृणा किस प्रकार कर सकता है। घृणा का अभाव ही प्रेम का द्वार है।

घृणा भी नास्तिकता ही से उत्पन्न होती हैं। जिससे कोई घृणा करेगा, अवश्य उसमें ईश्वर की सत्ता का अभाव मानेगा। इसी का नाम तो नास्तिकता है। निष्कर्ष यह है कि निष्पापता और प्रेम से मनुष्यों के हृदयों में लचकीलापन (कठोरता का अभाव) आया

१ जाहिद–परहेजगार–शुद्धाचारी मनुष्य।

करता है, और इन दोनों साधनों की प्राप्ति ईश्वर के व्यापकत्व पर विश्वास होने ही से हुआ करती है। उपनिषद् ने इस शिक्षा को अपने शब्दों में इस प्रकार प्रकट किया है–"ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्याञ्जगत्।"

दूसरा कर्त्तव्य

उपनिषद् के संक्षिप्त से तीन शब्दों में दूसरा कर्त्तव्य वर्णन किया गया है। वे शब्द ये हैं–'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः' अर्थात् उस (ईश्वर) के दिये हुए से भोग करे। उपनिषदों ने प्रत्येक प्रकार के भोग की आज्ञा दी है। मनुष्य विवाह करके सन्तान उत्पन्न करे, शक्ति प्राप्त करके राज्य प्राप्त करे और उसका उपभोग करे, कृषि-व्यापार तथा अन्य कौशलादि से धन प्राप्त करके उसका इस्तेमाल करे इत्यादि। उपनिषद् इन सब को विहित बतलाती है परन्तु एक शर्त इन सब के भोग के साथ लगाती है और वह यह है कि मनुष्य इन प्राप्त भोग पदार्थों को ईश्वर का समझकर भोग करे। ऐसे विश्वास से मनुष्य प्रत्येक पदार्थ, राज्य, धनादि को ईश्वर का समझकर उनमें केवल अपना प्रयोगाधिकार समझेगा और ममत्व न जोड़ सकेगा कि 'अमुक पदार्थ मेरा है' संसार के समस्त दुःखों का मूल ममता है। दुःख प्रायः किसी न किसी वस्तु के पृथक् होने से हुआ करते हैं, परन्तु जब इन्हीं वस्तुओं को स्वयं छोड़ देता है, तब दुःख नहीं अपितु सुख हुआ करता है। एक प्रोफेसर को कालिज में अनेक वस्तुएं, पुस्तकें, चित्र, कुर्सी, मेज आदि-प्रयोग के लिए मिली हुई हैं। वह उनका कालिज के घण्टों में प्रयोग करता है। प्रयोग-काल (कालिज के घण्टों) के भीतर यदि कोई उससे इन वस्तुओं को लेना चाहता है तो नहीं देता, परन्तु जब कालिज का अन्तिम घण्टा बजा और इन वस्तुओं के प्रयोग का समय खत्म हुआ, तब स्वयम् इन वस्तुओं को कालिज में ही छोड़कर तने तनहा चल देता है। उस समय यदि कोई कहता है कि उन वस्तुओं में से वह किसी को अपने साथ लेता जाय तो वह उसे अपने ऊपर बोझ समझता है। प्रोफेसर ने जब इन वस्तुओं के सम्बन्ध में अपना केवल

प्रयोगाधिकार समझा, तब उसे इन वस्तुओं के छोड़ने में कुछ भी दुःख नहीं हुआ, परन्तु यदि वह इन वस्तुओं में ममता जोड़ लेता है कि 'वस्तुएं मेरी हैं' तब उसे इन वस्तुओं को छोड़ने में कष्ट अनुभव करना पड़ता है। अस्तु, मनुष्य में जब तक ममता का प्राबल्य रहता है, तब तक वह किसी वस्तु को छोड़ना नहीं चाहता। परन्तु जब उन वस्तुओं में वह अपना केवल प्रयोगाधिकार समझता है, तब प्रयोग-समय समाप्त होने पर स्वयम् उन्हें छोड़ दिया करता है। वस्तुओं के छीनने वाले चोर-डाकू, राजे-महाराजे हुआ ही करते हैं, परन्तु एक बड़ी प्रबल शक्ति है जो गिन-गिन कर एक-एक वस्तु प्राणियों से ले लिया करती है और कुछ भी नहीं छोड़ा करती। उस शक्ति का नाम है मृत्यु। मृत्यु आकर पदार्थों को छीनती है, परन्तु ममता के वशीभूत प्राणी उन्हें देना नहीं चाहता। इसी कलह का नाम मृत्युसंवेदना (मरने का दुःख) है। मृत्यु वास्तव में दुःखप्रद नहीं सुखप्रद है, परन्तु मरने के समय ये दुःख मनुष्यों को ममता के वश में होकर उठाने पड़ते हैं। जो मनुष्य सांसारिक भोग्य पदार्थों में अपना प्रयोगाधिकार समझता है वह इन्हें प्रयोग का समय (जीवन-काल=आयु) समाप्त होने पर छोड़ देता है और फिर उसके पास कुछ रहता ही नहीं, जिसे मृत्यु आकर अपहरण करे। इसलिए उसके लिए मृत्यु का समय दुःख का समय नहीं, अपितु सुख और शान्ति के साथ संसार छोड़ने का समय होता है, जिसमें उसे आशा और आशा ही नहीं, अपितु विश्वास होता है कि वह यह मात्रा चिरकालीन सुख और शान्ति की प्राप्ति करने के लिए कर रहा है। और ऐसे व्यक्ति मृत्यु से डरते नहीं, अपितु मृत्यु का स्वागत किया करते हैं और प्रसन्नता के साथ हंसते-हंसते संसार को छोड़ दिया करते हैं। मृत्यु के सम्बन्ध में यह सिद्धान्त दुनिया के सामने रखा जाता है कि वह दुःखप्रद नहीं, अपितु सुखप्रद है, तब मनुष्य उसे स्वीकार करने में हिचकिचाते हैं।

एक व्यक्ति कुष्ठ रोग से पीड़ित है और उसके शरीर से रक्त और मवाद निकला करता है, जिससे प्रत्येक क्षण उसे व्यथित रहना पड़ता है। इस पर तुर्रा यह कि वह जेलखाने में भी कैद है। किसी

प्रकार की स्वतन्त्रता न होने से उसका जीवन दुःख और केवल दुःखमय बन रहा है। परन्तु ऐसे व्यक्ति से जब यह पूछते हैं कि क्या भाई तुम इन सारी विपत्तियों से बचने के लिए मरना चाहते हो ? तो मरने का नाम सुनकर वह भी कानों पर हाथ धरता है। क्रियात्मक जगत् में मृत्यु का इतना भय मनुष्यों के हृदय में बैठा हुआ है, फिर वे मृत्यु को किस प्रकार सुखप्रद कह सकते हैं। यही कारण है, जिससे मनुष्य इस सिद्धान्त को स्वीकार करने में हिचर-मिचर करते हैं। परन्तु जैसा कि कहा गया है, यह दुःख मनुष्यों को तब होता है जब वे ममता से नाता जोड़ लेते हैं।

एक अत्यन्त रूपवान् पुरुष अपना मुंह जब हंसाने वाले शीशे (Ludicrous = Laughing glass) में देखता है, तो उसका अच्छा मुंह भी बहुत भोंड़ा और हंसने के योग्य दिखाई देता है तो इसमें मुंह का क्या दोष ? मुंह तो अच्छा खासा है। इसमें दोष असल में उस हास्यकारी शीशे ही का है। इसी प्रकार मृत्यु तो दुःखप्रद नहीं अपितु सुखप्रद ही है। परन्तु जब मनुष्य ममता के आयने को सामने रखकर उसमें उसे (मृत्यु को) देखता है, तब वह डरावनी और भयावनी प्रतीत होने लगती है। इससे स्पष्ट होता है कि दोष मृत्यु का नहीं, किन्तु उसी ममतारूपी हास्यकारी शीशे का है। यदि इस शीशे को हटा कर देखें तो फिर मृत्यु की प्यारी और असली सूरत दिखाई देने लगती है।

मृत्यु के प्रिय होने के सम्बन्ध में डॉक्टर ह्यग लौंसडेल हैंड्स (Dr. Hugh Lonsdale Hands) ने आत्मघात के द्वारा परीक्षण करके मृत्यु के प्रिय होने की पुष्टि की है। उसने अपनी डायरी में इस प्रकार लिखा है–

I have taken half an ounce of Aconite, an ounce of Chloral Hydrate. Both are nice except the tingling, waiting-feeling very happy—first time. I ever felt without worries as if free. +++ Japs are right-death is lovely. I feel fine no pain.

इसका भाव यह है कि विष खाने के बाद उसने लिखा–"मृत्यु प्रिय है" मैं अपने को अच्छा समझ रहा हूं। मुझे कोई तकलीफ नहीं है।"

सारांश यह है कि इस दूसरे कर्त्तव्य का पालन करने से मनुष्य मृत्यु के भय से स्वतन्त्र होता है। किन्हीं-किन्हीं पुरुषों को यह भ्रम है, या हो जाता है कि यदि मनुष्य सांसारिक पदार्थों–राज्यादि में ममता न जोड़े तो फिर उनकी रक्षा न कर सकेगा। परन्तु यह उनकी भूल है। मनुष्य उन वस्तुओं की भी वैसी ही रक्षा–उपर्युक्त प्रोफेसर की तरह किया करता है, जो उसे प्रयोग के लिए मिली हों, जैसी उनकी करता है जिनमें उस ने मेरेपन का नाता जोड़ा हुआ है। इसलिए लोकदृष्टि से भी यह नियम वैसा ही उपयोगी है जैसा परलोक दृष्टि से, मनुष्य मृत्यु के भय से स्वतन्त्र होकर संसार में कौन सा बड़े से बड़ा काम है, जिसे नहीं कर सकता।

तीसरा कर्त्तव्य

बिना शान्ति का वातावरण उत्पन्न किये संसार का कोई भी काम पूरा नहीं होता, फिर अध्यात्म-विद्या का तो कहना ही क्या, उसे तो कोई अशान्ति में या अशान्त-चित्त होकर प्राप्त ही नहीं कर सकता। अशान्ति का मूल कारण किसी व्यक्ति या जाति का स्वत्व अपहरण ही हुआ करता है।

दुनिया में भिन्न-भिन्न जातियों में जितने भी युद्ध हुआ करते हैं, उनका मुख्य कारण यही होता है कि किसी जाति का स्वत्व छीना गया या उसकी स्वतन्त्रता में बाधा पहुंचाई गई हो। यही कारण व्यक्ति-व्यक्ति के झगड़ों की तह में छिपा हुआ मिलता है। इसलिए 'कारणाभावात्कार्य्याभावः' के नियमानुसार उपनिषदों ने तीसरा कर्त्तव्य यह ठहराया है कि 'मा गृधः कस्यस्विद्धनम्' अर्थात् किसी के धन या स्वत्व को लेने की चेष्टा मत करो। न किसी का धन लिया जायेगा, न किसी का स्वत्व छीना जायेगा, न किसी की स्वतन्त्रता में बाधा पहुंचाई जायेगी और न उनकी सन्तति, अशान्ति का जन्म होगा।

चौथा कर्त्तव्य

उपनिषद् ने चौथा कर्त्तव्य इन शब्दों में बतलाया है कि कर्म करते हुए मनुष्य १०० वर्ष तक जीने की इच्छा करें। परन्तु शर्त यह है कि कर्म इस प्रकार करने चाहियें, कि वे करने वाले को लिप्त न करें, अर्थात् मनुष्य उनमें फंस न जाये। उपनिषद् ने खुले शब्दों में यह भी कह दिया कि मनुष्य को जीवित रहने के लिए इस (कर्मयोग) के सिवाय कोई दूसरा मार्ग नहीं है।

यह कर्त्तव्य दो भागों में विभक्त है–(१) मनुष्य को निरन्तर कर्म करने का अभ्यास होना चाहिए, (२) वे कर्म कर्त्ता को फंसाने वाले न हों।

पहले भाग पर दृष्टिपात करने से प्रकट होता है कि कर्म सृष्टि का सार्वतन्त्रिक नियम है। जगत् में कोई वस्तु ऐसी दिखाई नहीं देती कि जो क्रिया-रहित हो। सृष्टि का महान् से महान् कार्य सूर्य-प्रतिक्षण गति में रहता है। पृथ्वी गतिमय है, चन्द्रमा चलता है। यदि छोटी से छोटी वस्तु एक कण (Atom) को लें और देखें तो एक बड़ा चमत्कार दिखाई देता है। उस कण के भीतर एक केन्द्र है और उसके चारों ओर असंख्य विद्युत्कण (Electrons) उसी प्रकार घूमते दिखाई देते हैं, जिस प्रकार अनेक ग्रह और उपग्रह सूर्य के चारों ओर घूमते हैं। इसी प्रकार ब्रह्माण्ड का एक-एक कण भी सूर्य-मण्डल (Solar System) का संक्षिप्त रूप है। क्या यह कण जिसके भीतर इतना कार्य हो रहा हो, ठहरा हुआ या निष्क्रिय है ? विज्ञान का उत्तर यह है कि कदापि नहीं। यह पुस्तक जो सामने मेज पर रखी है क्या ठहरी हुई है ? कदापि नहीं। पुस्तक के पृष्ठ जिन कणों से बने हैं, उनमें से प्रत्येक कण में कम्पन (Vibration) पाया जाता है। यदि कम्पन न हो तो कोई वस्तु, वस्तुरूप में बाकी न रहे। इससे स्पष्ट है कि जगत् की छोटी से छोटी वस्तु कण है, जिसके भीतर गति हो ही रही है, और जो स्वयं भी सूर्य-मण्डल की तरह गति में है। जब कर्म का साम्राज्य जगद्व्यापी है, तो मनुष्य उससे किस प्रकार बच सकता है ? इसलिए मनुष्य को भी कर्मनिष्ठ होना

चाहिए। उपनिषद् का उपर्युक्त वाक्य जीवन की अन्तिम घड़ी तक कर्म करने का विधायक है। संन्यास, कर्म के त्याग को अवश्य कहते हैं, परन्तु कर्म से प्रयोजन काम्य (सकाम) कर्म यज्ञादि से है, और उन्हीं का त्याग संन्यास है, निष्काम कर्म तो कभी भी नहीं छोड़े जा सकते।

कर्त्तव्य का दूसरा भाग यह है कि मनुष्य कर्म में लिप्त न हो। कर्त्तव्य के इस भाग को समझने के लिए आवश्यक है कि यह समझ लिया जाये कि कर्म दो प्रकार के हैं–(१) सकाम और (२) निष्काम। सकाम कर्म, फल की इच्छा रख कर करने का नाम है, जब कि निष्काम कर्म फल की इच्छा त्याग कर, कर्म (कर्त्तव्य) समझकर, कर्म करने को कहते हैं। इन दोनों में अन्तर यह है कि सकाम कर्म से वह वासना उत्पन्न होती है जो फिर उसी प्रकार के कर्म की प्रेरणा भीतर से करती रहती है। योगदर्शन का भाष्य करते हुए व्यासमुनि ने एक संसारचक्र की बात कही है। यह चक्र ६ अरे वाला है। वे अरे ये हैं–मनुष्य इच्छा करता है उसका फल उसे सुख मिलता है, उससे सुख की वासना बनती है। वह फिर उसी प्रकार की इच्छा कराती है। उनसे फिर सुख और फिर वही वासना, फिर वही इच्छा। इस प्रकार (१) इच्छा (२) उसका फल, सुख, (३) सुख की वासना, ये चक्र के तीन अरे हैं, जो बराबर उपर्युक्त भांति घूमा करते हैं। बाकी तीन अरे (१) द्वेष, (२) उसका फल, दु:ख, (३) दु:ख की वासना है। वे भी पहले तीन अरों की भांति घूमा करते हैं। यही छ: अरों वाला संसार-चक्र है, जो संसारी पुरुषों को चक्र में रखता है। इसी चक्र में रहने का नाम कर्म में मनुष्य का या कर्म का मनुष्य में लिप्त होना है। उपनिषद् मनुष्यों का कर्त्तव्य ठहराती है कि कर्म करते हुए भी इस चक्र में न फंसे। फंसे हुए प्राणी इस चक्र से किस प्रकार निकल सकते हैं ? उसका उपाय और एकमात्र उपाय सकामता का निष्कामता में परिवर्तन करना है। इस परिवर्तन से प्रभावित मनुष्य निष्काम कर्म करके वासनाओं का नाश करता है। उनके न रहने से सब सुख-दु:ख भी पृथक् हो जाते हैं और सुख-दु:ख के न रहने से उनकी वासनाएँ भी नहीं बन सकतीं

और इस प्रचार चक्र के छहों अरे निकम्मे होकर चक्र टूट जाता है और मनुष्य उससे निकल आता है। यही चौथा कर्त्तव्य है, जिसके पालन किये बिना व्यक्ति अध्यात्म-जगत् में प्रवेश का अधिकारी नहीं बन सकता।

पाँचवाँ कर्त्तव्य

उपनिषद् में पाँचवें कर्त्तव्य का विधान इस प्रकार किया गया है–

आत्म-हनन (आत्मा के विपरीत काम) करने वाले मरकर असुर्य (प्रकाश-रहित) और तम से आच्छादित योनियों को प्राप्त होते हैं।

मन्त्र में आत्म-हनन अर्थात् आत्मा के प्रतिकूल कार्य को निषिद्ध ठहराया गया है। आत्मा के प्रतिकूल कार्य नहीं करना चाहिए, इस पर विचार करना है। आत्मा-स्वरूप से शुद्ध और पवित्र है, किसी प्रकार के ईर्ष्या-द्वेषादि दोषों से लिप्त नहीं। इसलिए आत्म-प्रेरणा भी, जिसको अन्तःकरण के अनुकूल कार्य करना [कन्शन्स (Conscience)] कहते हैं, इन दोनों से मुक्त होती है। इसलिए धर्मशास्त्रकार मनु ने भी इसी आत्म-प्रेरणा को 'स्वस्य च प्रियमात्मनः' कह कर धर्म का अन्तिम साधन बतलाया है।

चरित्र-निर्माण करने का मुख्य साधन भी यही आत्म-प्रेरणा है। चरित्रवान् हुए बिना, मनुष्य अध्यात्म-जगत् में प्रवेश नहीं कर सकता। इसलिए उपनिषद् में इस बात पर विचार करते हुए कि कौन-कौन मनुष्य आत्मज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते, उसकी गणना में सब से पहला नाम चरित्रहीनों का लिया है–'**नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।**' (कठोपनिषद् १/२/२४)। आत्म-प्रेरणा से किस प्रकार चरित्र निर्मित होता है इसके लिए किसी विशेष व्याख्या की जरूरत नहीं है। चरित्र को ही सदभ्यास भी कहते हैं। अभ्यास एक ही कर्त्तव्य को अनेक बार कार्य-परिणत करने से बना करता है। मनुष्य जब कोई अच्छा या बुरा काम करना चाहता है तो अच्छा काम करने में आत्म-प्रेरणा से उसको उत्साह

और प्रसन्नता उत्पन्न होती है परन्तु जब बुरा काम करने का विचार करता है तो उसके सम्मुख भीतर से भय, लज्जा और शंका के रूप में अनुत्साह और अप्रसन्नता पैदा होती है। पहली सूरत में किसी अच्छे कर्म को अनेक बार करके प्राणी उसके करने का अभ्यास (आदत) बना लेता है और फिर उस काम को वह इच्छा से नहीं किन्तु अभ्यासवश किया करता है। इसी का नाम सदभ्यास या चरित्र है। इसी प्रकार जब कुसंगति में पड़कर कुसंग-दोष से आत्मप्रेरणा के विरुद्ध मनुष्य कोई बुरा काम अनेक बार कर लेता है, तो उसके असदभ्यास बनता है और इससे वह उस बुराई को भी बिना इच्छा के-किन्हीं सूरतों में इच्छा के विरुद्ध भी-अभ्यासवश करने लगता है। कल्पना करो कि एक मनुष्य ने अफयून खाने का बुरा अभ्यास बना लिया है। अब जब दूसरे मनुष्य उसको इस दुष्कर्म की दुष्कर्मता बतलाते हैं तो वह उन्हें स्वीकार कर लेता है, परन्तु जब कहते हैं कि फिर उसे छोड़ क्यों नहीं देते, तब वह अपनी विवशता प्रकट करते हुए कह देता है कि क्या करूं ? आदत से लाचार हूँ।

इस प्रकार विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि आत्मप्रेरणा से सदभ्यास या चरित्र बना करता है और उसके विरुद्ध आचरण करने से असदभ्यास या दुश्चरित्र। हमने देख लिया कि आत्मा के अनुकूल ही कार्य करके हम चरित्र-निर्माण करते हुए आत्म-जग में प्रवेशाधिकार प्राप्त कर सकते हैं। पश्चिमी विद्वानों ने भी उपनिषद् की सच्चाई के सामने सिर झुकाया है। इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध विद्वान् मारले ने एक पुस्तक लिखी है, जिस का नाम है 'राजीनामा' (Compromise)। पुस्तक में इस बात पर विचार किया गया है कि किन सूरतों में राजीनामा हो सकता है ? उसने सम्मति के तीन दर्जे किये हैं-

(१) सम्मति का स्थिर करना। (Formation of opinion)

(२) सम्मति का प्रकट करना। (Expression of opinion)

(३) सम्मति का कार्य में परिणत करना। (Execution of opinion)

इस प्रकार से सम्मति के तीन दर्जे करते हुए मारले ने लिखा है कि सम्मति के स्थिर करने में कोई राजीनामा नहीं हो सकता। हाँ, कुछ थोड़ा सा राजीनामा सम्मति के प्रकट करने (संख्या २) में हो सकता है और वह केवल इतना कि जिस सम्मति के प्रकट करने से दुष्परिणामों के निकलने की सम्भावना हो उस सम्मति को प्रकट न किया जाय। यह वही बात है जिसे मनु ने "न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्" के द्वारा प्रकट किया है। मारले की सम्मति में पूरा-पूरा राजीनामा सम्मति के कार्य में लाने (संख्या ३) में हो सकता है, अर्थात् अल्पपक्ष की सम्मति की उपेक्षा करके बहुपक्ष के मतानुकूल कार्य किया जाय।' परन्तु उसकी यह स्थिर सम्मति है कि सम्मति के स्थिर करने (संख्या १) में किसी दशा में कोई भी राजीनामा नहीं हो सकता। सम्मति का स्थिर करना क्या है? आत्म-प्रेरणानुकूल किसी विचार का स्थिर करना। अतः यह स्पष्ट है कि मारले ने भी आत्म-प्रेरणा के विरुद्धाचरण का विधान नहीं किया है। कर्त्तव्य-पञ्चक में से यह पाँचवाँ कर्त्तव्य है–"आत्मा के अनुकूल कार्य करना।"

इस प्रकार उपनिषदों ने सब से पहली बात आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिए यही बतलाई है कि मनुष्य इन पाँचों कर्त्तव्यों को समझकर इन पर आचरण करे। वे पाँचों कर्त्तव्य ये हैं, एक बार फिर उन्हें हम यहाँ दोहरा देते हैं–

(१) सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में ईश्वर का सर्वव्यापक मानना।
(२) जगत् के भोग्य पदार्थों में ममता को छोड़कर अपना प्रयोगाधिकार समझना।
(३) किसी की वस्तु या स्वत्व का अपहरण न करना।
(४) सदैव कर्म करना, उन्हें निष्कामता को लक्ष्य में रखकर धर्म या कर्त्तव्य समझ कर करना।
(५) आत्मा के अनुकूल मन, वाणी और शरीर से आचरण करना।

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत्।
तद्धावतोऽन्यान् अत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥ ४ ॥

भावार्थ–वह (ब्रह्म) (अनेजत्) अचल, एकरस (एकम्) एक, (मनसो जवीयः) मन से अधिक वेगवाला है क्योंकि सब जगह पूर्वम् पहले से (अर्षत्) पहुंचा हुआ है। (एनम्) उस ब्रह्म को (देवाः) इन्द्रियां (न आप्नुवन्) नहीं प्राप्त होतीं, अर्थात् वह इन्द्रियों से, उन (इन्द्रियों) का विषय न होने के कारण, प्राप्त नहीं होता। (तत्) वह (तिष्ठत्) अचल होने पर भी (धावतः) दौड़ते हुए (अन्यान्) अन्यों को (अत्येति) उल्लंघन किये हुए है (तस्मिन्) उस ब्रह्म के भीतर (मातरिश्वा) वायु (अपः) जलों को (मेघादि के रूप में) (दधाति) धारण करता है।

तदेजति तन्नैजति तद् दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥५॥

भावार्थ–(तत्) वह ब्रह्म (एजति) गति देता है। (तत्) परन्तु स्वयं (न एजति) गति में नहीं आता (तत्) वह (दूरे) दूर है, (तत् उ, अन्तिके) वह समीप भी है। (तत्) वह (अस्य, सर्वस्य, अन्तः, बाह्यतः) इस सब के अन्दर और बाहर भी है।

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥६॥

भावार्थ–(यः तु) जो कोई (सर्वाणि) सम्पूर्ण (भूतानि) चराचर जगत् को (आत्मनि एव) परमेश्वर ही में (अनुपश्यति) देखता है (च) और (सर्वभूतेषु) सम्पूर्ण चराचर जगत् में (आत्मानम्) परमेश्वर को देखता है। (ततः) इससे वह (न विजुगुप्सते) निन्दित नहीं होता।

यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥७॥

भावार्थ–(यस्मिन्) जिस अवस्था में (विजानतः) विशेष ज्ञान प्राप्त योगी की दृष्टि में (सर्वाणि भूतानि) सम्पूर्ण चराचर जगत् (आत्मा एव) परमात्मा ही (अभूत्) हो जाता है (तत्र) उस अवस्था में ऐसे (एकत्वम्, अनुपश्यतः) एकत्व देखने वाले को (कः मोहः) कहाँ मोह (कः शोकः) और कहाँ शोक ?

स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥८॥

भावार्थ–(सः) वह ईश्वर (परि, अगात्) सर्वत्र व्यापक है (शुक्रम्) जगदुत्पादक, (अकायम्) शरीररहित, (अव्रणम्) शारीरिक विकाररहित, (अस्नाविरम्) नाड़ी और नस के बन्धन से रहित, (शुद्धम्) पवित्र, (अपापविद्धम्) पाप से रहित (कविः) सूक्ष्मदर्शी (मनीषी) ज्ञानी, (परिभूः) सर्वोपरि, वर्त्तमान (स्वयम्भूः) स्वयंसिद्ध (शाश्वतीभ्यः) अनादि (समाभ्यः) प्रजा (जीव) के लिए (याथातथ्यतः) ठीक-ठीक (अर्थान्) कर्म-फल का (व्यदधात्) विधान करता है।

व्याख्या

कर्त्तव्य-पञ्चक का विवरण दिया जा चुका है। उस विवरण में कहा गया था कि इन पाँच कर्त्तव्यों के पालन करने से मनुष्य ब्रह्म-विद्या में प्रवेशाधिकार प्राप्त कर लेता है। अब प्रश्न यह है कि वह ब्रह्म-विद्या क्या है ? जिसमें प्रवेश की इच्छा कम से कम आस्तिक जगत् को रहती है। जिस विद्या में ब्रह्म का वर्णन हो वह ब्रह्म-विद्या कही जाती है। ब्रह्म का वर्णन उसके गुणों द्वारा होता है और उसके गुण वर्णनातीत हैं। फिर उसके समस्त गुणों का ज्ञान किस प्रकार हो सकता है ? यह प्रश्न है, जो सदैव ब्रह्म-विद्या के विद्यार्थी को चक्कर में डाल देता है। परन्तु उपनिषदों में इसका अच्छा खासा समाधान मिलता है। जब हम कहते हैं कि हम ब्रह्म-विद्या को प्राप्त करना चाहते हैं तो विचारणीय यह है कि इस विद्या के प्राप्त करने से हमारा उद्देश्य क्या है ? हमारा उद्देश्य कदापि यह नहीं हो सकता कि हम ब्रह्म की नाप-तोल करना चाहते हैं अपितु एकमात्र उद्देश्य यह होता है और हो सकता है कि हम अपनी उन्नति करें और उन्नति की चरम सीमा यह हो कि ब्रह्म को प्राप्त कर लें। बस, इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए जिन साधनों की अपेक्षा है उनको प्राप्त करना चाहिए। यदि ब्रह्म के केवल १० गुणों के जानने से हमारा उद्देश्य पूरा हो सकता

है, तो ग्यारहवें गुण के जानने के लिए श्रम करना अनावश्यक है। इसलिए उपनिषदों ने ब्रह्म के केवल उन्हीं गुणों के जान लेने की शिक्षा दी है, जो मनुष्य को उन्नति-पथ पर पहुँचा देने के लिए पर्याप्त हैं।

सब से पहली शिक्षा ब्रह्म के विषय में यह है कि तुम उसे व्यक्ति रूप में न मानकर समष्टि रूप में मानो, अर्थात् वह विभु है, परिच्छिन्न नहीं, सर्वदेशी है, एकदेशी नहीं। इस बात का मनवाना उपनिषद् ने इतना अधिक आवश्यक समझा है कि इसको अनेक रीति से वर्णन किया है। हम उसका यहाँ थोड़ा सा विवरण देते हैं–

उपनिषद् ने बतलाया है कि तुम उसे "अनेजत्" (एकरस) समझो। विचार करके देख लो कि एकरस सदैव सर्वदेशी ब्रह्म ही हो सकता है। फिर उपनिषद् ने इसी भाव को प्रदर्शित करने के लिए ब्रह्म के निम्न गुणों का वर्णन किया है–

१. वह मन से भी अधिक वेग वाला है, क्योंकि वह प्रत्येक जगह "पूर्वमर्षत्" पहले से ही पहुँचा हुआ रहता है। इसलिए सर्वदेशी है।

२. इन्द्रियों से प्राप्त नहीं हो सकता, क्योंकि इन्द्रियाँ एकदेशी वस्तु का ही ज्ञान कर सकती हैं।

३. उसी ब्रह्म के अन्तर्गत वायु जलों को बादल के रूप में धारण किये हुए रहता है। जगत् का कोई भाग ऐसा नहीं है जहाँ वायु न हो। जहाँ कहीं स्पष्ट रूप से वायु नहीं होता, वहाँ आकाश (Ether) होता है। इस प्रकार से जगद्व्यापी वायु उसी ब्रह्म के अन्तर्गत अपना कार्य करता है।

४. वह गति देता है, परन्तु स्वयं गति में नहीं आता। ब्रह्म का सृष्टि-कर्त्तव्य केवल इतने ही से प्रारम्भ होकर पूर्णता प्राप्त कर लेता है कि वह उस समय जब प्रलय के बाद जगत् उत्पन्न होता है और प्रकृति विकृति होना चाहती है, इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वह शान्त और स्तब्ध प्रकृति में एक गति का संचार करता है, जिससे प्रकृति की शान्ति और स्तब्धता भंग होकर क्रमशः सूक्ष्म और स्थूल भूतों की उत्पत्ति होकर, प्रलय, सृष्टि रूप में परिवर्तित हो जाती है। इसी गति को विज्ञान में गति-शक्ति (Energy) नाम दिया गया है।

पञ्चभूत, प्रकृति और ब्रह्मप्रदत्त गति के लिए संघात का नाम है "Matter Combined with Energy"। यहाँ एक शंका उत्पन्न हुआ करती है कि गति के गतिदाता से पृथक् कुछ आकाश (Space) होना चाहिए तभी तो वह गति दे सकता है। परन्तु बात ऐसी नहीं है। ब्रह्म को उस गति के देने के लिए किसी प्रकार की हरकत करने की कोई जरूरत नहीं होती, और न उसमें हरकत होती है, क्योंकि वह एकदेशी नहीं, सर्वदेशी है यह गति जो प्रकृति में एक आलमगीर हलचल पैदा कर देती है, ब्रह्म के केवल ईक्षण (प्राप्त वस्तु को कार्य में लगाने की इच्छा) मात्र से, बिना किसी हरकत के, उत्पन्न हो जाती है। पश्चिमी वैज्ञानिक भी इच्छा से गति होने के सिद्धान्त को "Will proceeds motion" कहकर समर्थन करते हैं। अतः स्पष्ट है कि ब्रह्म इस प्रकार की गति का दाता होने पर भी स्वयं गति में नहीं आता। यूनान के प्रसिद्ध दार्शनिक अरस्तू[१] ने भी उपनिषत् के इस सिद्धान्त की पुष्टि की है। अरस्तू ने आमतौर से ईश्वर को unmoved mover कहा है।

५. वही दूर है वही समीप है, वही सब के भीतर और वही सब के बाहर है अर्थात् सब जगह है।

६. जो मनुष्य सम्पूर्ण भूतों, चराचर जगत् को उस ब्रह्म के अन्दर और ब्रह्म को उन सम्पूर्ण भूतों के अन्दर देखता है वह घृणारहित हो जाता है। इसी का नाम विश्व-प्रेम है जो उपनिषद् की पहली ही शिक्षा के अन्तर्गत है और जिसे ब्रह्म-विद्या का पहला ही पाठ कहना चाहिए। जब ब्रह्म प्रत्येक प्राणी के अन्तर्गत है तब प्रंत्येक प्राणी के शरीर ईश्वर के मन्दिर ही हुए और इसलिए सब को प्रत्येक प्राणी से प्रेम करना पड़ता है और इसलिए वह सब के प्रति घृणारहित हो जाता है।

७. यह ब्रह्म सर्वत्र पहुँचा हुआ है और शरीररहित फोड़े-फुंसी के विकारों से पाक (रहित) और नाड़ी-नस के बन्धन से पृथक् और सर्वव्यापक है।

---

1. *God is merely the source of movement, the First mover* (आदिकारण) *Who himself is never moved.*

(The AGE of Aristotle p. 46)

इस प्रकार हमने देख लिया कि नौ प्रकार से वर्णन करके उपनिषद् ने इस शिक्षा को अधिक से अधिक स्पष्ट किया है–

१. ब्रह्म सर्वदेशी है, यह ब्रह्म का पहला गुण है, जो ब्रह्म-विद्या के विद्यार्थी के हृदय में सब से पहले अंकित हो जाना चाहिए। बिना इस को समझे, बिना इस पर श्रद्धा और विश्वास किये, हम ब्रह्म-विद्या के स्वच्छ और उन्नत पथ की ओर कदम भी नहीं बढ़ा सकते।

२. ब्रह्म का दूसरा गुण एकत्व है, अर्थात् ब्रह्म एक ही है। दूसरा, तीसरा, चौथा आदि नहीं, इस का उपासक को दृढ़ विश्वास होना चाहिए।

३. ब्रह्म का तीसरा गुण 'शुक्रम्' अर्थात् जगत् का आदिमूल कारण होना है।

४. चौथा 'शुद्धम्' गुण है, अर्थात् ब्रह्म की शुद्धता को लक्ष्य में रखते हुए ब्रह्म की समीपता प्राप्त करने के लिए उपासक को जल से शरीर, सत्य से मन, विद्या और तप से आत्मा और निर्मल ज्ञान से बुद्धि को शुद्ध करना चाहिए, तभी वह ब्रह्म-विद्या का विद्यार्थी बन सकता है।

५. पाँचवाँ गुण 'अपापविद्धम्' है। मनुष्य को भी निष्पाप बनने के लिए पाप के मूल विपरीत-मिथ्या-ज्ञान का बहिष्कार करना चाहिए।

६. 'कवि' छठा गुण ब्रह्म का है। कवि, क्रान्तदर्शी, सर्वद्रष्टा तथा सर्वज्ञ को कहते हैं।

७. 'मनीषी' ब्रह्म का सातवां गुण है, जो ब्रह्म के पूर्ण ज्ञानी होने की घोषणा करता है।

८. 'स्वयम्भू' गुण प्रकट करता है कि ब्रह्म अपनी सत्ता से आप स्थिर (कायमबिल्जात) है, कि किसी का मुंहताज नहीं।

९. 'फलदाता' गुण अर्थात् ब्रह्म अपनी अनादि प्रजा जीव के कर्मों के फलों का 'याथातथ्यत:' ठीक-ठीक विधान किया करता है। कर्म का फल न्यून या अधिक नहीं हो सकता।

'बस उपनिषदों ने मनुष्यों के लिए इन्हीं नौ गुणों का ज्ञान लेना और उन को अपने अन्तःकरण में धारण कर लेना अन्तिम उद्देश्य की प्राप्ति तक के लिए, पर्याप्त बतलाया है। ब्रह्म को हम किस प्रकार अपने हृदय में धारण करें अथवा यों कहिये कि हम किस प्रकार अपने आत्मा को उन्नत करें, इस के लिए उपासक को इन गुणों का मानसिक जप करना होगा। केवल मुँह से किसी शब्द का रटना जप नहीं है, किन्तु हृदय से उस शब्द के अर्थ का चिन्तन, जप का उत्तरार्द्ध और जप का मुख्य और आवश्यक अंग है।[१] आत्मा की उन्नति या ब्रह्म की प्राप्ति के उद्योग का आरम्भ इसी जप से होता है। इस जप से उपासक का आत्मा ईश्वरीय गुणों से भासित होता है और उसमें गुण-वृद्धि हुआ करती है। इसी को उपासना का पहला अंग भी कहते हैं। उपासना का दूसरा और अन्तिम अंग ब्रह्म को हृदय में धारण कर लेना है। पहले अंग में जहाँ वाचक (शब्द) को समझते हुए हृदय में रखा जाता है, दूसरे अंग में हृदय को वाच्य (अर्थ) का मन्दिर बनाना पड़ता है, अर्थात् वाच्यों को हृदय (आत्मा) में रखा जाता है। ब्रह्मविद्या के पहले अंग की प्राप्ति के उद्योग का सूत्रपात सन्ध्या से किया जाता है और दूसरे अंग की पूर्ति अष्टांगयोग के अन्तिम अंगों से होती है, सन्ध्या को भी सन्ध्यायोग इसीलिए कहते हैं। सन्ध्या के उपासकों को भी निम्न योग्यता प्राप्त कर लेनी चाहिए–

१. शारीरिक उन्नति अर्थात् समस्त इन्द्रियाँ बलवान्, पवित्र और यशवाली होनी चाहिए।
२. मानसिक उन्नति अर्थात् हृदय द्वेष से रहित होना चाहिए और प्राणायामादि के द्वारा उसमें प्रत्याहार की प्राप्ति की योग्यता उत्पन्न हो जानी चाहिए।
३. आत्मिक उन्नति, इसके लिए उपासना के प्रथम अंग, वाचक (शब्द) की हृदय में धारण करने का अभ्यास करना चाहिए।

इतना कार्य सन्ध्या से हुआ करता है और इसी के लिए सन्ध्या की जाती है और करनी चाहिए। वाचक (शब्द) के हृदय में धारण करने

१. तज्जपस्तदर्थभावनम्। (योगदर्शन)

का फल यह होता है कि मनुष्य का हृदय ईश्वरीय गुणों के आलोक से आलोकित हो उठता है और विश्व प्रेम का आभास होने लगता है। जप अत्यन्त आवश्यक वस्तु है। इस से स्मृति का भी विकास होता है। योग के इस सिद्धान्त को पश्चिम के विद्वान् भी स्वीकार करते हैं। इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध राजनैतिक ग्लैडस्टोन के लिए कहा जाता है कि उसने सम्पूर्ण होमरकृत इलियट को रट रखा था। जहाँ से कोई चाहे वह सुना सकता था, इसी से उस की स्मृति बहुत उच्च कोटि की थी। परन्तु जप का अर्थ केवल Cat (बिल्ली) और Dog (कुत्ता) के अर्थ का रटना नहीं है। वह जप, जिस का ऊपर विधान किया गया है, चित्त के उन्नत करने का साधन और मुख्य साधन है।

ब्रह्म को किस प्रकार उपासक (योगी) हृदय में धारण कर सकता है ? यह बात है जो ब्रह्म-विद्या का अन्तिम पाठ है और यह पाठ उपनिषद् ने इस प्रकार दिया है कि–

"जिस अवस्था में समस्त चराचर जगत् को योगी परमेश्वर हुआ ही जानने लगता है, तब ऐसे एकत्व को देखने वाला (योगी) मोह और शोक से छूट जाता है।"

उपनिषद्-वाक्य एक अवस्था-विशेष का संकेत करता है। वह अवस्था-कौन सी है ? यही प्रश्न है, जिस पर विचार करना है। योग के अंगों में प्राणायाम के पश्चात् पाँचवें अंग से शरीर के भीतर इष्ट परिवर्तनों के करने का विधान है, मनुष्य की शक्ति अन्तः और बाह्य करणों में साधारणतया फैली हुई रहती है और इसलिए योगी के सिवाय कोई मनुष्य अपनी पूर्ण शक्ति को किसी काम में नहीं लगा सकता। जब योगी अपनी समस्त शक्तियों को भीतर एकत्रित करना चाहता है तब यह उद्देश्य प्रत्याहार के अभ्यासों द्वारा पूरा किया जाता है। प्रत्याहार समस्त शक्ति को केन्द्रित करने की कार्य-प्रणाली ही का नाम है। उस समस्त (प्रत्याहार द्वारा) एकत्रित शक्ति को किसी एक लक्ष्य पर लगा देने का नाम धारणा है और उसी एकत्रित शक्ति को किसी एक स्थान पर न लगाकर आत्मा में लगा देने का नाम ध्यान है, और इसी की उच्चावस्था को समाधि कहते हैं। इस प्रकार समस्त शक्ति को आत्मा में लगा देने को ध्यान कहा गया है, परन्तु

योगी आत्मा में शक्तियों को लगाने का कोई साक्षात् यत्न नहीं कर सकता। हाँ, इस कार्य की पूर्ति असाक्षात् यत्नों से हुआ करती है अर्थात् कोई भी अपनी शक्तियों को साक्षात् यत्नों से आत्मा के अन्दर लगा नहीं सकता, परन्तु विशेष अवस्था के उत्पन्न कर लेने से वह शक्ति स्वयमेव आत्मा में लग जाया करती है। उसी असाक्षात् यत्न का नाम ध्यान है, ध्यान के समझने में आमतौर से गलती की जाया करती है, निराकार ईश्वर के ध्यान की बात आते ही लोग कहने लगते हैं कि जिस की कोई शक्ल नहीं, सूरत नहीं, रूप नहीं, भला किस प्रकार कोई उसका ध्यान कर सकता है ? ऐसे पुरुषों के मतानुसार ध्यान किसी बाह्य रूप-रंग वाली वस्तु को भीतर हृदय में लाने का नाम है परन्तु बात सर्वथा इसके विपरीत है। ध्यान बाहर से किसी वस्तु को भीतर लाने को नहीं कहते किन्तु भीतर (हृदय में) जो कुछ भी हो उस सब को निकाल कर बाहर फेंक देने का नाम ध्यान है; इसलिए सांख्य के आचार्य कपिल ने कहा है–

"ध्यानं निर्विषयं मनः।"

अर्थात् सांख्य की परिभाषानुसार ध्यान मन को निर्विषय करने को कहते हैं। मन को निर्विषय करने का अर्थ यह है कि मन का इन्द्रियों से काम लेना, जिससे जाग्रतावस्था बना करती है, छूट जाय तथा मन का अपने, भीतर काम करना भी जिससे स्वप्नावस्था निर्मित होती है बन्द हो जाये।

इसका तात्पर्य यह है कि जाग्रतावस्था ही में योगी अपनी वह अवस्था बना ले जो सुषुप्ति में हुआ करती है और जिस में मन पूर्ण रीति से निष्क्रिय (निर्विषय) हुआ करता है। आत्मा की दो प्रकार की शक्तियाँ हैं, एक वह जो सूक्ष्म और स्थूल शरीर द्वारा, जगत् में काम करती है और जिसे आत्मा की बहिर्मुखी वृत्ति कहते हैं दूसरी वह जो आत्मा के अन्दर काम करती है और जिसका नाम अन्तर्मुखी वृत्ति है। दोनों वृत्तियों में से एक वृत्ति प्रत्येक समय काम किया करती है, न दोनों वृत्तियां एक साथ काम करती हैं और न दोनों एक साथ बन्द हो जाती हैं। यह एक वृत्ति बन्द कर दी जाये तो दूसरी स्वयमेव काम करने लगती है।

बहिर्मुखी वृत्ति के बन्द करने का नाम ही मन को निर्विषय करना है. मन के निर्विषय करने के साधन ध्यान के अभ्यास हैं। इस प्रकार मन के निर्विषय हो जाने मात्र से आत्मा की अन्तर्मुखी वृत्ति स्वयमेव जारी हो जाती है। जिस प्रकार नहर का फाटक बन्द कर देने से समस्त जल-स्वयमेव नदी की धारा में प्रवाहित होने लगता है और इस अन्तिम कार्य के लिए किसी प्रकार का यत्न अपेक्षित नहीं होता, इसी प्रकार नहर रूपी बाह्यवृत्ति बन्द होने से आत्मा-रूपी नदी में अन्तर्मुखी वृत्तिरूप जल स्वयमेव प्रवाहित हो जाता है।

यही वह अवस्था है जिसका उपर्युक्त मन्त्र में उल्लेख है। इस अवस्था को प्राप्त कर लेने ही से योगी एकत्वदर्शी हो जाता है। ध्यान की अवस्था में ध्यानावस्थित योगी समझता है कि वह ध्याता है और किसी ध्येय की प्राप्ति के लिए ध्यान रूपी क्रियाएँ करता है। परन्तु जब ऊँची समाधि अवस्था में पहुँचता है तब ध्याता और ध्यान दोनों का ज्ञान तिरोहित हो जाता है और केवल ध्येय (ईश्वर) ही उसके समस्त ज्ञान का लक्ष्य रह जाता है और उस समय योगी की वही अवस्था होती है जिसके लिए मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है–

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद् ब्रह्म पश्चाद् ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण।
अधश्चोर्ध्वञ्च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम् ॥

मुं० २/२/११/

अर्थात्–(इदम्, अमृतम्) यह अमृत रूप (ब्रह्म एव) ब्रह्म ही है (पुरस्ताद ब्रह्म) आगे ब्रह्म है (पश्चात् ब्रह्म) पीछे ब्रह्म है (दक्षिणत:) दाहिने (च) और (उत्तरेण) बाएं (अध:) नीचे (च) और (ऊर्ध्वं) ऊपर भी (प्रसृतम्) फैला हुआ ब्रह्म ही है (इदम् विश्वम्) वह सब विश्व (इदम् वरिष्ठम्) यह अत्यन्त श्रेष्ठ (ब्रह्म एव) ब्रह्म ही है। भाव इसका यह है कि उस ज्ञानी को सब ओर ब्रह्म ही दिखाई देता है। इसी अवस्था के लिए एक कवि ने कहा है–

जिधर देखता हूँ उधर तू ही तू है ॥

उपनिषत् के इसी भाव को कुछेक अन्य कवियों ने सुन्दरता से अपनी कविताओं में समाविष्ट किया है–

दिया अपनी खुदी[१] को जो हमने मिटा।
वह जो परदा सा बीच में था, न रहा ॥

रही परदे में अब न वो परदे-नशीं।
कोई दूसरा उसके सिवा न रहा ॥ १ ॥

जलवे से तिरे भर गईं, इस तरह से आँखें।
हो कोई भी, आता है फकत तू ही नजर में ॥ २ ॥

आप ही आप हैं यहां, गैर का कुछ काम नहीं।
जातेमुत्लक[२] में तिरे शक्ल नहीं नाम नहीं ॥ ३ ॥

याद में उनकी ऐसे महव[३] हुए।
अपनी सुध बुध रही न कुछ बाकी ॥ ४ ॥

बेखुदी[४] छा जाय ऐसी दिल से मिट जाय खुदी।
उनके मिलने का तरीका, अपने खो जाने में है ॥ ५ ॥

जब मैं था तब हर नहीं जब हर तब मैं नाय।
प्रेम-गली अति सांकरी ता में दो न समाय ॥ ६ ॥

इक जान होके चलते हैं, मैं-तू को छोड़कर।
उलफत की तंग राह में दो की गुजर नहीं ॥ ७ ॥

समस्त चराचर जगत् में योगी ब्रह्म के सिवाय कुछ नहीं देखता। जब उसने अपने प्रेमपात्र के प्रेम के आधिक्य में अपनी ही सुध-बुध बिसार दी है, तब प्रकृति के ईंट-पत्थरों की उसे किस प्रकार चिन्ता रह सकती है और वह कैसे मोह, शोक के बन्धन में रह सकता है ? यही ब्रह्म-विद्या का अन्तिम पाठ है कि जिसमें जीव अपनी सत्ता कायम रखते हुए भी, उससे बेसुध सा रहता है और ध्येय (ब्रह्म) के सिवा कुछ भी उसकी स्मृति ध्यान या अनुभव का विषय नहीं रह जाता। इसी अवस्था के प्राप्त कर लेने पर योगी का नाम जीवनमुक्त हो जाता है और इसी अवस्था वाले योगी शरीर के छूटने

१. खुदी–अहंकार। २. जातेमुत्लक–ईश्वर की असीम सत्ता। ३. महव–लवलीन। ४. बेखुदी–निरहंकारिता।

पर आवागमन के बन्धन से मुक्त हो जाते हैं। इसी अवस्था पर पहुँचे हुए योगी के लिए उपनिषद् में कहा गया है–"स यो ह वै तत्परम् ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति।" (मुण्डकोपनिषद् ३/२/९) अर्थात् वह, जो इस परब्रह्म को जान लेता है, ब्रह्म ही हो जाता है। कई विद्वान् इसका अर्थ करते हुए कह दिया करते हैं कि ब्रह्मवित् ब्रह्म के सदृश हो जाता है। परन्तु इस प्रकार के अर्थ करने की जरूरत नहीं। इस वाक्य में प्रयुक्त 'भवति' क्रिया से स्पष्ट है कि ब्रह्मवित् पहले ब्रह्म नहीं था, अब हुआ है तो वह आदि ब्रह्म हुआ, परन्तु जिस ब्रह्म के जानने से ब्रह्मवित् हुआ है वह अनादि ब्रह्म है। यह अन्तर सदैव ब्रह्मवित् में बना रहता है।

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाꣳरताः॥ ९॥

भाषार्थ–(ये) जो (अविद्याम्) कर्म को (ज्ञान की उपेक्षा करके) (उपासते) सेवन करते हैं, वे (अन्धन्तमः) गहरे अन्धकार में (प्रविशन्ति) प्रवेश करते हैं। (ये उ) और जो (कर्म की उपेक्षा करके केवल) (विद्यायाम्) ज्ञान में (रताः) रमते हैं (ते) वे (ततः) उससे (भूयः, इव) भी अधिक (तमः) अन्धकार को प्राप्त होते हैं।

अन्यदेवाहुर्विद्याया अन्याहुरविद्यायाः।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे॥१०॥

भाषार्थ–(विद्यायाः) ज्ञान का (अन्यत्, एव) और ही फल (आहुः) कहते हैं (अविद्यायाः) कर्म का (अन्यत् एव) और ही फल (आहुः) कहते हैं (इति) ऐसा हम (धीराणाम्) धीर पुरुषों से (शुश्रुम) सुनते हैं। (ये) जो (नः) हमारे लिए (तद्) उसका (विचचक्षिरे) उपदेश करते हैं।

विद्याञ्चाविद्यां च यस्तद् वेदोभयꣳ सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते॥ ११॥

भाषार्थ–(यः) जो (विद्याम् च अविद्याम् च) ज्ञान और कर्म (तत् उभयम्) इन दोनों को (सह) साथ-साथ (वेदं) जानता है वह

(अविद्यया) कर्म से (मृत्यु) मृत्यु को (तीर्त्वा) तैर कर (विद्यया) ज्ञान से (अमृतम्) अमरता को (अश्नुते) प्राप्त होता है।

व्याख्या

इन मन्त्रों में विद्या और अविद्या का महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त वर्णन किया गया है। यहीं से उपनिषद् का तीसरा भाग प्रारम्भ होता है, जिसमें मनुष्य के कर्त्तव्य का विधान किया गया है।

विद्या ज्ञान को कहते हैं, यह तो निर्विवाद ही है। अविद्या के दो अर्थ किये जाते हैं–एक पारिभाषिक दूसरा यौगिक। दर्शनों में प्रायः अविद्या पारिभाषिक अर्थ, 'मिथ्याज्ञान' लिया जाता है। परन्तु अविद्या का यौगिक अर्थ 'विद्या से भिन्न' है, (अविद्या) जो विद्या अर्थात् ज्ञान नहीं है। जो ज्ञान नहीं वह क्या ? इस प्रश्न का उत्तर इन मन्त्रों का देवता (मन्त्र का विषय) देता है। इन मन्त्रों का देवता आत्मा है। आत्मा के स्वाभाविक गुण ज्ञान और कर्म ही हैं। इच्छा द्वेषादि चार चिह्न हैं, जो शरीर में आत्मा के होने के समझे जाते हैं। शरीर की बनावट भी आत्मा के स्वाभाविक गुणों की साक्षी है। शरीर में दो ही प्रकार की इन्द्रियाँ हैं–ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय। ज्ञानेन्द्रियाँ आत्मा के ज्ञान और कर्मेन्द्रियाँ आत्मा के कर्म गुण को सार्थक करने के लिए हैं। यदि तीसरा कोई स्वाभाविक गुण और होता तो शरीर में तीसरे प्रकार का अन्य इन्द्रिय समुदाय भी उस गुण के साधन रूप होने के लिए बना हुआ दृष्टिगोचर होता। अतः आत्मा के स्वाभाविक गुण ज्ञान और कर्म दो ही हैं। विद्या-ज्ञान को कहते हैं जैसा कि कहा जा चुका है और ज्ञान से भिन्न कर्म ही है। इसलिए स्पष्ट हो गया कि अविद्या का अर्थ कर्म है। अब इन मन्त्रों का अर्थ भी साफ हो गया कि केवल ज्ञान का या केवल कर्म का सेवन करना अन्धकार में पड़ना है। सिद्धान्त यह है कि ज्ञान और कर्म दोनों का प्रयोग साथ-साथ करना चाहिए। वेदों का यह शाश्वत सिद्धान्त है जो तीनों कालों में एक जैसी उपयोगिता रखता है। ज्ञान उपलब्ध करके उसको कार्य में परिणत करना ही मनुष्य-जीवन का सब से बड़ा उद्देश्य है। इसलिए वेद नित्योपयोगी (Up to date) समझे जाते हैं।

मन्त्रों की विशेषता

इन मन्त्रों की एक विशेपता है, और यही विशेपता वेदों की महत्ता की द्योतक है। वह विशेपता यह है कि अन्तिम मन्त्र में, ज्ञान और कर्म का उद्देश्य वर्णन कर दिया गया है, और यह उद्देश्य सव से वड़े बन्धन-मृत्यु के बन्धन से पार होकर अमरता को प्राप्त करना है, आधुनिक कर्म और ज्ञान तथा वेदों के कर्म और ज्ञान में यही बड़ा विभेदक अन्तर है। आधुनिक ज्ञान और कर्म, साइन्स (Science) और आर्ट (Art) है। एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका (Encyclopedia Britannica) के शब्दों में (Science consists in knowing) और (Art consists in doing) अर्थात् साइन्स ज्ञान और आर्ट कर्म ही का नाम है।

आधुनिक ज्ञान और कर्म उद्देश्य रहित हैं

परन्तु इन ज्ञान और कर्म का कोई उद्देश्य नहीं है। इसलिए ये मृत्यु के बन्धन को छुड़ाने की जगह उस बन्धन को और भी दृढ़ करने के काम में लगे हुए हैं। इस समय साइन्स के एक बड़े और महत्त्वपूर्ण विभाग का कार्य, युद्ध से सम्बन्धित (Chemical Warfare Service) केवल यह है कि नई-नई जहरीली गैसों और बम बनाने के तरीकों की खोज और ईजाद करे। टी०ए० एडीसन (T.A. Edison) महाशय, जो वर्तमान काल के उच्च कोटि के वैज्ञानिकों में समझे जाते हैं, लिखते हैं कि जहरीली गैस-जो अमेरिका में बनायी गयी थी और जिसे जर्मन और जापानी वैज्ञानिकों ने परिष्कृत किया है—ऐसी घातक है कि यदि एक वह छोटे हवाई जहाज के बेड़े से लन्दन नगर पर जो पृथिवी का सव से बड़ा नगर है और जिसकी आबादी ८० लाख के लगभग है—छोड़ी जाये तो तीन घण्टे में उसे नष्ट कर देगी। अमरीका की १९१८-२० तक की उपर्युक्त विभाग की रिपोर्ट में यह बात स्पष्ट रीति से वर्णित है कि जहरीली गैसें अमेरिका में ८१० टन, इंग्लैण्ड में ४१० टन और जर्मनी में २१० टन प्रति सप्ताह तैयार होती है। ये सब गैसें इसलिए

मन्त्रों की विशेषता

इन मन्त्रों की एक विशेषता है, और यही विशेषता वेदों की महत्ता की द्योतक है। वह विशेषता यह है कि अन्तिम मन्त्र में, ज्ञान और कर्म का उद्देश्य वर्णन कर दिया गया है, और यह उद्देश्य सब से बड़े बन्धन-मृत्यु के बन्धन से पार होकर अमरता को प्राप्त करना है, आधुनिक कर्म और ज्ञान तथा वेदों के कर्म और ज्ञान में यही बड़ा विभेदक अन्तर है। आधुनिक ज्ञान और कर्म, साइन्स (Science) और आर्ट (Art) है। एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका (Encyclopedia Britannica) के शब्दों में (Science consists in knowing) और (Art consists in doing) अर्थात् साइन्स ज्ञान और आर्ट कर्म ही का नाम है।

आधुनिक ज्ञान और कर्म उद्देश्य रहित हैं

परन्तु इन ज्ञान और कर्म का कोई उद्देश्य नहीं है। इसलिए ये मृत्यु के बन्धन को छुड़ाने की जगह उस बन्धन को और भी दृढ़ करने के काम में लगे हुए हैं। इस समय साइन्स के एक बड़े और महत्त्वपूर्ण विभाग का कार्य, युद्ध से सम्बन्धित (Chemical Warfare Service) केवल यह है कि नई-नई जहरीली गैसों और बम बनाने के तरीकों की खोज और ईजाद करे। टी०ए० एडीसन (T.A. Edison) महाशय, जो वर्तमान काल के उच्च कोटि के वैज्ञानिकों में समझे जाते हैं, लिखते हैं कि जहरीली गैस-जो अमेरिका में बनायी गयी थी और जिसे जर्मन और जापानी वैज्ञानिकों ने परिष्कृत किया है-ऐसी घातक है कि यदि एक वह छोटे हवाई जहाज के बेड़े से लन्दन नगर पर जो पृथिवी का सब से बड़ा नगर है और जिसकी आबादी ८० लाख के लगभग है-छोड़ी जाये तो तीन घण्टे में उसे नष्ट कर देगी। अमरीका की १९१८-२० तक की उपर्युक्त विभाग की रिपोर्ट में यह बात स्पष्ट रीति से वर्णित है कि जहरीली गैसें अमेरिका में ८१० टन, इंग्लैण्ड में ४१० टन और जर्मनी में २१० टन प्रति सप्ताह तैयार होती है। ये सब गैसें इसलिए

जमा की जा रही हैं और ऐटमिक बम (Atomic Bomb) इसलिए बनाया गया है कि भावी, अनिवार्य युद्ध में शीघ्र से शीघ्र, अधिक से अधिक मनुष्यों का संहार किया जा सके। अस्तु, हमने देख लिया कि उद्देश्य रहित होने से, आधुनिक पश्चिमी जगत् के ज्ञान और कर्म, किस प्रकार प्राणियों के संहार करने में लगे हुए हैं, जबकि वेदों के ज्ञान और कर्म मनुष्य को अमर बनाने के उत्कृष्टतम साधन हैं।

ज्ञान से कर्म की विशेषता

पहले मन्त्र में एक बात और भी है, जिस पर ध्यान देना चाहिए और वह बात यह है कि मन्त्र में कहा गया है कि जो केवल ज्ञान का सेवन करते हैं, वे उनसे अधिक अन्धकार में पड़ते हैं जो केवल कर्म का आश्रय लेते हैं। इस का कारण यह है कि ज्ञान मात्र का कोई फल नहीं मिलता, परन्तु कर्म जितना भी करेगा चाहे वह कितना भी उल्टा-सीधा क्यों न हो, उसका कुछ न कुछ फल अवश्य ही मिलता है। इसलिए उपनिषत् की शिक्षा में कर्म का बहुत ऊँचा स्थान है, यह बात कभी किसी अध्यात्म विद्या के विद्यार्थी को नहीं भूलनी चाहिए। यहीं से गीताकार ने कर्मयोग की शिक्षा ली है।

मनुष्य के पहले कर्त्तव्य का विधान विद्या-अविद्या सम्बन्धी तीन मन्त्रों में कर दिया गया। इस कर्म और ज्ञान का क्षेत्र क्या होना चाहिए। इसका वर्णन आगे के तीन मन्त्रों में दिया गया है। इन मन्त्रों का भाव समझना और उनमें वर्णित शिक्षानुकूल आचरण करना मनुष्य का दूसरा कर्त्तव्य है। इन दो कर्त्तव्यों से भिन्न मनुष्य-जीवन का और कोई भी ऐसा कर्त्तव्य जो इसके कल्याण के लिए अपेक्षित हो, बाकी नहीं रहता। इन्हीं में सब का समावेश है। दूसरे कर्त्तव्य के विधायक तीन मन्त्र ये हैं–

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्याꣳरताः ॥ १२ ॥

भाषार्थ–(ये) जो (असम्भूतिम्) कारण प्रकृति-कारण शरीर का (अन्य शरीरों की उपेक्षा करके) (उपासते) सेवन करते हैं, वे

(अन्धन्तमः) गहरे अन्धकार में (प्रविशन्ति) प्रवेश करते हैं, (ये उ) और जो (सम्भूत्याम्) कार्य प्रकृति-सूक्ष्म शरीर + स्थूल शरीर में (कारण शरीरों की उपेक्षा कर के (रताः) रमते हैं (ते) वे (तत्) उससे (भूय, इव) भी अधिक (तमः) अन्धकार को प्राप्त होते हैं।

अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात्।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥ १३ ॥

भाषार्थ-(सम्भवात्) कार्यप्रकृति-सूक्ष्म-स्थूल शरीर का (अन्यत् एव) और ही फल (आहु): कहते हैं (असम्भवात्) और कारणप्रकृति-कारण शरीर से (अन्यत्, एव) और ही फल, (आहुः) कहते हैं (इति) इस प्रकार (धीराणाम्) धीर पुरुषों के (वचन) (शुश्रुम) हम सुनते हैं (ये) जो (नः) हमारे लिये (तत्) उन (वचनों) का (विचचक्षिरे) उपदेश कर गये हैं।

सम्भूतिं च विनाशञ्च यस्तद् वेदोभय ँ सह ।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्याऽमृतमश्नुते ॥ १४ ॥

भाषार्थ-(यः) जो कोई (सम्भूतिम्) कार्य रूप प्रकृति = सूक्ष्म + स्थूल शरीर (च) और (विनाशम्) कारण रूप प्रकृति : = कारण शरीर (तत् + उभयम्) उन दोनों को (सह) साथ-साथ वेद जानता है, वह (विनाशेन) कारण शरीर से (मृत्युम्) मृत्यु को (तीर्त्वा) तैर कर (सम्भूत्या) कार्य शरीर से (अमृतम्) अमरता को (अश्नुते) प्राप्त होता है।

व्याख्या

इन मन्त्रों का मुख्य विषय सम्भूति और असम्भूति का ज्ञान है। सम्भूति का कार्य-प्रकृति और असम्भूति कारणस्वरूप प्रकृति को कहते हैं। तीसरे मन्त्र में असम्भूति की जगह विनाश शब्द आया है। 'वि' उपसर्ग हाँ और 'नहीं' दोनों अर्थों में आता है। जैसे विधर्म और विदेश आदि। यहाँ भी 'वि' निषेधक ही है अर्थात् जिसका नाश न हो सके वह विनाश है। इस प्रकार यह शब्द असम्भूति का पर्यायवाचक ही ठहरता है परन्तु ये असम्भूति और सम्भूति शब्द जब आत्मा से सम्बन्धित होते हैं, तब इनके अर्थ कारण और कार्य होते हैं। कारण शरीर की कल्पना घटाकाश-मठाकाशवत् है। जगत् में

व्यापक कारण रूप प्रकृति का जो अंश हमारे अन्दर है उसी का कल्पित नाम कारण शरीर है। कार्य शरीर दो हैं–सूक्ष्म और स्थूल। इन तीनों के काम पृथक्-पृथक् हैं–

(१) स्थूल शरीर–सूक्ष्म शरीर का साधन है। उसी के द्वारा विषयमय जगत् से सूक्ष्म शरीर का सम्बन्ध होता है, स्थूल शरीर के विकसित और पुष्ट होने से शारीरिकोन्नति होती है। राममूर्ति और सैण्डो आदि इसके उदाहरण हैं।

(२) सूक्ष्म शरीर–१७ वस्तुओं के समुदाय का नाम है–

५ ज्ञानेन्द्रिय
५ सूक्ष्म विषय–तन्मात्रा (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध)
५ प्राण (प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान)
१ मन
१ बुद्धि

योग १७

सूक्ष्म शरीर के विकसित और पुष्ट होने से मानसिकोन्नति होती है। मानसिकोन्नति किये हुए पुरुष जाति के नेता, राजा और उच्च राज्य कर्मचारी हुआ करते हैं और कारण-शरीर के विकसित और पुष्ट होने से मनुष्य में ईश-प्रेम आता है और वह भक्त और योगी बना करता है। आशय यह है कि तीनों प्रकार के शरीर उन्नत होने चाहिए। शरीरों का इतना विवरण जान लेने से इन मन्त्रों के अर्थ समझ लेने में सुगमता हो जाती है। मन्त्र कहता है कि यदि स्थूल और सूक्ष्म शरीरों की उपेक्षा करके केवल कारण शरीर की उन्नति चाहते हो तो अन्धकार में पड़ना पड़ेगा, क्योंकि विना स्थूल और सूक्ष्म शरीरों के उन्नत हुए कारण शरीर को उन्नति प्राप्त नहीं हो सकती। और यदि कारण शरीर की उपेक्षा करके केवल कार्य शरीर स्थूल + सूक्ष्म शरीरों को उन्नत करना चाहते हो तो भी भविष्य अन्धकारमय होगा, क्योंकि इस से नास्तिकता उत्पन्न होगी। जैसे चार्वाक और यूरोप के प्रकृतिवादी नास्तिक विद्वान्। इसीलिए तीसरे मन्त्र में, सिद्धान्त और कर्त्तव्य रूप से, यह शिक्षा दी गई है कि दोनों प्रकार के शरीरों की उन्नति साथ-साथ होनी चाहिए, तभी मृत्यु का

बन्धन छूट सकता है। मृत्यु का बन्धन किस प्रकार छूट सकता है यही अन्तिम प्रश्न है, जो इन मन्त्रों के सम्बन्ध में उत्पन्न होता है। इस प्रश्न का उत्तर सुगमता से समझ में आ जावे इसलिए हम इन शरीरों का एक कल्पित चित्र नीचे देते हैं–

तीनों शरीरों का चित्र

स्थूल शरीर–अन्नमय कोष

सूक्ष्म शरीर–
१. प्राणमय
२. मनोमय
३. विज्ञानमय कोष

कारण शरीर = आनन्दमय कोष

स्वप्नावस्था के द्वारा सूक्ष्म–कारण शरीरों का सम्बन्ध

जाग्रत अवस्था के द्वारा सूक्ष्म = स्थूल शरीरों का सम्बन्ध	प्रमाण के द्वारा स्थूल–सूक्ष्म शरीरों का सम्बन्ध

इन्हीं तीनों शरीरों का विभाग एक और प्रकार से किया गया है जिसे कोष कहते हैं उसका विवरण इस प्रकार है–

(१) स्थूल शरीर–अन्नमय कोश

(२) सूक्ष्म शरीर–१. प्राणमय, २. मनोमय, ३. विज्ञानमय कोश।

(३) कारण शरीर–आनन्दमय कोश

योग–३ शरीर–५ कोश

इन तीनों शरीरों के दो सम्बन्ध हैं–

(१) अवस्थाओं के द्वारा सम्बन्ध।

(२) प्राण के द्वारा सम्बन्ध।

पहले सम्बन्ध पर विचार

पहला सम्बन्ध जाग्रत् आदि तीन अवस्थाओं द्वारा होता है, जिसका विवरण इस प्रकार है–

(१) **जाग्रत् अवस्था**–इस अवस्था में तीनों शरीरों का सम्बन्ध बना रहता है।

(२) **स्वप्नावस्था**–इस में सूक्ष्म और स्थूल शरीर का सम्बन्ध टूट जाता है, परन्तु सूक्ष्म और कारण शरीर का सम्बन्ध बना रहता है। इस का परिणाम यह होता है कि इन्द्रियों का व्यापार बन्द हो जाता है, परन्तु मन का कार्य जारी रहता है, इसलिए मनुष्य इस अवस्था में स्वप्न देखा करता है।

(३) **सुषुप्तावस्था**–इस अवस्था में सूक्ष्म और कारण शरीरों का सम्बन्ध भी टूट जाता है और तीनों शरीरों में से किन्हीं दो का सम्बन्ध बाकी नहीं रहता।

इन अवस्थाओं और उनके सम्बन्ध के रहने, न रहने पर विचार करने से एक परिणाम निकलता है, जिस पर प्रत्येक विचारक को पहुँचना पड़ता है, और वह परिणाम यह है कि शरीरों के इन सम्बन्धों के टूटने से मनुष्य को सुख और शान्ति प्राप्त हुआ करती है। जिस समय मनुष्य जाग्रत् अवस्था के कामों से थक कर सो जाता है तो स्थूल शरीर का व्यवहार बन्द हो जाने से, उसे कुछ आराम मिलता है। परन्तु जब मन भी थक जाता है, तब मनुष्य स्वप्नावस्था से निकल कर सुषुप्तावस्था में पहुँच जाता है और इस अवस्था में, स्थूल और सूक्ष्म दोनों शरीरों का काम बन्द हो जाने से उसे पूर्ण शान्ति प्राप्त हो जाया करती है। इससे यह बात भली भाँति समझ में आ जाती है कि जब एक (जाग्रत् स्वप्नावस्था का) सम्बन्ध टूटा था तो कुछ आराम मिला था, परन्तु जब दोनों सम्बन्ध (तीनों शरीरों के) टूट गये तो मनुष्य को पूरा सुख और आराम मिला। इसलिए विद्वान् सुषुप्तावस्था को मुक्तावस्था का आंशिक उदाहरण रूप समझा करते हैं। निष्कर्ष यह निकला कि शरीरों के सम्बन्ध टूटने से सुख प्राप्त हुआ करता है।

दूसरे सम्बन्ध पर विचार

इस परिणाम पर पहुँचने के बाद अब दूसरे सम्बन्ध पर विचार कीजिये। दूसरा सम्बन्ध स्थूल और सूक्ष्म शरीर का एकमात्र प्राण के द्वारा है, जिस सम्बन्ध के बने रहने का नाम जीवन और टूटने का नाम मृत्यु है। पहले सम्बन्ध पर विचार करते हुए हम ने देख लिया है कि सम्बन्धों के टूटने से हमें सुख प्राप्त होता है। उसी परिणाम को लक्ष्य और उदाहरण में रखते हुए दूसरे सम्बन्ध पर विचार करें तो सुगमता से यह बात समझ में आ जायेगी कि यदि वह दूसरा सम्बन्ध भी टूट जाये तो उसका परिणाम भी यही निकलेगा कि मनुष्य को सुख मिले। इस कल्पना के लिए कि इस दूसरे सम्बन्ध के टूटने से मनुष्य को दुःख होगा, संसार में कोई उदाहरण ही नहीं है। इसलिए दूसरे सम्बन्ध का टूटना रूप मृत्यु दुःखप्रद नहीं अपितु सुखप्रद है। यही उच्च शिक्षा है, जो उपनिषद् दुनिया को देना चाहती है। इस परिणाम पर मनुष्य तभी पहुँच सकता है, जब वह इन तीन मन्त्रों में वर्णित कारण और कार्य तीनों प्रकार के शरीरों को अपने पुरुषार्थ का क्षेत्र समझ कर पहले कर्त्तव्य का पालन करते हुए उनका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करे और उस प्राप्त ज्ञान को कार्य में परिणत करे। उस यथार्थता की प्राप्ति के लिए प्राणायाम मुख्य साधन है, उससे कार्य शरीरों का पूरा-पूरा विकास हुआ करता है।

इसलिए उसका कुछ विवरण यहाँ दिया जाता है।[१]

प्राणायाम से शारीरिक उन्नति किस प्रकार होती है। इस बात के जानने के लिए एक दृष्टि, शरीर के अन्दर होने वाले अनिच्छित कार्यों में से हृदय और फेफड़ों के कार्यों पर डालनी होगी।

हृदय का स्थूल कार्य

इन शरीरों में दो प्रकार की अति सूक्ष्म नाड़ियाँ हैं। एक तो वे जो समस्त शरीर से हृदय में आती हैं और दूसरी नाड़ियाँ वे हैं, जो

१. प्राणायाम का विवरण यहाँ उदाहरण के तौर पर दिया गया है, जिससे समझ लिया जाये कि किस प्रकार शरीरों का ज्ञान प्राप्त करके उसे कार्य में परिणत करना चाहिए।

हृदय से समस्त शरीर में जाया करती हैं। पहली नाड़ियाँ शिरा और दूसरी धमनियाँ कहलाती हैं। शिराओं का काम यह है कि समस्त शरीर से अशुद्ध रक्त शुद्ध होने के लिए हृदय में लाया करें। हृदय उस रक्त को शुद्ध करता है। रक्त अशुद्ध क्यों होता है ? इसका हेतु यह है कि समस्त शरीर के व्यापारों में इसका प्रयोग होता है और प्रयोग में आने से अशुद्ध हो जाता है। उसमें कुछ मैलापन आ जाता है। शुद्ध रक्त में ओषजन (Oxygen) काफी मात्रा में रहता है परन्तु काम में आने से जब यह अशुद्ध हो जाता है, तब उसमें ओषजन की मात्रा नाममात्र रह जाती है और उसकी जगह एक विषैली वायु (Carbonic Acid Gas) रक्त में आ जाती है, और इसी परिवर्तन से रक्त का रंग मैला स्याही = माइल सा हो जाता है।

फेफड़े का काम

हृदय में जब अशुद्ध रक्त शिराओं द्वारा पहुँचता है तो हृदय उसे फेफड़ों में भेजता है। यहीं से फेफड़े का काम आरम्भ होता है। फेफड़ा स्पञ्ज की भाँति असंख्य छोटे-छोटे कोशों (Cells) का समुदाय है। वैज्ञानिकों ने हिसाब लगाया है कि एक शरीर में यदि लम्बाई-चौड़ाई में फेफड़ों के कोशों (घटकों) को फैला दिया जाय, तो उसका विस्तार चौदह सहस्र वर्गफीट होगा। वे कोश, एक मांसपेशी (डायफ्राम) की चाल से, खुलते और बन्द होते रहते हैं। जब ये कोश खुलते हैं तब एक ओर तो हृदय से अशुद्ध रक्त और दूसरी ओर से श्वास के द्वारा लिया हुआ शुद्ध वायु दोनों मिलकर उसे भर देते हैं। अब इन कोशों में इस प्रकार से, अशुद्ध रक्त और शुद्ध वायु दोनों एकत्र हो गये हैं। प्रकृति का एक विलक्षण नियम यह है कि जिसमें जो वस्तु नहीं होती वह उसी को दूसरे से अपनी ओर खींचती है। रक्त में तो शुद्ध वायु ओषजन नहीं है और श्वास के द्वारा लिये हुए वायु में कार्बन वायु नहीं है। इन दोनों में जब उपर्युक्त नियम काम करता है तब उसका परिणाम यह होता है कि रक्त में से कार्बन वायु निकलकर श्वास के वायु में और श्वास के द्वारा आये हुए वायु में से ओषजन निकल कर रक्त में चला जाता

है। फल यह होता है कि रक्त इस प्रकार शुद्ध और श्वास के द्वारा आया हुआ वायु अशुद्ध हो जाता है। शुद्ध रक्त हृदय में जाकर धमनियों के द्वारा समस्त शरीर में चला जाता है, और अशुद्ध वायु निःश्वास द्वारा बाहर निकल आता है। यह कार्य प्रतिक्षण हुआ करता है।

हृदय की धड़कन

हृदय की धड़कन क्या वस्तु है ? एक बार हृदय से रक्त का शुद्ध होने के लिए फेफड़े में जाना और फेफड़े से शुद्ध होकर रक्त का हृदय में वापस आना, बस इन्हीं दोनों क्रियाओं से, हृदय में धड़कन बनती है। औसतन एक मिनट में ७२ धड़कन एक प्रौढ़ पुरुष के हृदय में हुआ करती हैं। विशेष अवस्थाओं में आयु के अन्तर से धड़कन की मात्रा न्यूनाधिक हुआ करती है। आमतौर से एक सैकण्ड में कम से कम एक बार रक्त शुद्ध होने के लिए फेफड़े में आता और शुद्ध होकर वापस चला जाता है। एक शरीर वैज्ञानिक ने हिसाब लगाया है कि इस प्रकार २४ घण्टे में २५२ मन रक्त हृदय से फेफड़े में आता है, और इतना ही रक्त शुद्ध होकर फेफड़े से हृदय में वापस चला जाता है। इस धड़कन से, आवाज 'लूब' के सदृश ध्वनि होती है और फैलकर जब रक्त ग्रहण करता है तब 'डप' शब्द की ध्वनि होती है। इन दोनों ध्वनियों में समय का कुछ अन्तर अवश्य होता है, परन्तु इतना थोड़ा कि दोनों शब्द मिले हुए से ही मालूम होते हैं और विशेषज्ञों के सिवाय साधारण लोग इस अन्तर को नहीं ख्याल कर सकते। अस्तु, अब विचारणीय बात यह है कि हृदय से रक्त शुद्ध होने के लिए फेफड़ों में तो जावे, परन्तु श्वास के द्वारा पर्याप्त वायु फेफड़ों में न पहुँचे अथवा सब कोशों में जहाँ रक्त पहुँच चुका हो, शुद्ध वायु न पहुँचे तो उसका परिणाम क्या होगा ? फेफड़े के मुख्यतया तीन भाग हैं–(१) एक ऊपरी भाग जो प्राय गर्दन तक है, (२) मध्यभाग जो इधर-उधर हृदय के दोनों ओर है, (३) निम्न भाग जो डायफ्राम (मांसपेशी) के ऊपर दोनों ओर है। साधारण रीति से जो श्वास लिया जाता है वह पूर्ण श्वास नहीं होता, इसलिए फेफड़ों के सब भागों

अथवा सब भागों के समस्त कोशों में नहीं पहुँचता। जब फेफड़े के ऊपरी भागों में श्वास द्वारा वायु नहीं पहुँचता तो फेफड़े का ऊपरी भाग रोगी होना शुरू हो जाता है, जिसको 'टयूबरक्यूलोसिस' (Tuberculosis) कहते हैं और जब इसी प्रकार मध्य और निम्न भाग फेफड़ों के बेकार और त्रुटिपूर्ण होने लगते हैं तो उसके परिणाम में खांसी, दमा, निमोनिया, जीर्णज्वरादि अनेक रोग जो फेफड़ों से सम्बन्धित होते हैं, होने लगते हैं। इस प्रकार पर्याप्त वायु फेफड़े में न पहुँचने से जहाँ एक ओर फेफड़े से सम्बद्ध रोग उत्पन्न होते हैं।

एक और भयंकर परिणाम

तो दूसरी ओर उसका एक परिणाम यह भी होता है कि हृदय से जो रक्त शुद्ध होने के लिए फेफड़े में आता है वह बिना शुद्ध हुए ही हृदय में वापस चला जाता है। हृदय भी उसे रोक नहीं सकता। वहाँ से वह धमनियों के द्वारा समस्त शरीर में पहुँचता है। इसका फल-रक्त-विकार होता है। रक्त के विकृत होने से मामूली रोग खाज (खुजली, खारिश) से लेकर भयंकर रोग कुष्ठ तक हो जाता है। इसलिए इन सब दुष्परिणामों से बचने के लिए आवश्यक है कि फेफड़े वायु से पूरित होते रहें और कोई कण (कोष) उसमें ऐसा न रहने पावे जहाँ वायु न पहुँच सके, यहीं से प्राणायाम की जरूरत शुरू होती है।

प्राणायाम की आवश्यकता

प्राणायाम के द्वारा जब यह श्वास बाहर रोक दिया जाता है तब मनुष्य के भीतर श्वास लेने की प्रबल इच्छा उत्पन्न हो जाती है। उसका फल यह होता है कि श्वास भीतर लेते समय श्वास वेग के साथ तेज हवा व आँधी के सदृश होकर फेफड़े में पहुँचता है और जिस प्रकार आँधी व तेज हवा नगर के कोने-कोने में प्रवेश करती है, इसी प्रकार वेग के साथ श्वास के द्वारा भीतर लिया हुआ वायु फेफड़े के एक-एक कोश तक पहुँच जाता है, और उससे न तो फेफड़े ही में कोई विकार होने पाता है और न रक्त ही दूषित होने

पाता है। अस्तु देख लिया गया कि प्राणायाम शरीर की उन्नति के हेतु ही नहीं, किन्तु मुख्य हेतु हैं। इसलिए स्वस्थ रहने के लिए प्रत्येक नर-नारी के लिए आवश्यक है कि प्राणायाम किया करें। यह शारीरिक उन्नति का विवरण हुआ। इसी प्रकार इससे मानसिक उन्नति भी होती है। निदान दोनों प्रकार के कर्त्तव्य प्राणायाम से विशेष सम्बन्ध रखते हैं।

दोनों कर्त्तव्यों पर एक दृष्टि

उपर्युक्त ६ मन्त्रों पर दृष्टिपात करने से जिनमें दोनों कर्त्तव्यों का विधान है, एक और बात भी विचार में आती है और वह यह है कि इन दोनों कर्त्तव्यों को सफलता के साथ-साथ पालन करने से मनुष्य मृत्यु के बन्धन से छूटता और अमरता प्राप्त करता है। परन्तु थोड़ा भी सोचने से यह बात समझ में आ जाती है कि मृत्यु के बन्धन से छूटना और अमरता प्राप्त करना-दोनों का भाव असल में एक ही हैं। इसलिए मन्त्रों का स्पष्ट भाव यह है कि मृत्यु के पार होना न केवल ज्ञान का परिणाम है और न केवल कर्म का, किन्तु ज्ञान और कर्म के समुच्चय ही से बन्धन छूटता है। परन्तु मुक्ति के दो पहलू होते हैं-एक मृत्यु से पार होना जिसे शान्ति या ऋणात्मक (Negative) आनन्द कहते हैं और दूसरा आनन्द-प्राप्ति जिसे धनात्मक (Positive) आनन्द कहते हैं। इनमें से पहली बात, मृत्यु के बन्धन के पार होना तो हमारे कर्म और ज्ञान का परिणाम है, परन्तु दूसरी बात धनात्मक आनन्द न हमारे कर्म का परिणाम है न ज्ञान का। फिर यह किस प्रकार प्राप्त होता है ? कठोपनिषद् इसका उत्तर देती है। उपनिषद् का वह वाक्य यह है-

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्॥

कठ० १/२/२३//

अर्थात् वह परमात्मा प्रवचन, बुद्धि और बहुश्रुत होने से प्राप्त नहीं होता। फिर वह प्राप्त किस प्रकार होता है ? उपनिषद् का उत्तर है कि जिसको वह स्वयं स्वीकार कर लेता है, उसी पर अपने को प्रकट कर देता है। उपनिषद् के इस वाक्य से यह तो ज्ञात हुआ कि

आनन्दघन प्रभु अपनी दया ही से उपासकों को प्राप्त हुआ करता है। परन्तु वह कब किसी को मिला करता है ? इसका उत्तर यह है कि जब मनुष्य कर्म और ज्ञान को उन्नत करके अपने को उसकी कृपा का पात्र बना लेते हैं, जैसा कि ऋग्वेद में कहा है कि "न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः।" (ऋग्वेद ४/३/११) अर्थात् मनुष्य यत्न करके जब तक अपने को थका नहीं डालता, तब तक ईश्वर की दया का पात्र नहीं बनता। उसका यत्न कर्म और ज्ञान को उत्कृष्ट बनाने से पूरा हुआ करता है। जब मनुष्य यह यत्न पूरा कर लिया करता है, तभी उसे वह प्राप्त हो जाया करता है।

जिस प्रकार एक छोटा बालक जो अभी केवल घुटनों के बल चलता है, खड़ी हुई माता के चरणों तक पहुँच गया, परन्तु इतने से उसकी भूख निवृत्त नहीं होती। जब बालक अपना यत्न समाप्त करके आशा भरी दृष्टि से माता की ओर निहारता है, तो माता के हृदय में दया के भाव जागृत हो जाते हैं और वह उसे गोद में उठाकर दूध पिलाकर शान्त कर देती है। इस प्रकार मुमुक्षु जब अपने उन्नत कर्म और ज्ञान से मृत्यु के पार हो जाता है, तभी प्रभु दया करके उसे प्राप्त होकर आनन्दरूपी दुग्ध का पान कराके कृतकृत्य कर दिया करते हैं। अस्तु, यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिए कि–

ईश्वरोपासना के दो भेद हैं–

(१) सगुणोपासना, (२) निर्गुणोपासना।

इनमें सगुणोपासना वह है, जिसमें ईश्वर की सगुणता के साथ ही वह न्यायकारी है, दयालु है, आनन्दस्वरूप है, इत्यादि हृदय में धारणा की जाती है और दूसरी निर्गुणोपासना वह है जिसमें ईश्वर की निगुर्णता के साथ कि वह अजर है, अमर है, अनादि है, अनन्त है, इत्यादि हृदय में धारणा की जाती है। दोनों उपासनाओं के फल इस प्रकार हैं।

निर्गुणोपासना का फल

ईश्वर की निर्गुणोपासना का यह प्रभाव उपासक पर पड़ता है, जिससे उसमें भी निर्गुणता आती है। यदि ईश्वर अमर है, तो वह भी

अमर वनता है। इस प्रभाव से उपासक में कुछ आता नहीं, अपितु कुछ जाता है, परन्तु इस जाने ही से प्रसन्नता होती है, इसलिए इस प्रसन्नता को ऋणात्मक आनन्द (शान्ति) कहते हैं। एक जगह उपनिषद् में कहा गया है–

अशब्दम् अस्पर्शमरूपमव्ययं
तथाऽरसन्नित्यमगन्धवच्च यत्।
अनाद्यनन्तम् महतः परं ध्रुवं,
निचाय्य तन्मृत्युमुखात् प्रमुच्यते॥ कठ० १/३/१५

अर्थात् ईश्वर अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अव्यय, अरस, नित्य, अगन्ध, अनादि, अनन्त है, इस प्रकार उस महान् परम ध्रुव का (उसकी निर्गुणता का) निश्चयात्मक ज्ञान प्राप्त करने से मनुष्य मृत्यु के मुख से छूटता है। मृत्यु के मुख से छूटना ही ऋणात्मक आनन्द है।

सगुणोपासना का फल

परन्तु जब ईश्वर की सगुणोपासना की जाती है, तो ईश्वरीय गुणों के प्रभाव से उपासक को सगुणता की प्राप्ति से आनन्द की प्राप्ति होती है। इसका भी प्रमाण है–

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा, एकं रूपं वहुधा यः करोति।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-स्तेषां सुखं शाश्वतन्नेतरेषाम्॥

अर्थात् ईश्वर एक, सब को वश में रखने वाला, सर्वव्यापक, एक रूप वाली प्रकृति को अनेक प्रकार का वना देने वाला है, उसका जो धीर पुरुष आत्मस्थ होकर साक्षात्कार करते हैं, उन्हीं को चिरस्थायी सुख (आनन्द) प्राप्त होता है, अन्यों को नहीं। यही धनात्मक आनन्द है, जो सगुणोपासना से प्राप्त हुआ करता है।

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥ १५॥

भाषार्थ–(सत्यस्य, मुखम्) सत्य का मुख (हिरण्मयेन पात्रेण) सुवर्ण के पात्र से (अपिहितम्) ढका हुआ है, (पूषन्) हे पूषन्! (सत्यधर्माय, दृष्टये) उस सत्य धर्म के दिखाई देने के लिए (त्वम्) तू (तत्) उस आवरण को (अपावृणु) हटा दे।

व्याख्या

मनुष्य के कर्त्तव्य का विधान करते हुए उपनिषद् ने मनुष्यों को चेतावनी दी है कि इन कर्त्तव्यों का पालन करने में सच्चाई (वास्तविकता = Reality) होनी चाहिए, अन्यथा इनकी उपयोगिता न रहेगी। परन्तु संसार में सच्चाई के छिपा देने के भी साधन मौजूद हैं जिनसे यह दबा दी जाती है, उन्हीं साधनों की ओर मन्त्र में संकेत किया गया है।

सुवर्णमय पात्र (संसार की चमक-दमक वाली चीजें) ही वे पदार्थ हैं, जो मनुष्य को प्रलोभन में लाकर उसे सत्य पथ से विमुख कर दिया करते हैं। मनुष्य क्यों चोरी करता है ? धन के लालच से। मनुष्य क्यों किसी को धोखा देता है, क्यों किसी को ठगता है ? धन के लालच से। अभी पश्चिमी युद्ध के समय पश्चिमी राज्य-कर्मचारियों ने क्यों झूठ बोल-बोलकर अन्यों को धोखा देने का अपना मन्तव्य और मुख्य कर्त्तव्य बना रखा था। इसका भी कारण वही धन का प्रलोभन है।

निदान सत्यता से विमुख होने के ये और इसी प्रकार के प्रलोभन ही हुआ करते हैं। इसलिए मन्त्र में प्रार्थना की गयी है कि हे पूषन् (पालक ईश्वर) इस प्रलोभन का आवरण सत्य के ऊपर से उठ जाय, जिससे सत्यता हम से और हम सत्यता से पृथक् न हों। सत्यता का इतना मान क्यों है ? केवल इसलिए कि सत्य का ही दूसरा नाम धर्म है। बृहदारण्यकोपनिषद् में लिखा है–

यो वै स धर्मः सत्यं वै तत् तस्मात् सत्यं वदन्तमाहुर्धर्म्मं वदतीति धर्मं वा वदन्तं सत्यं वदतीति। (बृहद्० १/४/१४)

अर्थात् निश्चय जो धर्म है, वही सत्य है, इसलिए सत्य कहने पर कहा जाता है कि धर्म कहता है, और धर्म को कहते हुए, कहा जाता है कि सत्य कहता है। परिणाम स्पष्ट है कि सत्य और धर्म दोनों वास्तव में एक ही वस्तु हैं। सत्य से धर्म और धर्म से सत्य भिन्न नहीं। एक दूसरी जगह ब्रह्म का नाम 'सत्यम्' कहा गया है। ब्रह्म को 'सत्यम्' क्यों कहते हैं ? इसलिए कि 'सत्यम्' शब्द तीन शब्दों से बनता है 'स + ति + यम् (देखो बृहदा० ५/५/१) 'स'

जीवन का वाचक है. 'ति' नाशवान् ब्रह्माण्ड के लिए. 'यम्' जीव ब्रह्माण्ड दोनों को नियम में रखने वाला होने से. ब्रह्म का नाम है। इस प्रकार 'सत्यम्' ब्रह्म का ही नाम है। सुतराम् अनेक रीति से सत्य की महिमा उपनिषद् में बखानी गयी है। वह 'सत्य' नामक ब्रह्म कहाँ है ? उपनिषत् का उत्तर है. 'तत्सत्ये प्रतिष्ठितम्' (बृहदा० ५/१४/४/) अर्थात् वह सत्य ही में प्रतिष्ठित है. इसलिए सत्य (ब्रह्म) को प्राप्त करने के लिए सत्य से पृथक् नहीं होना चाहिए. किन्तु उसे पूर्ण रीति से प्राप्त कर लेना चाहिए। इसलिए उपनिषद् ने इस मन्त्र में चेतावनी दी है कि ऐसी महत्त्वपूर्ण वस्तु 'सत्य' आवरण रहित ही रहनी चाहिए. और मनुष्य का इसलिए कर्त्तव्य है कि उस पर सुवर्णमय पात्रों का आवरण न पड़ने दे। तभी वह अपने कर्त्तव्यों के पालन करने और उद्देश्य को प्राप्त कर लेने में. सफल-मनोरथ हो सकता है। कर्त्तव्य-विधान के बाद उसकी पूर्ति के लिए ईश्वर से प्रार्थना की गई है।

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन् समूह। तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि ॥ १६ ॥

भावार्थ–(पूषन्) हे सर्वपोषक (एकर्षे) अद्वितीय (यम) न्यायकारी (सूर्य) प्रकाश-स्वरूप (प्राजापत्य) प्रजापति (रश्मीन्) ताप (दुःखप्रद किरणों को) (व्यूह) दूर कर (तेजः) और सुखप्रद तेज को (समूह) प्राप्त करा. (यत्) जो (ते) आपका (कल्याणतमम्) अत्यन्त मंगलमय (रूपम्) रूप है (तत्) आपके उस रूप को (पश्यामि) देखता हूँ. इसलिए (यः) जो (असौ पुरुषः) वह पुरुष (ईश्वर) है (सः) वह (अहम् अस्मि) मैं हूँ।

व्याख्या

मन्त्र में सच्चिदानन्द स्वरूप ईश्वर से, सच्चित् जीव को सच्चिदानन्द बना देने की याचना की गयी है और वे साधन भी, जिनसे सच्चित् जीव सच्चिदानन्द बन सकता है, बताये गये हैं। और वे ये हैं–

पहला साधन—ईश्वर के उन गुणों को, जिनका विवरण मन्त्र में है, जीव को अपने में धारण करना चाहिए। वे गुण ये हैं—

१. **पूषन्**—मनुष्य को सब का पोषक होना चाहिए उसका हृदय इतना लचकीला और प्रेममय हो जाना चाहिए कि किसी को भी दु:खी न देख सके।

२. **एकर्षि**—उसे उपासक श्रेणी में अपने गुण और कर्म की दृष्टि से, अद्वितीय होने के लिए यत्नवान् होना चाहिए।

३. **यम**—उसे न्यायपथ का अचूक पथिक होना चाहिए। कभी अन्याय और अत्याचार का विचार भी उसके हृदय में नहीं आना चाहिए।

४. **सूर्य**—उसे अपने अन्त:करण को अज्ञान के अन्धकार से जो तमस् और रजस् के रूप में होकर हृदय को अन्धकारमय गुफा बनाये रखते हैं, स्वच्छ रखना चाहिए और सत्य के प्रकाश से उत्तरोत्तर हृदय को प्रकाशमय बनाने का यत्न करते रहना चाहिए।

५. **प्रजापति**—जिस प्रकार प्रजापति, अपनी प्रजा की रक्षा किया करता है, उसी प्रकार का रक्षक बनने का उसे उद्योग करना चाहिए, जिससे उसको कभी भयभीत न होना पड़े।

दूसरा साधन—मनुष्य को दु:ख से रहित और सुख से भरपूर हृदय वाला बनना चाहिए, यम और नियम के अभ्यासों से उसे साधन-सम्पन्नता प्राप्त होगी।

तीसरा साधन—जगदीश्वर के भक्त और प्रेमी का हृदय प्रेम से इतना भरपूर होना चाहिए कि प्रेम के आवेश में होते हुए उसे अपनी सुध-बुध न रहे और केवल ध्येय ही उसके लक्ष्य में रह जाये। भक्ति और प्रेम की इस उच्चतम अवस्था में वह अपने प्रेमपात्र प्रभु का दर्शन कर सकता है।

जब उपासक इन तीन साधनों से सम्पन्न हो जाता है, तभी उसे कह सकते हैं कि मुक्त जीव या सच्चित् से सच्चिदानन्द हो गया परन्तु इस प्रकार हुआ सच्चिदानन्द, यह जीव, सादि सच्चिदानन्द ही होगा, असली सच्चिदानन्द तो अनादि सच्चिदानन्द ही है। मन्त्र में यही शिक्षा दी गयी है। मनुष्य के कर्त्तव्य विधान और चुनौती देने के बाद,

उपनिषद् ने एक बार फिर उसे याद दिला दिया कि उसका अन्तिम उद्देश्य यही (ईश्वरदर्शन) होना चाहिए जिससे उसके कर्त्तव्य का रुख दूसरी ओर न फिर सके।

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तं शरीरम्।
ओ३म् क्रतो स्मर क्लिबे स्मर कृतं स्मर॥ १७॥

भाषार्थ–(वायु:) शरीरों में आने जाने वाला (अनिलम्) जीव (अमृतम्) अमर है परन्तु (इदम्) यह (शरीरम्) शरीर (भस्मान्तम्) केवल भस्म पर्यन्त है, इसलिए अन्त समय में (क्रतो) हे जीव (ओ३म् स्मर) ओ३म् का स्मरण कर (क्लिबे स्मर) निर्बलता दूर करने के लिए स्मरण कर और (कृतम् स्मर) अपने किये हुए का स्मरण कर।

व्याख्या

यह उपनिषत् का चौथा और अन्तिम भाग है।

वेद की इस महत्त्वपूर्ण शिक्षा का भाव यह है कि मनुष्य को अपना जीवन इस प्रकार व्यतीत करना चाहिए कि जब अमर आत्मा और विनश्वर शरीर के वियोग का समय आवे, तब वह 'ओ३म्' का उच्चारण कर सके। छान्दोग्योपनिषद् में एक आख्यायिका आई है कि एक समय देवकी-पुत्र कृष्ण के लिए उन के गुरु आंगिरस घोर ऋषि ने उपदेश दिया कि जब मनुष्य का अन्त समय हो तब उसे इस तीन वाक्यों का उच्चारण करना चाहिए।

(१) त्वम् अक्षितमसि। (हे ईश्वर आप अक्षित हैं।)
(२) त्वम् अच्युतमसि। (हे ईश्वर आप अविनश्वर हैं।)
(३) त्वम् प्राणसंशितमसि। (हे ईश्वर आप सर्वजीवनप्रद सूक्ष्मतम हैं।)

उपनिषत्कार का कथन है कि कृष्ण इस उपदेश को सुनकर अपिपास (अन्य किसी उपदेश के लिए तृष्णा रहित) हो गये। (छान्दोग्योपनिषद् ३/१७/६८)। विचारणीय बात यह है कि जब घोर ऋषि ने कृष्ण महाराज को अन्त समय की एक शिक्षा दी थी तो फिर कृष्ण ने क्यों यह समझ लिया कि अब उन्हें और किसी शिक्षा की

जरूरत नहीं रही। इस प्रश्न को लक्ष्य में रखते हुए जब हम उपर्युक्त मन्त्र पर दृष्टि डालते हैं तो प्रतीत होता है कि मन्त्र के दूसरे भाग में दो बातों के स्मरण करने का विधान है, एक 'ओ३म्' दूसरे 'अपने किये हुए कर्मों का'।

वेद के समस्त मन्त्र और ऋचाएँ दो भागों में विभक्त हैं–एक भाग उपदेश रूप में है, जिसमें मनुष्यों को उपदेश रूप में अनेक शिक्षाएँ दी गई हैं जिनके आचरण में लाने से वे अपने को उच्च कोटि का मनुष्य बना सकते हैं। परन्तु ईश्वर ने मनुष्य को कर्म करने में स्वतन्त्र भी बनाया है। इसलिए जो शिक्षाएँ उपदेश से दी गई हैं, मनुष्य का अधिकार है कि उन्हें ग्रहण करे या न करे, क्योंकि वह कर्म करने में स्वतन्त्र है। मन्त्र के दूसरे भाग में जो कुछ है, नियम रूप में वर्णित हुआ है। जो शिक्षा नियम रूप में है, उन्हें किसी की शक्ति नहीं कि उल्लंघन कर सके, ये ही नियम हैं, जिन्हें प्राकृतिक नियम (Laws of Nature) कहते हैं और अटल हैं। मन्त्र में जो उपदेश हैं, उनमें से एक यह है कि

"ओ३म् क्रतो स्मर" (हे जीव ओ३म् का स्मरण कर) नियत रूप है, और अटल है। इस शिक्षा को लक्ष्य में रखते हुए जब मनुष्य जीवन पर दृष्टि डालते हैं, तब वह भी हमें दो भागों ही में विभक्त दिखलाई देता है। मनुष्य–जीवन का पहला भाग उस समय तक रहता है, जब तक वह मृत्यु–शय्या पर नहीं आता। दूसरा भाग वह है, जिसमें मनुष्य मृत्यु–शय्या पर आकर अन्तिम श्वास लेने की तैयारी करता और लेता है। मनुष्य–जीवन का पहला भाग वह है, जिसमें मनुष्य को कर्म करने की स्वतन्त्रता होती है। उसमें मनुष्य उल्टा–सीधा जिस प्रकार का भी चाहे कर्म कर सकता है, परन्तु जीवन के दूसरे भाग में वह स्वतन्त्रता बाकी नहीं रहती। मनुष्य पहले भाग में जिस प्रकार की भी परिस्थिति और प्रभाव में रहता है, दूसरे भाग में जो चित्र रूप होता है, उन्हीं परिस्थितियों और प्रभावों का चित्र खिंचा हुआ दिखाई देता हैं यदि एक व्यक्ति ने वित्तैषणा धन के प्राप्त करने की इच्छा और उद्योग ही में अपना जीवन व्यतीत किया है, तो जीवन के अन्तिम भाग में इसी का चित्र खिंचेगा, अर्थात्

वह धन ही का स्मरण करता हुआ इस दुनिया से कूच करेगा। गजनी के प्रसिद्ध लुटेरे बादशाह महमूद का जीवन इस विषय में उदाहरण रूप है। यदि उसने अपना सारा जीवन धन के लिए लूटमार करने में लगाया था तो अन्त में उसी धन के लिए रोता हुआ वह संसार से गया। यही अवस्था उनकी होती है जिन्होंने पुत्रैषणा अथवा लोकैषणा में अपना जीवन व्यतीत किया है। निष्कर्ष यह है कि मनुष्य, जीवन के पहले भाग को जिस प्रकार के भी कार्य में लगाता है अन्त में जीवन के दूसरे भाग में, उसे उसी का स्मरण करते हुए इस दुनिया से जाना पड़ता है।

इतनी व्याख्या के बाद अब उस प्रश्न का सुगमता से समाधान हो जाता है, कि क्यों कृष्ण आचार्य घोर के उपदेश को सुनकर अपिपास हुए। कृष्ण ने समझ लिया कि अन्त में "त्वम् अक्षितमसि" इत्यादि वाक्य तब मुँह से निकल सकते हैं, जब जीवन के पहले भाग में इनका स्मरण और जप किया हो। इस प्रकार घोर ऋषि का उपदेश केवल अन्त समय का ही एक कर्त्तव्य नहीं था, किन्तु सारे जीवन का यह कार्यक्रम था। जब सारे जीवन का कार्यक्रम आचार्य ने बतला दिया तब फिर कृष्ण को क्या जरूरत बाकी रही थी कि वे और भी किसी शिक्षा की आकांक्षा करते। उपनिषद् ने जो शिक्षा मनुष्य के कर्त्तव्य के सम्बन्ध में ऊपर दी है यदि मनुष्य उसका ठीक रीति से पालन करे तो अवश्य उसकी वही अवस्था होगी कि अन्त में वह ओ३म् का स्मरण करते हुए संसार से रुखसत होगा। यह मन्त्र एक प्रकार की परीक्षा का विधान है। उपनिषद् की शिक्षा जिस कार्यक्रम से जीवन व्यतीत करने का विधान करती है, यदि मनुष्य उसी के अनुसार चलेगा तो अवश्य इस परीक्षा में उत्तीर्ण होगा, अर्थात् जीवन के दूसरे भाग में, ओ३म् का स्मरण करते हुए अन्तिम श्वास खींचेगा। यदि उस शिक्षा पर न चलेगा तो कदापि ओ३म् का स्मरण न कर सकेगा। यही परीक्षा की अनुत्तीर्णता होगी। इसलिए प्रत्येक नर-नारी का कर्त्तव्य है कि इस प्रकार से यत्नवान् हो कि जब परीक्षा का समय आये तो उत्तीर्णता प्राप्त करें।

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठान्ते नम उक्तिं विधेम ॥ १८ ॥

भाषार्थ–(अग्ने) हे प्रकाशस्वरूप (देव) तेजस्वी ईश्वर (राये) ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए (सुपथा) अच्छे मार्ग से हम को (नय) चलाइये। आप (अस्मान्) हमारे (विश्वानि) सम्पूर्ण (वयुनानि) कर्मों को (विद्वान्) जानने वाले हैं (अस्मत्) हम को (जुहुराणम्) उलटे मार्ग पर चलने रूप (एनः) पाप से (युयोधि) बचाइये। इसलिए (ते) आप को हम (भूयिष्ठाम्) बार-बार (नमः उक्तिम्) नमस्कार (विधेम) करते हैं।

व्याख्या

यह मन्त्र उपनिषत् का अन्तिम मन्त्र है। आर्य शैली के अनुसार सारा यत्न करके भी अन्त में मनुष्य को ईश्वर की दया ही का आश्रय लेना चाहिए। उसी के अनुसार इस प्रार्थना विधायक मन्त्र के साथ उपनिषद् समाप्त होती है। मन्त्र में पाप का कैसा सुन्दर लक्षण कर दिया है। पाप क्या है ? उलटे मार्ग पर चलना। इस उलटे पाप के मार्ग पर न चलकर सीधे और पुण्य पथ का पथिक बनने के लिए, ईश्वर ही की पथप्रदर्शकता की आवश्यकता है। वही आदि गुरु है। वही महान् शिक्षक है। उसी का आश्रय लेने से बेड़ा पार हो सकता है। इसलिए सब कुछ यत्न करके भी अन्त में उसी का आश्रय लेना चाहिए।

ओ३म्

उपनिषद् रहस्य

एकादशोपनिषद्

(मूल, शब्दार्थ, व्याख्या और श्लोक-मन्त्र शब्दानुक्रमणिका सहित)

भारतीय मनीषा का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण उपनिषद् हैं, ये आध्यात्मिक चिन्तन के सर्वोत्कृष्ट नवनीत हैं।

उपनिषद् शब्द का एक अर्थ 'रहस्य' भी है। उपनिषद् अथवा ब्रह्म-विद्या अत्यन्त गूढ़ होने के कारण साधारण विद्याओं की भाँति हस्तगत नहीं हो सकती, इन्हें 'रहस्य' कहा जाता है। इन रहस्यों को उजागर करने वालों में महात्मा नारायण स्वामीजी का नाम उल्लेखनीय है।

व्याख्याकार

महात्मा नारायण स्वामी
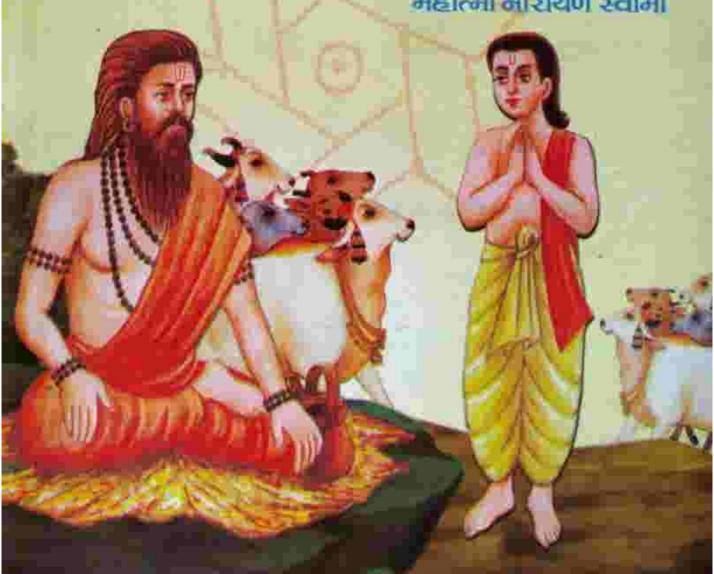
केन उपनिषद्

॥ ओ३म् ॥

कुछ-एक प्रारम्भिक शब्द

उपनिषद् भवन की आधारशिला ईशोपनिषद् (यजुर्वेद का चालीसवां अध्याय) है। इसी उपनिषद् की शिक्षाओं को लक्ष्य में रखकर आगे के उपनिषद् बने हैं। ईशोपनिषद् वेद का एक अध्याय होने से मन्त्रोपनिषद् कहा जाता है। अन्य प्रायः सभी उपनिषद् शाखा, आरण्यक और ब्राह्मण ग्रन्थों के अंश हैं। इसीलिए वे मन्त्रोपनिषद् नहीं कहे जाते। यह (केन) उपनिषद् सामवेद के तलवकार (जैमिनीय) ब्राह्मण के नवम अध्याय में है। इसलिए इस उपनिषद् का प्राचीन नाम तलवकारोपनिषद् है परन्तु चूंकि यह उपनिषद् "केन" शब्द से प्रारम्भ होती है, इस लिए इस को ईशोपनिषद् की भांति केनोपनिषद् कहा जाने लगा। ईशोपनिषद् के चौथे मन्त्र में–'नैनद्देवा आप्नुवन्'–यह एक वाक्य आया है, जिसका अर्थ यह है कि ईश्वर इन्द्रियों से प्राप्त होने योग्य नहीं है। इसी मूल शिक्षा के आधार पर इस (केन) उपनिषद् की रचना हुई है। समस्त (केन) उपनिषद् में इसी शिक्षा का विस्तार हुआ है। यह उपनिषद् भी ईशोपनिषद् की तरह यद्यपि छोटी सी उपनिषद् है, परन्तु इसकी भी शिक्षाएं बड़े मारके की हैं।

ब्रह्मज्ञान का अर्थ क्या है? हम ईश्वर को जानते हैं, इसका मतलब क्या है? इस प्रश्न का उत्तर इसी उपनिषद् में दिया गया है। उपनिषद् के दूसरे खण्ड का पूर्वार्ध इसी प्रश्न के हल करने के लिए रचा गया है। उपनिषद् का उत्तर यह है कि ईश्वर को हम पूर्णरीति से जानते हैं और न ही ऐसा है कि उसे कुछ भी नहीं जानते, जैसा कि अज्ञेयवाद (Agnosticism) की शिक्षा है। इस दिशा के भीतर कितना उत्कृष्ट भाव निहित है कि हम उसे (ईश्वर को) जितना भी जानते हैं, उससे तो आस्तिक (ईश्वर-विश्वासी) बनें अैर जो नहीं जानते उसकी खोज करें जिससे ईश्वर-चिन्तन से कभी विमुख न होने पावें।

इसी ईश्वर की खोज का नाम ब्रह्मविद्या है। उपनिषद् में इसी प्रकार की अनेक मर्म की बातें कही गई हैं जिसको टीका में स्थल-स्थल पर अच्छी तरह खोलकर प्रकट कर दिया गया है।

जिस प्रकार यह उपनिषद् एक (जैमिनी) ब्राह्मण का भाग है और केनोपनिषद् कहलाता है, इसी प्रकार अथर्ववेद का भी एक सूक्त है जो "केन" शब्द ही से प्रारम्भ होता है और इसी लिए उसे भी केन सूक्त कहते हैं। उपनिषद् की अपेक्षा उस सूक्त में अधिक प्रश्न हैं और प्रश्न रूप ही में उसमें अनेक उत्तम शिक्षाएं दी गई हैं। इस टीका के पढ़ने वाले उस सूक्तान्तर्गत वर्णित शिक्षाओं से भी लाभ उठा सकें, इसलिए इस टीका के अन्त में परिशिष्ट रूप में वह सूक्त, अर्थ और व्याख्या सहित उद्धृत कर दिया गया है। ईश्वर कृपा करें कि जिससे उपनिषद् और सूक्त की शिक्षाएं इस टीका के अध्ययन करने वालों के हृदय में अपना स्थान बनावें और उनके उपकार का कारण बनें।

—नारायण स्वामी

॥ ओ३म् ॥

सामवेदीय तलवकार

केन उपनिषद्

प्रथमः खण्डः

केनेषितं पतति प्रेषितं मनः केन प्राणः प्रथमः प्रैतिः युक्तः। केनेषितां वाचमिमां वदन्ति चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति ॥ १ ॥

अर्थ–किसकी प्रेरणा से मन इच्छित विषय पर गिरता है। किससे नियुक्त हुआ (प्रथमः) फैला हुआ प्राण चलता है (केन इषिताम्) किससे प्रेरित हुई (इमां वाचम् वदन्ति) यह वाणी बोलती है। (कः उ देवः चक्षुः श्रोत्रं युनक्ति) कौन देव आँखों और कानों को चलाता है ॥ १ ॥

श्रोत्रस्य श्रोत्रं, मनसो मनो, यद् वाचो ह वाचं च स उ प्राणस्य प्राणः। चक्षुषश्चक्षुरतिमुच्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥ २ ॥

अर्थ–वह कान का कान और मन का मन है। जो निश्चय से वाणी का वाणी है वही प्राण का प्राण और आँख की आँख है। (अतिमुच्य) (इन इन्द्रियों से) छूटकर धीर पुरुष इस लोक से (प्रेत्य) पृथक् होकर अमर होते हैं ॥ २ ॥

व्याख्या–मैं कौन हूँ ? कहाँ से आया हूँ ? जगत् क्या है ? किसने रचा है ? ये प्रश्न हैं, जो स्वाभाविक शान्ति के साथ बैठे हुए मनुष्यों के हृदयों में उत्पन्न हुआ करते हैं। इन्हीं प्रश्नों के समाधान की इच्छा ने फिलौसफी (दर्शनशास्त्र) को जन्म दिया। इसलिए नियम बनाया गया है कि फिलौसफी का अधिकतर विस्तार उन्हीं देशों में हुआ करता है जहाँ शान्ति का साम्राज्य स्थापित हुआ करता है। भारतवर्ष में क्यों इतना अधिक फैलाव दर्शनशास्त्र का हुआ, जिसका उदाहरण पृथ्वी के अन्य भाग में नहीं पाया जाता ? इसका कारण यही है कि

भारतवर्ष राम (शान्तिमय) राज्य के लिए प्रसिद्ध है। योरुप में फिलौसफी का थोड़ा बहुत फैलाव जो हुआ उसका होना उसी समय सम्भव हुआ जब योरुप से पोपडम की चढ़ी हुई कमान उतारी और योरुप निवासियों को विचारों के प्रकट करने की स्वतन्त्रता मिली। दर्शन के मूल प्रश्न मनुष्य की नैसर्गिक इच्छा के उत्कृष्ट रूप हुआ करते हैं। अतः इन्हीं नैसर्गिक इच्छा की तह से उठे हुए प्रश्नों के साथ इस उपनिषद् का प्रारम्भ होता है। एक जिज्ञासु के शान्त हृदय में प्रश्न उठता है कि मन किस प्रकार संकल्प-विकल्प करता है। कहाँ से उसमें इतना वेग आ जाता है कि जिससे यह कल्पनातीत काल में असंख्य मील दूर पहुँच जाया करता है ? किस प्रकार प्राण अपना विलक्षण काम करके प्राणियों के जीवन का आधार बना हुआ है ? चक्षु, श्रोत्रादि इन्द्रियों में जड़ प्रकृति का कार्य होते हुए भी किस प्रकार देखने-सुनने आदि की विचित्र क्रियायें हुआ करती हैं ? उपनिषद् के ऋषि ने जिज्ञासु का उत्तर दिया कि एक शक्ति है और हाँ, वह एक विलक्षण शक्ति है, जो मन, श्रोत्र आदि इन्द्रियों में अपना-अपना व्यापार करने की योग्यता प्रदान करती है और उसी की प्रदान की हुई योग्यता से मन आदि मिट्टी के ढेले के सदृश होते हुए भी वह विलक्षण काम करते हैं कि जिनकी कार्यप्रणाली समझने में विज्ञान के टिमटिमाते हुए दीपक धुंधले पड़ रहे हैं और तर्क के तीव्र आलोचक शास्त्र भी कुण्ठित हो रहे हैं* उत्तर के अन्तिम भाग में यह संकेत कर दिया गया है कि यदि तुम उस शक्ति का सामीप्य प्राप्त करके अमरता का जीवन प्राप्त करना चाहते हो तो तुम्हें इन्द्रियों के कार्यों (विषयों) में लिप्त नहीं होना चाहिए। उनसे

* जोजेफ मेकोब ने अपनी एक पुस्तक में लिखा है कि, सम्प्रति मस्तिष्क एक ऐसी तमःपूर्ण गुफा है कि उसमें व्यवच्छेदकों और शरीर विद्या के पण्डितों के दीपक, मस्तिष्क की गुप्त समस्याओं को सुलझाने की जगह और उलझन बढ़ा रहे हैं।
(Evolution of mind by J. Mecobe P. 15 and 16)

काम लो, उनको अपना-अपना व्यापार करने की स्वतन्त्रता दो, परन्तु तुम उनके कार्यों से निरपेक्ष रहो, उनमें फंसों नहीं, उन पर अधिकार रखो ।। २ ।।

न तत्र चक्षुर्गच्छति, न वाग्गच्छति, नो मनो न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यादन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि। इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद् व्याचचक्षिरे ॥ ३ ॥

अर्थ—न वहाँ आँख पहुँचती है, न वाणी पहुँचती है और न मन (इसलिए उसको) न जानते हैं, न जान सकते हैं, जिस से उसका उपदेश किया जा सके। वह ज्ञात वस्तुओं से पृथक् है और अज्ञात से भिन्न है। ऐसा पूर्व आचार्यों से सुनते हैं, जो हमको उसका उपदेश करते आए हैं ।। ३ ।।

व्याख्या—क्यों मनुष्यों को इन्द्रियों के (कार्यों) से निरपेक्ष रहना चाहिए ? इसका कारण, उपनिषद् के इस वाक्य में दिया गया है और वह कारण यह है कि उस विलक्षण शक्ति तक इन इन्द्रियों की पहुँच नहीं है। इसलिए इनके माध्यम से कोई उस शक्ति तक नहीं पहुँच सकता ? क्यों इन्द्रियों की वहाँ पहुँच नहीं है ? इसका कारण मालूम होना चाहिये। उपनिषद् वाक्य में दो बातें कही गई हैं, पहली बात तो यह (इन्द्रियों की पहुँच न होने से सम्बद्ध) है, दूसरी बात यह है कि उस (अपूर्व) शक्ति को न जानते हैं, न जान सकते हैं क्योंकि वह विदित और अविदित दोनों से पृथक् है। यदि दूसरी बात ठीक है तो इन्द्रियों पर क्या निर्भर है, वह प्रत्येक ही की पहुँच के बाहर है क्योंकि अज्ञेय है। इसलिए पहले इसी दूसरी बात पर विचार करना चाहिये कि क्या वह (विलक्षण) शक्ति अज्ञेय है ?

कतिपय विचारकों ने, जिनमें पूर्व और पश्चिम दोनों के विद्वान् सम्मिलित हैं, उपनिषद् को अज्ञेयवाद प्रतिपादिका समझा है। पश्चिमी विद्वानों में हर्बर्ट स्पेन्सर और जर्मनी के विद्वान् रेमौंड (Dr. Bois Raymond) मुक्त रीति से इस वाद (अज्ञेयवाद) (Agnosticism) के पोषक थे। स्पेन्सर ने धर्म

के अन्तिम ध्येय ब्रह्म के साथ विज्ञान के अन्तिम ध्येय दिशा (Space), काल (Time), प्रकृति (Matter), गति (Motion), शक्ति (Force) और मस्तिष्क (Mind) को भी अज्ञेय ठहराया था, परन्तु उसका यह वाद सीमित था। उसने कहा कि ब्रह्म अथवा विज्ञान की मूल वस्तु अज्ञेय है। हम उन्हें नहीं जानते। परन्तु जर्मनी के विचारक ने इस पर सन्तोष नहीं किया। उसने एक पग और आगे बढ़ाया। स्पेन्सर ने जहाँ कहा था कि 'हम उसे नहीं जानते' (Ignoramous –We do not know) वहाँ रेमौंड ने कहा कि, हम उसे जानेंगे भी नहीं। (Ignoramous = We shall never know) इन पश्चिम के विद्वानों और इसका अनुकरण करने वाले कतिपय भारतीय विद्वानों ने भी एक ओर इस प्रकार उस शक्ति को अज्ञेय कहा, दूसरी ओर कुछेक ऐसे ही विद्वानों ने अज्ञेयवाद सम्बन्धी अपने कथन का आधार उपनिषद् के इसी वाक्य को ठहराया। परन्तु ऐसा कहने में वे भ्रम में थे और हैं। उन्होंने उपनिषद् के इस वाक्य का ठीक भाव नहीं समझा। उपनिषद् के इस वाक्य में जहाँ 'न विद्यो न विजानीमः' अर्थात् न उसे जानते और न विशेष यत्न करने से जान सकते हैं, 'विदितादथो अविदितादधि' अर्थात् वह ज्ञात और अज्ञात दोनों की हद से बाहर है, दो शब्द परिणाम रूप में प्रयुक्त हुए हैं वहाँ इससे पहले उसका कारण दे दिया गया है और वह कारण यह है कि अर्थात् ईश्वर तक इन्द्रियों की पहुँच नहीं है इसलिए अनिवार्य परिणाम यही निकल सकता है कि इन्द्रियों के द्वारा न उसको जानते और न जान सकते हैं और यह भी कि इन्द्रियों के द्वारा ही तो ज्ञात और अज्ञात है, उससे भी वह बाहर है, कल्पना करो कि, इन्द्रियों द्वारा १०० बातें जानी जा सकती हैं और एक व्यक्ति ने अपनी इस समय तक की आयु में उनमें से ५० बातों को जान लिया है। परन्तु बाकी ५० को अभी तक नहीं जान सका है। परन्तु उन्हें यत्न करने से जान सकता है तो उसके लिए पहली ५० बातें ज्ञात (विदित) और दूसरी ५० बातें अज्ञात

(अविदित) हैं। उपनिषद् की शिक्षा यह है कि वह (विलक्षण) शक्ति इस ज्ञात और अज्ञात दोनों से बाहर है। उपनिषद् के इस वाक्य का अब भाव स्पष्ट हो गया कि चूँकि उस शक्ति तक इन्द्रियाँ नहीं पहुँच सकतीं, इसलिए कोई भी इन्द्रियों के द्वारा उस शक्ति को नहीं जान सकता[१]। वह किस प्रकार जाना जा सकता है, इसका वर्णन स्वयं उपनिषत्कार ने इसी उपनिषद् में आगे कर दिया है, जिसे आगे के पृष्ठ प्रकट करेंगे ।। ३ ।।

यद्वाचाऽनभ्युदितं, येन वागभ्युद्यते।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि, नेदं यदिदमुपासते ।। ४ ।।
यन्मनसा न मनुते, येनाहुर्मनो मतम्।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि, नेदं यदिदमुपासते ।। ५ ।।
यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूंषि पश्यति।

---

१. एक दूसरा स्थल भी उपनिषदों में है जिसका ठीक भाव न समझकर उससे भी ईश्वर के अज्ञेय होने का स्वप्न अनेक विद्वान् देखा करते हैं। बृहदारण्यकोपनिषद् में एक जगह वर्णित है कि ब्रह्म (प्रकृति अर्थात् पञ्चभूतों के समुदाय) के दो रूप हैं एक मूर्त (स्थूल दृश्य), दूसरा अमूर्त (सूक्ष्म दृश्य)। इनमें से अग्नि, जल और पृथ्वी मूर्त हैं शेष आकाश और वायु अमूर्त हैं। इसी शिक्षा को उपर्युक्त कथन के बाद अध्यात्म रूप में वर्णन करते हुए प्रकट किया गया है कि शरीर में जितना अंश अग्नि, जल और पृथ्वी का है वह मूर्त (स्थूल दृश्य) है और इसके अतिरिक्त प्राण (रूप में वायु) और शरीर के भीतर का आकाश जो पञ्चभूतों के अवशिष्ट अंग हैं, अमूर्त (सूक्ष्म और अदृश्य) हैं। जहाँ तक वर्ण के बाद उपनिषद् में ब्रह्म के लिए आदेश "नेति नेति" कथन किया गया है। अर्थात् ब्रह्म के इन पञ्चभूतों के अवयव रूप मूर्त और अमूर्त में से (नेति नेति = न इति, न इति) न ऐसा (मूर्त) है और न ऐसा (अमूर्त) है।

(बृहदारण्यकोपनिषद् अध्याय २, ब्राह्मण ३)

उपनिषद् का वाक्य स्पष्ट है। उसमें साफ तौर से सब वर्णन कर दिया गया है कि ब्रह्म अप्राकृतिक है। वह न प्रकृति का उपादान कारण है, न प्रकृति उसका उपादान कारण (Matterial cause) है, और न वह स्वयं प्रकृति का स्थूल (मूर्त) या सूक्ष्म (अमूर्त) रूप ही है। अर्थात् इसकी सत्ता प्रकृति से सर्वथा स्वतन्त्र है। परन्तु कई विद्वान् संक्षिप्त से इस सारे ब्राह्मण को प्रारम्भ से अन्त तक न पढ़कर प्रारम्भ की ५ कण्डिकाओं को छोड़कर केवल कण्डिका ६ में वर्णित आदेश "नेति नेति" को लेकर ब्रह्म के अज्ञेय होने का व्यर्थ ढिंढोरा पीटते हैं।

तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि, नेदं यदिदमुपासते ॥ ६ ॥
यच्छ्रोत्रेण न शृणोति येन श्रोत्रमिदं श्रुतम्।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि, नेदं यदिदमुपासते ॥ ७ ॥
यत्प्राणेन न प्राणिति, येन प्राणः प्रणीयते।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि, नेदं यदिदमुपासते ॥ ८ ॥

इति प्रथमः खण्डः ॥ १ ॥

अर्थ—जो वाणी द्वारा प्रकाशित नहीं होता, जिससे वाणी का प्रकाश होता है, उसी को तू ब्रह्म जान, जिसका वाणी से सेवन किया जाता है, वह (ब्रह्म) नहीं है ॥ ४ ॥

जिसका मन से मनन नहीं किया जाता, जिससे मन मनन करता है, उसको तू ब्रह्म जान, जिसका मन से मनन किया जाता है वह (ब्रह्म) नहीं है ॥ ५ ॥

जो आँख से नहीं देखा जाता, जिससे आँख देखती है उसी को तू ब्रह्म जान, जिसका आँख से सेवन किया जाता है वह (ब्रह्म) नहीं है ॥ ६ ॥

जो कान से नहीं सुना जाता, जिससे कान सुनता है, उसी को तू ब्रह्म जान, जिसका सेवन कान से किया जाता है वह (ब्रह्म) नहीं है ॥ ७ ॥

जो प्राण[१] से प्राण के व्यापार में नहीं आता, जिससे प्राण अपना व्यापार करता है, उसी को ब्रह्म जान, जो प्राण के व्यापार में आता है वह (ब्रह्म) नहीं है ॥ ८ ॥

व्याख्या—वह विलक्षण शक्ति (ब्रह्म) इन्द्रियों की पहुँच से परे है। न केवल यह कि इन्द्रियाँ वहाँ नहीं पहुँच सकतीं बल्कि यह भी कि इन्द्रियों द्वारा उसके स्वरूप का प्रकाश भी

१. प्राण को तीन प्रकार से समझना चाहिए।

(क) प्राण एक वायु है, जिसके दस भेद हैं और इन्हीं से समस्त शरीर का व्यापार चला करता है। प्राण के १० भेद ये हैं—

१. प्राण—श्वास का बाहर निकालना।
२. अपान—श्वास का भीतर ले जाना।
३. समान—नाभिस्थ, शरीर में रस पहुँचाना।

नहीं हो सकता। उस शक्ति तक इन्द्रियों की पहुँच न होने का मतलब यह है कि उसकी प्राप्ति का साधन इन्द्रियाँ नहीं हैं और उसके स्वरूप का प्रकाश न कर सकने का तात्पर्य यह है कि उसके स्वरूप, उसके गुण, कर्म का याथातथ्यत: (ठीक-ठीक) प्रकटीकरण, इन्द्रियों द्वारा नहीं हो सकता। इसी अन्तिम बात का वर्णन उपर्युक्त इन ५ उपनिषद् वाक्यों में किया गया है। पहले वाक्य में वाणी की असमर्थता प्रकट की गई है। अन्यों में मन, चक्षु, श्रोत और प्राण के लिए कहा गया है कि वह शक्ति इनके व्यापार में भी नहीं आ सकती, अर्थात् हम उस को न देख-सुन सकते हैं, उसका वर्णन कर सकते हैं, न उसे मन में ला सकते हैं। न इन्द्रियों में श्रेष्ठ प्राण के द्वारा उसका प्रकाश कर सकते हैं। आखिर उसका ज्ञान किस प्रकार

---

४. उदान–कण्ठस्थ, अन्न पान को भीतर पहुँचाना।
५. व्यान–समस्त शरीर में रक्त का संचार करना।
६. नाग–कै तथा मल का निकालना।
७. कूर्म्म–निमेष उन्मेष का कारण।
८. कृकल–भोजन-पान की इच्छा से सम्बन्धित।
९. देवदत्त–जम्हाई आदि का कारण।
१०. धनञ्जय–मूर्छा बेसुध होना, खुर्राटा लेना।

अन्तिम ५ प्राणों के सम्बन्ध में यहाँ एक सन्दर्भ उद्धृत किया जाता है–

नाग-कूर्म-कृकल-देवदत्त-धनञ्जयरूपा: पञ्च वायव:।
एतेषां कर्माणि च यथाक्रमं उद्गारोन्मीलन-क्षुधाजनन-विजृम्भण-मोहरूपाणि ।।
(संगतिदर्पण अध्याय १, श्लोक ४३, राजा सुरेन्द्र मोहन द्वारा सम्पादित संस्करण)

(ख) दर्शनों में प्राण इन्द्रिय समुदाय का नाम है, परन्तु उपनिषदादि वेदान्त ग्रन्थों में प्राण एक पृथक् (अन्त:) करण है, जिसकी समस्त इन्द्रियों से तरजीह दी गई है।

(ग) सूक्ष्म प्राण एक शक्ति है, जिसके लिए अंग्रेजी भाषा के लेखकों ने Human Electricity magnotism, vital force, vital energy आदि अनेक शब्द प्रयोग किये हैं। इसी शक्ति के समस्त शरीर के भीतरी और बाहरी व्यापार हुआ करते हैं।

हो ? इसका सूक्ष्म विवरण तो आगे मिलेगा, परन्तु स्थूल रीति से उसके समझ लेने को उपनिषद् में इस जगह प्राण शब्द इन्द्रिय-विशेष के लिए प्रयुक्त हुआ है।

कुछ संकेत यहाँ कर दिया गया है और वह संकेत यह है कि तुम उस विलक्षण शक्ति के लिए समझो कि वह शक्ति वह है जिसने समस्त इन्द्रियों में अपना व्यापार करने की योग्यता प्रदान की है। उस विलक्षण शक्ति की विलक्षणता यही है कि उसने प्रकृति को अव्यक्त (Latant) होते हुए भी जगत् रूप में परिणत करके व्यक्त (Patent) कर दिया है, परन्तु स्वयं अव्यक्त रही। एक कवि ने क्या अच्छा कहा है–

राजे हस्ती[१] को मेरे मुझ पर हवेदा[२] कर दिया।
गुञ्चये[३] दिल को नसीमे[४] इश्क ने वा[५] कर दिया॥
भेज कर महखानए[६] दुनिया में साकी ने मुझे।
खुद रहा परदे में मेरा राज सफशा[७] कर दिया॥

---

१. जीवन का भेद, २. प्रकट, ३. कली, ४. प्रेम समीर, ५. खोल देना, ६. जगत् को कवि ने शराबखाना ठहराया है, ७. भेद खोल देना।

द्वितीय खण्ड

यदि मन्यसे सुवेदेति, दभ्रमेवापि नूनं त्वं ब्रह्मणो रूपम्। यदस्य त्वं यदस्य देवेष्वथ नु मीमांस्यमेव ते मन्ये विदितम् ॥ १ ॥

अर्थ–यदि तू मानता है (गुरु शिष्य से कहता है) कि (ब्रह्म को) अच्छी तरह जानता है तो निश्चित तू ब्रह्म के रूप को बहुत थोड़ा जानता है। जो उसका रूप तुझमें है और जो उसका रूप देवों में होना ज्ञात है, उसको तेरे लिए मैं खोज करने योग्य ही मानता हूँ ॥ १ ॥

नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च।
यो नस्तद्वेद तद्वेद वेदेति वेद च ॥ २ ॥

अर्थ–(गुरु कहता है) मैं नहीं मानता कि (वह ब्रह्म) अच्छी तरह से जानने योग्य है, (नो) न यह मानता हूँ कि बिलकुल जानने योग्य नहीं है, (क्योंकि उसको) जानते भी हैं। (नः) हममें से (यः) जो कोई (तद् वेद) उसको जानता है वह (तद्, वेद) उसको जानता है। (नो) कि (न वेद इति) उसे नहीं जानता, (वेद च) और जानता भी है ॥ २ ॥

यस्यामतं तस्य मतं, मतं यस्य न वेद सः।
अविज्ञातं विज्ञातां, विजानतामविजानताम् ॥ ३ ॥

अर्थ–जिसका (ब्रह्म के सम्बन्ध में) अमत है अर्थात् वह यह अभिमान नहीं रखता कि ब्रह्म को अच्छी तरह जानता है (तस्य मतम्) वही कुछ जानता है, परन्तु जिसका मत है अर्थात् जो अभिमान रखता है कि वह उसे जानता है (न वेद सः) वह कुछ नहीं जानता। ज्ञानाभिमानियों के लिए वह अज्ञात और स्वीकार करने वालों के लिए कुछ ज्ञात है ॥ ३ ॥

व्याख्या–ब्रह्म को जानने के सम्बन्ध में मन्तव्य क्या होना चाहिए, उसकी इन मन्त्रों में बड़ी महत्वपूर्ण शिक्षा दी गई है। गुरु ने शिष्य को सावधान किया है कि मनुष्यों में यह विचार

कभी नहीं रहना चाहिये कि वे ब्रह्म को पूर्णतया जानते हैं। यह चेतावनी देने के बाद गुरु ने अपना (उपनिषद् का) मन्तव्य इस प्रकार प्रकट किया है कि वह न तो यह मानता है कि ब्रह्म को अच्छी तरह जानता है और न यह है कि उसे कुछ भी नहीं जानता इसलिए उपनिषद् के शब्दों में मन्तव्य यह हुआ कि "न वेदेति वेद च' अर्थात् उसे नहीं भी जानते और जानते भी हैं।" इसका भाव यह है कि ब्रह्म को जितना भी जानते हैं उससे मनुष्य को आस्तिक (ईश्वर-विश्वासी) बना रहना चाहिए और जो कुछ नहीं जानते उसके जानने के लिए उस (ब्रह्म) का जिज्ञासु रहना चाहिए। इसी भाव को प्रकट करने के लिए पहले वाक्य में ब्रह्म के सम्बन्ध में "मीमांस्यंमेव" (खोज करने योग्य ही) शब्द प्रयुक्त हुए हैं। क्यों ब्रह्म के सम्बन्ध में इस प्रकार की शिक्षा दी गई है ? इसका कारण यह है कि इस प्रकार की शिक्षा देकर ऋषियों ने जन-समाज को नास्तिकता या अज्ञेयवाद के गड्ढे में गिरने से बचा लिया।

इसका विवरण इस प्रकार है कि मनुष्य यदि ईश्वर के सम्बन्ध में यह विचार रखे कि उसे अच्छी तरह जानता है तो इसका फल यह है कि उसमें ईश्वर के लिए उपेक्षा बुद्धि पैदा होगी। कारण स्पष्ट है और वह यह कि जिस चीज को आदमी अच्छी तरह जान लिया करता है, फिर उसकी ओर ध्यान नहीं दिया करता। एक विद्यार्थी, जिसने एम०ए० या आचार्य परीक्षा में उत्तीर्णता प्राप्त कर ली है, वह अंग्रेजी या संस्कृत की प्रारम्भिक पुस्तकों की ओर ध्यान भी नहीं देता क्योंकि उनके लिए उसका विश्वास है कि वे भली-भांति जानी हुई पुस्तकें हैं। यदि इस प्रकार मनुष्यों में ब्रह्म के लिए उपेक्षा बुद्धि पैदा हो जावे तो फल यह होगा कि वे (मनुष्य) न ब्रह्म की ओर ध्यान देंगे, न उसके गुणों का जप करेंगे और ऐसा करने से ईश्वरोपासना से जो मनुष्यों का गुणवृद्धि द्वारा, कल्याण हुआ करता है, उससे वञ्चित रहेंगे। अब मन्तव्य के दूसरे पहलू पर विचार कीजिए। यदि मनुष्य अज्ञेयवादियों के सदृश यह समझने

और मानने लगे कि ब्रह्म को जान ही नहीं सकते तो फिर उसमें निराशा के भाव उत्पन्न होंगे और वह समझने लगेगा कि जिस वस्तु को हम प्राप्त नहीं कर सकते अथवा जिस वस्तु का प्राप्त होना सम्भव ही नहीं, उसके लिए यत्न करना निरर्थक और समय को व्यर्थ नष्ट करना है। इसका भी फल वही होगा कि मनुष्य निराशा से न ईश्वर का स्मरण करेंगे और न उसकी उपासना, और इस प्रकार उसके फलस्वरूप गुणोत्कर्ष से वञ्चित रहेंगे और अपने ही हाथों अपना भविष्य बिगाड़ेंगे।

अस्तु, देख लिया गया कि उपनिषद् ने ब्रह्मज्ञान के सम्बन्ध में इस मन्तव्य की शिक्षा देकर कि उसे कुछ जानते हैं और कुछ नहीं जानते। जो जानते हैं वे आस्तिक बने रहें और जो नहीं जानते उससे उसकी खोज करें। मनुष्य जाति का बड़ा उपकार किया है और उसे दोनों ओर के गड्ढों में गिरने से बचा लिया है। उपनिषद् के तीसरे वाक्य में उपर्युक्त सिद्धान्त ही का दूसरे प्रकार से वर्णन हुआ है। उस (वाक्य) में कहा गया है कि जिसका अमत है अर्थात् जो ईश्वर के सम्बन्ध में, परिमित सम्मति कि वह ऐसा है, ऐसा है, नहीं रखता, वह ईश्वर को कुछ जानता है परन्तु जो कोई परिमित सम्मति कि, वह ईश्वर को पूर्ण रीति से जानता है, रखता है, उपनिषद् का कहना है कि वह उसे नहीं जानता। इससे स्पष्ट है कि यह दावा करने वाले कि वे उसे अच्छी तरह जानते हैं, वास्तव में उसे नहीं जानते हैं, परन्तु जो पुरुष अपनी अल्पज्ञता प्रदर्शित करते हुए उसके न जानने का, खुले तौर से, इकबाल करते हैं, वे ही उसे कुछ जानते हैं।

'जिन खोजा तिन पाइयां' की प्रसिद्ध कहावत के अनुसार ईश्वर की खोज करने वाले उस (ब्रह्म) का कुछ न कुछ अधिक ज्ञान प्राप्त करते ही रहते हैं और यही ज्ञानवृद्धि अन्त में उनके कल्याण का कारण हुआ करती है। एक कवि ने क्या अच्छा लिखा है—

हँस के दुनिया में मरा कोई, कोई रो के मरा।
जिन्दगी पाई मगर उसने, जो कुछ हो के मरा।।

जी उठा मरने से वह, जिसकी प्रभु पर थी एक नजर।
जिसने दुनिया ही को पाया था, वह सब खो के मरा ॥ १-३॥

प्रतिबोधविदितं मतममृतत्वं हि विन्दते।
आत्मना विन्दते वीर्यं विद्यया विन्दतेऽमृतम् ॥ ४ ॥

अर्थ—प्रतिबोध द्वारा (विदित) प्राप्त हुए (मतम्) ज्ञान से निश्चित है कि अमरत्व प्राप्त होता है। (आत्मना) पुरुषार्थ = कर्म से बल और ज्ञान से अमरत्व प्राप्त होता है।

व्याख्या—मनुष्य के अधिकार में ज्ञानोपलब्धि के दो साधन इन्द्रिय और आत्मा हैं। इन्द्रियों से जो ज्ञान प्राप्त होता है उसे बोध और आत्मा के द्वारा जिस ज्ञान की उपलब्धि होती है, उसे प्रतिबोध कहते हैं। इन्द्रिय शब्द के अन्तर्गत, अन्तःकरण* और बाह्यकरण दोनों शामिल हैं। बाह्यकरण दस इन्द्रियाँ हैं, और अन्तःकरण मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार का नाम है। आत्मा की दो वृत्ति हैं—(१) बहिर्मुखी वृत्ति, (२) अन्तर्मुखी वृत्ति।

---

* अन्तःकरण और उसकी कार्यप्रणाली अच्छी तरह समझ ली जावें, इसलिए उसका यहाँ कुछ विवरण दिया जाता है—

(क) मन का काम ५ ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञान प्राप्त करना, बाकी पांच कर्मेन्द्रियों से कर्म कराना है, इसलिए मन को इन्द्रियों का राजा कहा जाता है। मन का स्थान हृदयाकाश है, परन्तु सूक्ष्म ज्ञानेन्द्रियों की जगह, जिनसे मन काम लिया करता है मस्तिष्क है। जर्मनी के एक वैज्ञानिक "फ्लेशजक" (Paul Flechsig of Lelpzig) की खोज के अनुसार मस्तिष्क के भूरे मज्जाक्षेत्र, इन्द्रियानुभव के ४ अधिष्ठान या भीतरी (सूक्ष्म) गोलक हैं जो इन्द्रिय संवेदना को ग्रहण करते हैं—(१) स्पर्श ज्ञान का गोलक मस्तिष्क के खड़े लोथड़े में, (२) घ्राण का सामने के लोथड़े में, (३) दृष्टि (आँख) का पिछले लोथड़े में, और (४) श्रवण का कपनटी के लोथड़े में है। (देखो 'आत्मदर्शन' पृष्ठ २५७ पहला संस्करण) इन्द्रियों से काम लेने

के सिवाय मन का दूसरा काम अपने भीतर संकल्प और विकल्प करना है। जागृत और स्वप्न दोनों अवस्थाओं से इसका सम्बन्ध है। सुषप्ति गाढ़निद्रा में मन बेकार-सा रहा करता है।

(ख) बुद्धि की दो तहें अथवा दो भाग हैं—(१) तार्किक बुद्धि, (२) मेधावी बुद्धि। तार्किक बुद्धि का काम तर्क है, अर्थात् तर्क से सत्यासत्य का विवेक करना। मेधावी बुद्धि का काम यह है कि तर्क द्वारा निश्चित सत्य पर श्रद्धा या विश्वास उत्पन्न कर देना। बुद्धि का स्थान मस्तिष्क है।

आत्मा जब बाह्य जगत् में काम करना चाहता है, तब उसकी बहिर्मुखी वृत्ति काम करती है, और जब अपने भीतर ही काम करता है तब अपनी अन्तर्मुखी वृत्ति से काम लेता है। बहिर्मुखी वृत्ति का काम बुद्धि, मन और इन्द्रियों के माध्यम से पूरा हुआ।

(ग) चित्त के दो भाग हैं—(१) एक भाग का काम उद्वेग (Emotion) पैदा करना है। (२) दूसरा भाग स्मृति, वासना, और संस्कार का स्थान है।

"स्मृति"—शिक्षा, उपदेश और अध्ययनादि के द्वारा मनुष्य जो ज्ञान प्राप्त किया करता है, वह ज्ञान चित्त के भण्डार में जमा हो जाया करता है, उसी ज्ञान को स्मृति और उस एकत्रित ज्ञान ही का नाम स्मृति भण्डार हुआ करता है।

"वासना"—कर्म करने से अभ्यास का एकांश बना करता है उसी अंश का नाम वासना हुआ करता है। इस वासना का काम यह है कि उसी कर्म की, जिसकी वह वासना है, फिर करने की, भीतर से, प्रेरणा किया करती है।

"संस्कार"—मनुष्य के चित्त पर उन समस्त घटनाओं के जो उसके या अन्यों के द्वारा घटित हुआ करती हैं, प्रभाव पड़ा करते हैं, इसी को चित्त पर छाप लगाना भी कहते हैं। इसी प्रभाव या छाप (Impressions) को संस्कार कहा करते हैं।

मनुष्य के कर्तृत्व पर इन तीनों का प्रभाव पड़ा करता है। (अहंकार) अहंकार का काम समष्टित्व (कुल) में से व्यष्टित्व (जुज) का निर्माण करना है। मेरा धन, मेरी सम्पत्ति, मेरा पुत्र, मेरी स्त्री, मेरा शरीर आदि भावनाओं का प्रादुर्भाव अहंकार की सत्ता से हुआ करता है। व्यक्तित्व (Individuality) अहंकार के बिना नहीं बन सकती और व्यक्तित्व के निर्माण के बिना जगत् नहीं बन सकता और न स्थिर ही रह सकता है। परन्तु अन्तर्मुखी वृत्ति के लिए किसी माध्यम की जरूरत नहीं है। बहिर्मुखी वृत्ति के द्वारा उपलब्ध ज्ञान का नाम ही बोध है, परन्तु जो ज्ञान अन्तर्मुखी वृत्ति के द्वारा प्राप्त हुआ करता है, उसे बोध नहीं कह सकते, उसका नाम प्रतिबोध है। उसके प्रतिबोध कहे जाने का कारण यह है कि वह बहिर्मुखी वृत्ति द्वारा प्राप्त ज्ञान के प्रकार की दृष्टि से विभिन्नता रखता है। आत्मा का स्वाभाविक गुण ज्ञान के सिवाय प्रयत्न भी है, इसलिए आत्मा सतत् प्रयत्नशील रहता है। सतत् प्रयत्नशीलता का मतलब यह है कि आत्मा की वृत्तियों में से एक न एक सदैव काम करती रहती है। जब एक वृत्ति रुकती या रोकी जाती है तो उसका फल यह होता है कि दूसरी वृत्ति, बिना किसी प्रयत्न के स्वयमेव यान्त्रिक रूप से, काम करने लगती है। जब मनुष्य प्रयत्नशील होकर 'ध्यान' (योग का सातवां अंग) के अभ्यासों द्वारा मन निर्विषय कर दिया करता है, तब बहिर्मुखी वृत्ति बन्द होकर अन्तर्मुखी वृत्ति स्वयमेव जारी हो जाया करती है। इस अन्तर्मुखी वृत्ति का कार्यक्षेत्र आत्मा और परमात्मा होते हैं, इसलिए आत्मा को ज्ञान अपना या ईश्वर का प्राप्त हुआ करता है, उसका नाम प्रतिबोध हुआ करता है। उपनिषद् के इस व्याख्यान्तर्गत वाक्य में शिक्षा दी गई है कि इस प्रतिबोध (आत्मानुभव) से, प्राप्त विज्ञान से, मनुष्य अमरता (मोक्ष) प्राप्त करता है। उसे अपने उत्कर्ष से बल

(शारीरिक, मानसिक और आत्मिक तीनों प्रकार का) प्राप्त करना चाहिये और उपलब्ध विज्ञान से अमरता लाभ करनी चाहिये। परन्तु इस प्रतिबोध की प्राप्ति अहंकार के तिरोहित या नाश होने से ही हुआ करती है। अहंकार के नाश से ममता का नाश होता है और ममता के नाश से मनुष्य (आत्मा) और परमात्मा के बीच से 'दुई' परदा उठ जाता है। यही मनुष्य-जीवन का अन्तिम ध्येय है-

दिया अपनी खुदी को जो हमने मिटा,
वह जो परदा सा बीच में था न रहा।
रहा परदे में अब न वह परदा नशीं,
कोई दूसरा उसके सिवा न रहा ।।४।।

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।
भूतेषु भूतेषु विचिन्त्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥५॥

अर्थ-यहीं यदि उस (ब्रह्म) को जान लिया तो ठीक है, (परन्तु) यदि उसे यहाँ न जाना तो सर्वनाश हुआ है। धीर पुरुष प्रत्येक भूत में उसकी खोज (तत्त्वज्ञान) प्राप्त करके इस लोक से पृथक् होकर अमर हो जाते हैं ।।५।।

इति द्वितीयः खण्डः ॥२॥

व्याख्या-उपनिषद् के इस खण्ड में ब्रह्मज्ञान का साधन बतलाकर चुनौती दी है कि उसे (ब्रह्म को) इस जीवन ही में जानने का यत्न करना चाहिये, अन्यथा ऐसा न करने से हानि होगी। जगत् के एक-एक पदार्थ में ब्रह्म आकाशवत् ओत-प्रोत हो रहा है। इसलिए उसकी खोज तत्त्वज्ञान प्राप्त करते हुए ही करनी चाहिये। इस प्रकार उसकी खोज करते हुए धीर पुरुष अमरत्व प्राप्त किया करते हैं।

एक जगह टॉल्स्टाय ने भी इसी प्रकार की बात कही है। उसने कहा कि-"ईश्वर हममें से प्रत्येक के अन्दर विराजमान

है। मनुष्य का सर्वोच्च पुरुषार्थ इसी में है कि, उस दिव्य ज्योति के प्रकाश से अपने हृदय को प्रकाशित रखे।" उसके शब्द ये हैं–

The spirit of God eixsts in each one of us. The highest good for man is to cherish this Divine Spirit within himself. —Tolstoy

तृतीय खण्डः

ब्रह्म ह देवेभ्यो विजिग्ये, तस्य ह ब्रह्मणो विजये देवा अमहीयन्त, त ऐक्षन्तास्माकमेवायं विजयोऽस्माकमेवायं महिमेति ॥ १ ॥

अर्थ–ब्रह्म निश्चय देवों के लिए विजयी हुआ, उस ब्रह्म की विजय से देव बढ़ने (अभिमान करने) लगे। वे समझने लगे कि हमारी ही यह विजय है और हमारी ही यह महिमा है ॥ १ ॥

तद्धैषां विजज्ञौ, तेभ्यो ह प्रादुर्बभूव, तन्न व्यजानन्त किमिदं यक्षमिति ॥ २ ॥

अर्थ–वह (ब्रह्म) इन (देवों) का (भाव) जान गया और उनके समक्ष प्रकट हुआ। (परन्तु) वे देव न जान सके कि यह यक्ष[1] कौन है ? ॥ २ ॥

---

१. आख्यायिका में आये "यक्ष" शब्द का भाव परब्रह्म परमेश्वर ही है। इसके लिए कुछ एक प्रमाण दिये जाते हैं–

(१) अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।
तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः ॥
तस्मिन् हिरण्ययः कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठते।
तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद्वै ब्रह्मविदो विदुः ॥ (अथर्व० १०/२/३१, ३२)
अर्थात् जिसमें ८ चक्र और नव द्वार हैं, ऐसी अयोध्या देवों की नगरी है। उसमें प्रकाशमय कोश जो तेज से परिपूर्ण स्वर्ग है, उस प्रकाशमय कोश में जो तीन अरों से तीन केन्द्रों में केन्द्रित हैं और जिसमें आत्मवान् यक्ष हैं, उसे ब्रह्मवेत्ता जानते हैं।

(२)यक्ष पृथिव्यामेकवृदेकः ॥ (अथर्ववेद ८/९)
अर्थात् पृथ्वी में एकवृत (व्यापक) यक्ष एक ही है।

(३)महद्यक्ष भुवनस्य मध्ये तस्मै बलि राष्ट्रभृतो भरन्ति। (अथर्ववेद १०/८/१५)
अर्थात् त्रिभुवन के मध्य में जो बड़ा यक्ष है, उनके लिए राष्ट्र के सेवक बलि देते अर्थात् अपने को न्योछावर करते हैं।

इसके सिवाय और भी बहुत प्रमाण दिये जा सकते हैं परन्तु विस्तार के भय से नहीं दिये गये हैं। उपनिषद् की इस व्याख्या के अन्त में अथर्ववेद का "केन सूक्त" परिशिष्ट के तौर से दिया है। उसमें इस यक्ष का समर्थन मिलेगा।

तेऽग्निमब्रुवन् जातवेव एतद्विजानीहि किमेतद् यक्षमिति तथेति ॥ ३ ॥

अर्थ–उन्हीं (देवों) ने अग्नि से कहा है कि हे जातवेद ! जानो कि, यह यक्ष कौन है ? अग्नि ने यह स्वीकार कर लिया ॥ ३ ॥

तदभ्यद्रवत्तमभ्यवदत् कोऽसीत्यग्निर्वा अहमस्मीत्यब्रवीज्जातवेदा वा अहमस्मीति ॥ ४ ॥

अर्थ–वह अग्नि (ब्रह्म के पास) गया। उससे ब्रह्म ने पूछा कि तू कौन है ? अग्नि ने उत्तर दिया कि मैं अग्नि हूँ और मुझी को जातवेदा भी कहते हैं ॥ ४ ॥

तस्मिंस्त्वयि किं वीर्यमित्यपीदं सर्वं दहेयं यदिदं पृथिव्यामिति ॥ ५ ॥

अर्थ–ब्रह्म ने पूछा (कि) तुझमें क्या शक्ति है ? अग्नि ने उत्तर दिया (कि) इस पृथ्वी पर जो कुछ है उस सबको मैं जला सकता हूँ ॥ ५ ॥

तस्मै तृणं निदधावेतद् दहेति, तदुपप्रेयाय सर्वजवेन तन्न शशाक दग्धुं स तत एव निववृते, नैतदशकं विज्ञातुं यदेतद्यक्षमिति ॥ ६ ॥

अर्थ–उस (अग्नि) के लिए एक तिनका रख दिया (और ब्रह्म ने कहा) कि इसको जला, (अग्नि) उस तिनके के पास पूर्ण वेग के साथ गया (परन्तु) उसे जला न सका। तब वह पीछे लौट आया (और देवों से कह दिया) जो यह यक्ष है उसके जानने में मैं असमर्थ हूँ ॥ ६ ॥

अथ वायुमब्रुवन्, वायवेतद् विजानीहि, किमेतद्यक्षमिति, तथेति ॥ ७ ॥

तदभ्यद्रवत्तमभ्यवदत् कोऽसीति वायुर्वा अहमस्मीत्यब्रवीन्मातरिश्वा वा अहस्मीति ॥ ८ ॥

तस्मिंस्त्वयि किं वीर्यमित्यपीदं सर्वमाददीय यदिदं पृथिव्यामिति ॥ ९ ॥

तस्मै तृणं निदधावेतदादत्स्वेति, तदुपप्रेयाय सर्वजवेन तन्न शशाकाऽऽदातुं, स तत एव निववृते नैतदशकं विज्ञातुं, यदेतद्यक्षमिति ॥ १० ॥

अर्थ–तब देवों ने वायु को कहा कि हे वायु ! तू जान कि यह यक्ष कौन है ? उसने स्वीकार कर लिया ॥ ७ ॥

वह (वायु) ब्रह्म के पास (अभ्यद्रवत्) गया, उससे (ब्रह्म ने) पूछा कि तू कौन है ? उसने उत्तर दिया कि मैं वायु हूँ और मुझी को मातरिश्वा भी कहते हैं ॥ ८ ॥

(ब्रह्म ने पूछा कि) तुझमें क्या शक्ति है ? वायु ने उत्तर दिया कि (यद् इदं पृथिव्याम्, इदं सर्वम्, अपि आददीय) जो कुछ इस पृथ्वी पर है, उस सबको मैं उड़ा सकता हूँ ॥ ९ ॥

(ब्रह्म ने) उसके लिए एक तिनका (निदधौ) रखा कि इसको उड़ा। वह वायु पूरे बल के साथ उस तिनके के पास गया (परन्तु) (तत् न शशाक आदातुम्) उसको उड़ा नहीं सका। तब वह भी पीछे लौटा (और देवों से कहा) कि मैं यह जानने में असमर्थ हूँ कि यह यक्ष कौन है ? ॥ १० ॥

अथेन्द्रमब्रुवन्, मघवन्नेतद् विजानीहि, किमेतद् यक्षमिति, तथेति। तदभ्यद्रवत्। तस्मात्तिरोदधे ॥ ११ ॥

अर्थ–तब इन्द्र ने (देवों) से कहा कि हे मघवन् ! तू जान कि यह यक्ष कौन है ? (इन्द्र ने) स्वीकार कर लिया, वह (इन्द्र ब्रह्म के पास) गया (परन्तु वह ब्रह्म) उससे छिप गया ॥ ११ ॥

स तस्मिन्नेवाकाशे स्त्रियमाजगाम बहुशोभमानामुमाꣳ हैमवतीं तां होवाच, किमेतद् यक्षमिति ॥ १२ ॥

अर्थ–उसी आकाश में अति सुन्दर हैमवती उमा नामक स्त्री के समक्ष (स आजगाम) वह (इन्द्र) आ गया और उस स्त्री से पूछा कि यह यक्ष कौन है ?

व्याख्या–इस तीसरे खण्ड में एक आख्यायिका के द्वारा यह प्रदर्शित करने का यत्न किया गया है कि समस्त भूत और इन्द्रियाँ ईश्वर की दी हुई शक्ति ही से काम करती हैं।

आख्यायिका में जो यह कहा गया है कि अग्नि एक तृण को नहीं जला सका और न वायु उसे उड़ा सका, ऊपरी दृष्टि के साथ देखने से तो यह बात कुछ अत्युक्ति की सी मालूम देती है, परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो इस कथन की सत्यता प्रकट हो जाती है। अग्नि, वायु आदि जब तक सूक्ष्म भूत के रूप में रहते हैं तब तक अव्यक्त (अप्रकट) रहते हैं। लकड़ी में अग्नि मौजूद है परन्तु है सूक्ष्म भूत के रूप में, इसीलिए अप्रकट है। जब तक, अग्नि इस सूक्ष्म रूप में रहती है, एक तिनके को भी नहीं जला सकती परन्तु जब संघर्ष के द्वारा उसको व्यक्त (प्रकट) करते हैं तब वह समस्त संसार को भी भस्म कर देने की योग्यता वाली हो जाती है। यदि कोई कहे कि लकड़ी में अग्नि मौजूद ही नहीं, यह बात सर्वथा मिथ्या होगी क्योंकि यदि मौजूद नहीं, तो संघर्षण से कहाँ से आ जाती है ? संघर्षण से भी नहीं उत्पन्न होनी चाहिए थी। निष्कर्ष यह है कि पञ्चभूत जब तक सूक्ष्म और अव्यक्त रहते हैं, अपना-अपना काम जो व्यक्त होने पर कर सकते थे, नहीं कर सकते, परन्तु जब उनका परिवर्तन स्थूल और व्यक्त रूप में हो जाता है, तब वे अपना-अपना काम करने लगते हैं।

आख्यायिका में अग्नि-वायु उपलक्षण के तौर पर समस्त पञ्चभूतों के लिए प्रयुक्त हुए हैं। जिस प्रकार अव्यक्त अवस्था में होने से अग्नि की असमर्थता प्रकट हुई, उसी प्रकार अन्य भूतों की हालत भी समझनी चाहिए। दूसरी बात जो आख्यायिका में वर्णित है, यह है कि ये पञ्चभूत उस यक्ष रूपी ईश्वर को नहीं जान सके। यह तो स्पष्ट है कि पञ्चभूत जड़ हैं और जड़ होने के कारण उसको जान भी किस प्रकार सकते थे।

इस आख्यायिका में अग्नि, वायु जहाँ एक ओर पञ्चभूतों के प्रतिनिधि रूप में प्रयुक्त हैं वहाँ दूसरी ओर उनसे इन्द्रियों की सत्ता भी अभिप्रेत है। अग्नि से चक्षु और वायु से त्वचा का अभिप्राय लिया जाता है। जिस प्रकार पञ्चभूत न ईश्वर की दी हुई शक्ति के बिना काम करते हैं, न उसके जानने का (साक्षात्) साधन

ही हो सकते हैं, उसी प्रकार इन्द्रियाँ भी बिना ईश्वर-प्रदत्त सामर्थ्य के काम नहीं कर सकती हैं, और न उसकी प्राप्ति का साधन ही हो सकती हैं। इन्द्रियों की शक्ति और इन्द्रियों के गोलक पृथक्-पृथक् स्थानों पर हैं। इन्द्रियों की शक्ति जिन्हें असली इन्द्रियाँ कहना चाहिये, सूक्ष्म शरीर के अवयव हैं और मस्तिष्क उनका स्वामी है, परन्तु इन्द्रियों के गोलक स्थूल शरीर के बाह्य अवयव हैं। जब तक इनमें प्राकृतिक नियमों द्वारा मेल (Hormony) न हो, इन्द्रियाँ काम नहीं दे सकतीं। कल्पना करो कि आँख के गोलक ठीक हैं, परन्तु दृक्शक्ति के साथ उनका मेल नहीं तो आँख देखने का काम नहीं कर सकती। इसी प्रकार यदि दृक्शक्ति ठीक है और उसका चक्षु के गोलकों से मेल भी है परन्तु गोलकों में कुछ त्रुटि है तब भी आँख काम नहीं दे सकतीं। इन्द्रियों के गोलक आमतौर से बहिर्मुखी हैं, इसलिए–'तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्' (कठोपनिषद् ४/१) के आशयानुसार ये बाहर के विषयों (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध) ही को ग्रहण कर सकते हैं और इसलिए आत्मा की बहिर्मुखी वृत्ति के स्टेशन समझे जाते हैं। परन्तु ईश्वर की प्राप्ति बाहर नहीं, किन्तु भीतर की ओर चलने से हुआ करती है। जैसे कि कहा गया है–

वेनस्तत्पश्यन् निहितं गुहासत् (यजुर्वेद ३२/८)

अर्थात् योगी ईश्वर का हृदयाकाश में साक्षात्कार करता है।

आत्मनात्मानमभि सं विवेश ॥ (यजु० ३२/११)

अर्थात् जीवात्मा के द्वारा परमात्मा को प्राप्त करो।

मनसैवेदमाप्तव्यम्॥ (कठोपनिषद् ४/११)

अर्थात् ईश्वर मन (अन्तःसामर्थ्य) ही से प्राप्त होने योग्य है।

तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतन्नेतरेषाम् ॥

(कठोपनिषद् ५/१२)

अर्थात् जो धीर पुरुष आत्मा में प्रवेश करके ईश्वर का साक्षात्कार करते हैं उन्हीं को चिरस्थायी सुख प्राप्त होता है, अन्यों को नहीं। इसलिए स्पष्ट है कि इन्द्रियों से कोई ईश्वर को प्राप्त नहीं कर सकता।

आख्यायिका में आगे कहा गया है कि जब पञ्च'भूतों अथवा इन्द्रियों से यह यक्षरूप ब्रह्म जाना नहीं जा सका, तब देवों ने इन्द्र को कहा कि वह उसे जाने परन्तु उससे ब्रह्म तिरोहित हो गया। तब उस (इन्द्र) ने 'उमा' के आदेश से ब्रह्म को जाना। 'इन्द्र' और 'उमा' क्या हैं, यह जानने ही से आख्यायिका का भाव स्पष्ट होगा।

इन्द्र कौन है?

इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गमिन्द्रदृष्टमिन्द्रजुष्टमिन्द्रदत्तमिति वा।

(अष्टाध्यायी)

पाणिनि के इस सूत्र से इन्द्रिय शब्द सिद्ध हुआ है और 'इन्द्रस्य लिङ्गमिन्द्रियम्' के अनुसार इन्द्र वह है जिसके कर्त्तव्य के साधन इन्द्रियाँ हैं। स्पष्ट है कि इन्द्र जीवात्मा को कहते हैं। यद्यपि इन्द्र शब्द ब्रह्म, जीव, राजा, विद्युत् आदि अनेक अर्थों में वैदिक साहित्य में प्रयुक्त होता है। परन्तु यहाँ यक्ष (ब्रह्म) का ज्ञाता इन्द्र है इसलिए यहाँ उचित रीति से इन्द्र शब्द का अर्थ जीवात्मा ही किया जा सकता है ॥.१-१२ ॥

उमा कौन है?

विद्या उमारूपिणी प्रादुरभूत् स्त्रीरूपा।

(शांकरभाष्य, केन, मन्त्र २५)

श्रीमान् शंकराचार्य जी ने उमा को उपर्युक्त वाक्य में स्त्रीरूप विद्या कहा है। श्रीरामानुजाचार्य ने भी शंकर ही का अनुकरण करते हुए इसी उपनिषद् की टीका में लिखा–

स्त्रियमतिरूपिणीं विद्यामाजगाम ॥

अर्थात् स्त्री रूपा विद्या आई। इन दोनों महानुभावों ने 'उमा' को जहाँ विद्या कहा है, वहाँ शंकर की पत्नी पार्वती अर्थ भी इस शब्द का किया है। परन्तु पं० श्रीधर शास्त्री पाठक संस्कृताध्यापक डक्कन कॉलेज ने अपनी इस उपनिषद् की विस्तृत संस्कृत-समालोचना में लिखा है कि 'भगवन्' आद्य शंकराचार्य पौराणिकों का मत स्वीकार करने के पक्षपाती

नहीं थे, इसलिए उनके भाष्य में हैमवती का अर्थ, हिमालय पर्वत की पुत्री पार्वती, ऐसा जो इस समय मिलता है, वह वास्तविक उनका नहीं है, किसी लेखक के दोष से उस भाष्य में प्रक्षिप्त हो गया है।' (देखो संस्कृत समालोचना का पृष्ठ ७, ८)। इसलिए शंकर और रामानुज महानुभावों का तात्पर्य उमा शब्द से विद्या या ब्रह्म विद्या ही स्वीकार किए जाने के योग्य है और उचित रीति से, जीवात्मा के लिए ब्रह्म की प्राप्ति का साधन, ब्रह्म विद्या को कहा भी जा सकता है। परन्तु इस पक्ष के स्वीकार कर लेने में एक ही आपत्ति हो सकती है और वह यह है कि ब्रह्मविद्या एक विस्तृत विद्या है। इसमें प्रस्थानत्रयी (उपनिषद्, वेदान्तदर्शन और गीता) के सिवाय अन्य भी अनेक योग और सांख्यादि विद्याओं का समावेश है। इसलिए स्वाभाविक है कि ब्रह्मविद्या में ब्रह्मप्राप्ति के अनेक दूर और समीप वाले सभी साधनों का संयोग हो, परन्तु आख्यायिका में कहा है कि उमा ने बतलाया और उमा के बतलाने से इन्द्र ने जान लिया कि वह यक्ष ब्रह्म है। इसलिए आख्यायिका का विवरण चाहता है कि उमा कोई ऐसी चीज साधन होनी चाहिये जो ब्रह्मप्राप्ति का दूरस्थ नहीं किन्तु समीपस्थ साधन हो। इसलिए इस समीपस्थ साधन की खोज करनी चाहिये। खोज करते हुए जब हम महामुनि पतञ्जलि की सेवा में पहुँचते हैं तो वहाँ उत्तर मिलता है कि–

योगदर्शन और ब्रह्म-प्राप्ति का समीपस्थ साधन

श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वकमितरेषाम् ॥

(योगदर्शन १/२०)

अर्थात्–'अन्यों (विदेहों और प्रकृतियों से भिन्नों) की श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञापूर्वक (उपाय प्रत्यय नामक असम्प्रज्ञात योग की सिद्धि) होती है। भाव इसका यह है कि जब योगी उपाय-प्रत्यय नामक असम्प्रज्ञातयोग सिद्ध करना चाहता है, तब उसको प्रथम श्रद्धा–(सत्य पर अटल

विश्वास) सम्पन्न होना चाहिये। यह श्रद्धा माता के समान योगी की रक्षा करती है, जिससे योगवीर्य–(इस योग को सिद्ध करने वाला बल) सम्पन्न होता है। तब वीर्यवान् योगी को स्मृति उपस्थित होती है, जिससे चित्त का स्मृति-भण्डार उस पर खुल जाता है और चित्त के इस प्रकार पट खुल जाने से योगी व्याकुलता रहित हो जाता है। यही चित्त की समाधि है। इस समाधि (समाधान) से प्रज्ञा की उपलब्धि होती है। प्रज्ञा वह बुद्धि है, जिससे योगी पर मैं क्या हूँ, जगत् क्या है, ईश्वर क्या है, इत्यादि सभी भेद खुल जाते हैं और वह तत्त्वज्ञानी हो जाता है। व्यास के कथनानुसार इस प्रज्ञा का निरन्तर अभ्यास करने से इस (प्रज्ञा) से भी योगी को वैराग्य होकर असम्प्रज्ञात योग की सिद्धि हो जाती है। फिर एक-दूसरे स्थान पर अविद्या के हटाने (हान) का उपाय बतलाते हुए योगदर्शन में लिखा है–

विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः ।। (योगदर्शन २/२६)

अर्थात् विच्छेद रहित विवेक ख्याति (अविद्या) हान के (हटाने) का उपाय है। भाव इसका यह है कि प्रकृति और पुरुष के वास्तविक भेद को अनुभव करने रूप विवेक की ख्याति उपाय है, जिस उपाय के निरन्तर चिरकाल-पर्यन्त अभ्यास करने से पुरुष (आत्मा) को अपने स्वरूप का साक्षात्कार होने लगता है। यही साक्षात्कार करने वाली बुद्धि समाधि प्रज्ञा कहाती है। इस समाधि-प्रज्ञा से मिथ्या ज्ञानदग्ध-बीज होकर समस्त क्लेशादि का नाश हो जाता है और विवेक-ख्याति दृढ़ और अटल हो जाती है।

तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा। (योगदर्शन २/२७)

अर्थात् उस (समाधि-प्रज्ञाप्राप्त योगी) को, सात प्रकार की प्रान्त भूमि प्रज्ञा हो जाती है। सूत्र का भाव यह है कि इस प्रकार के विवेकी योगी की प्रज्ञा (बुद्धि) सात प्रकार की प्रान्त भूमि (जिन अवस्थाओं को प्रान्त-परला सिरा कहते हैं) वाली हो जाती है। वे प्रकार ये हैं–

(१) **जिज्ञासा का अन्त**—अर्थात् सब कुछ जो ज्ञातव्य था जान लिया। अब जानने की इच्छा समाप्त हुई।

(२) **जिज्ञासा अन्त**—अविद्या आदि पाँचों क्लेश छोड़ दिए। अब कुछ छोड़ना बाकी नहीं रहा।

(३) **प्रेप्सा का अन्त**—हान को पा लिया। अब कुछ पा लेना शेष न रहने से प्रेप्सा = प्राप्त करने की इच्छा पूरी हो गई।

(४) **चिकीर्षा का अन्त**—हान का उपाय कर लिया गया, अब कुछ करना भी बाकी नहीं रहा।

नोट—इन चारों को प्रज्ञा (बुद्धि) की विमुक्ति (छुटकारा) कहते हैं।

(५) **बुद्धि सत्य की कृतकृत्यता**—अर्थात् मेरा बुद्धिसत्त्व कृतार्थ हो गया, अब इसका अन्त आ गया।

(६) **बुद्धि रूप में परिणत (रूप बदले हुए) गुण भी अपने कारण (प्रकृति) में लय हो गये**—जैसे पहाड़ से लुढ़कता हुआ कच्चा पत्थर या मिट्टी का ढेला कहीं ठिकाना न पाने से टूटते-टूटते रेत बन जाता है, इसी प्रकार सत्त्वादि तीनों गुण बुद्धि-सत्त्व सहित लय को प्राप्त हो जाते हैं।

(७) **आत्मा का अपने स्वरूप में भासना**—अर्थात् प्रकृति के गुणों से पृथक् स्वरूप मात्र में अवस्थित, सत्, चित्, आत्मा, केवली पुरुष (जीवात्मा) परमात्मा का साक्षात् करेगा, अब कुछ बाकी नहीं रहा, सब कुछ प्राप्त हो गया।

नोट—इस अन्तिम तीन भूमियों को चित्त की विमुक्ति कहते हैं।

फिर एक जगह योगदर्शन में आता है—

तज्जयात्प्रज्ञाऽऽलोकः ॥ (योगदर्शन ३/५)

उस (संयम = धारणा, ध्यान और समाधि) की एकत्रित शक्ति के जयसिद्ध = पूरा होने से प्रज्ञा (बुद्धि) का आलोक (नैर्मल्य) हो जाता है। बुद्धि के निर्मल होने का अभिप्राय यह है कि, उसके द्वारा दूरस्थ या दीर्घकालान्तरित विषयों का भी सम्यक् ज्ञान हो जाता है।

फिर लिखा है कि–

सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम्। (योगदर्शन ३/५४)

अर्थात् सत्त्व (बुद्धि) और पुरुष (जीवात्मा) की शुद्धि, समान एक जैसी हो जाने पर, कैवल्य (मोक्ष) होता है। महर्षि व्यास ने इस सूत्र पर भाष्य करते हुए लिखा है कि सत्त्व (बुद्धि) में अब अविद्या निवृत्त हुई तो रोगादि दोष दूर हुए। इनके दूर होने से (काम) कर्म छूटे, कर्म के छूटने से जन्म छूटा, जन्म के छूटने से दुःख छूटा, दुःख के छूटने से मोक्ष हुआ। समाधिपाद के अन्त में लिखा है–

ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा ॥ योग० १/४८ ॥

अर्थात् तब प्रज्ञा (बुद्धि) ऋतम्भरा (केवल सत्य की ग्राहक–निर्भ्रमा) हो जाती है।

श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषयाविशेषार्थत्वात्। (योग० १/४९)

अर्थात् (वह ऋतम्भरा बुद्धि) विशेष-विषयिणी होने से श्रुत-शास्त्र और अनुमान की प्रज्ञा से भिन्न-विषया है।

शास्त्र और अनुमान से भी पदार्थों का ज्ञान होता है परन्तु साक्षात्कार नहीं होता, इस ऋतम्भरा बुद्धि की विशेषता यही है कि इससे साक्षात्कार होता है।

तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रावन्धी ॥ (योग० १/५०)

इस (ऋतम्भरा बुद्धि) से उत्पन्न हुआ संस्कार अन्य संस्कारों का हटाने वाला)।

तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः।

(योग० १/५१)

अर्थात् उस (ऋतम्भरा से उत्पन्न संस्कार) के भी रोकने पर सबके रुक जाने से निर्बीज असम्प्रज्ञात योग सिद्ध हो जाता है। यही मानवीय जीवन का अन्तिम ध्येय और यही मनुष्य की अन्तिम गति है।

योगदर्शन के उपर्युक्त सूत्रों पर विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि ब्रह्म प्राप्ति (या मोक्ष) का निकटवर्ती साधन प्रज्ञा (बुद्धि) ही है, जिस समय इस बुद्धि का सुधार होते-होते वह "ऋतम्भरा" नाम वाली बुद्धि हो जाती है, तब उससे चित्त में

वर्तमान सभी संस्कार और वासना आदि की समाप्ति हो जाती है और इनको समाप्त करके मुमुक्षु को अन्तिम ध्येय तक पहुँचा देने के लिए, वह अपना ही बलिदान कर देती है और उसका यह आत्म-बलिदान मुमुक्षु को कृतार्थ कर देने का साधन बन जाता है। इसलिए आख्यायिका में आए "उमा" शब्द का भाव बुद्धि ही हो सकता है। इन्द्र ने उमा की सहायता से ब्रह्म को जाना। इसका तात्पर्य अब साफ हो गया कि जीवात्मा (इन्द्र) ने बुद्धि (उमा) की सहायता से ब्रह्म को प्राप्त किया। आख्यायिका में जो कहा गया है कि इन्द्र से ब्रह्म तिरोहित हो गया उसका अभिप्राय यह है ब्रह्म जगत् को जगत् के रूप में व्यक्त करके भी स्वयम् अव्यक्त (अप्रकट) ही रहता है।

इति तृतीयः खण्डः

अथ चतुर्थः खण्डः

सा ब्रह्मेति होवाच, ब्रह्मणो वा एतद्विजये महीयध्वमिति, ततो हैव विदाञ्चकार ब्रह्मेति ॥ १ ॥

अर्थ—उस स्त्री ने उत्तर दिया कि वह (यक्ष) ब्रह्म है। ब्रह्म ही का इस विजय में महत्त्व लाभ करो. (तब इन्द्र को) इस प्रकार ब्रह्म का ज्ञान हुआ ॥ १ ॥

तस्माद्वा एते देवा अतितरामिवान्यान्देवान् यदग्निर्वायुरिन्द्रस्ते ह्येनन्नेदिष्ठं पस्पृशुस्ते ह्येनत्प्रथमो विदाञ्चकार ब्रह्मेति ॥ २ ॥

अर्थ—इसलिए ये देव अन्य देवों से आगे बढ़ गये (क्योंकि) ये जो अग्नि, वायु और इन्द्र हैं (ते, हि, एनत्, नेदिष्ठं पस्पृशुः) वे ही देव अपने समीप स्थित ब्रह्म को देख सके, और वे ही पहले ब्रह्म को जान पाये ॥ २ ॥

तस्माद् वा इन्द्रोऽतितरामिवान्यां देवान् स ह्येनन्नेदिष्टं पस्पर्श स ह्येनत्प्रथमो विदाञ्चकार ब्रह्मेति ॥ ३ ॥

अर्थ—(क्योंकि) इन्द्र (एनत्) इस ब्रह्म को (नेदिष्टम्) अति समीप (पस्पर्श) देखने वाला हुआ (सः हि) और उसी ने (एनत्) इस यक्ष को (प्रथमः विदाञ्चकार) सबसे पहले जाना (तस्मात्, स, अन्यान्, देवान्) इसलिए वह अन्य देवों से (अतितराम् इव) श्रेष्ठ हुआ ॥ ३ ॥

व्याख्या—आख्यायिका को समाप्त करते हुए उपनिषद् के उपर्युक्त वाक्यों में प्रकट किया गया है कि अग्नि, वायु और इन्द्र को अन्य देवों (पञ्चभूतों या इन्द्रियों) से इसलिए तरजीह है, कि ये ब्रह्म की समीपता प्राप्त कर चुके हैं और इन तीनों में इन्द्र को बाकी दो से इसलिए श्रेष्ठता हासिल है कि उसने सबसे पहले ब्रह्म को जाना था।

अग्नि की विशेषता—संसार में उष्णता और गति का कारण अग्नि है। इन दो वस्तुओं को यदि जगत् से पृथक् रख दिया जावे तो फिर जगत्, नहीं रह सकता। संस्कृत में अग्नि

शब्द जिन 'अंग' 'अगि' धातुओं से बनता है उनके अर्थ गति के हैं। टिन्डल (Tyndill) ने भी अपने ग्रन्थों में अग्नि को गति ही कहा है। उसके शब्द ये हैं–"Heat is a made of motion." सूर्य अग्नि का पुञ्ज ही है। सूर्य की उपयोगिता जगत् प्रसिद्ध है। शतपथ ब्राह्मण में अग्नि को 'रक्षसाम् अपहन्ता, कृमि (germ) नाशक' कहा है। ऋग्वेद की पहली ही ऋचा में अग्नि को यज्ञ का देव, ऋतुओं और रत्नों को पैदा करने वाला कहा गया है।

वायु की विशेषता–वायु के भेदों का नाम ही प्राण, अपान आदि है। मनुष्य जीवन की स्थिति में प्राण की सबसे अधिक उपयोगिता होने के कारण ही मनुष्य को प्राणी कहा जाता है। प्राणशक्ति (Vital Force, Vital Energy) ही से शरीर के समस्त व्यापार पूर्ण हुआ करते हैं।

इन्द्र की विशेषता–इन्द्र की विशेपता अग्नि और वायु से अधिक होने का कारण स्पष्ट है। अग्नि और वायु पञ्चभूतों के अंग होने से जड़ हैं, इनमें चेतना का अभाव है। परन्तु इन्द्र (जीवात्मा) चेतनापूर्ण वस्तु है। अथर्ववेद में एक मन्त्र आया है–

अजो ह्यग्नेरजनिष्ट शोकात्सो अपश्यज्जनितारमग्रे।
तेनं देवा देवतामग्रे आयन्तेन रोहान् रुरुहुर्मेध्यासः ॥

(अथर्ववेद ४/१४/१)

अर्थात् (हि अग्नेः शोकात् अजः अजनिष्ट) निश्चय (ब्रह्मरूप) अग्नि के तेज से (अजः) जीवात्मा प्रकट हुआ। (स अग्रे जनितारम् अपश्यत्) उसने पहले अपने उत्पादक प्रभु को देखा, (अग्रे तेन देवाः देवताम् आयन्) प्रारम्भ में उसी (प्रभु) की सहायता से देव (अग्नि आदि ५ भूत अथवा चक्षु आदि) देवत्व को प्राप्त हुए। (तेन मेध्यासः रोहान् रुरुहुः) उससे पवित्र बनकर उच्च स्थानों को प्राप्त होते हैं।

मन्त्र में स्पष्ट रीति से दो बातें वर्णित हैं–

१. उस जीव ने पहले अपने उत्पादक प्रभु को देखा।
२. देव उसी (प्रभु) की सहायता से देवत्व को प्राप्त हुए।

मन्त्र ने उपनिषद् में आई आख्यायिका के भाव को, जो इस व्याख्या की उपर्युक्त पंक्तियों में खोला गया है, पुष्ट कर दिया और अब वेद के प्रमाण से भी इन्द्र का जीवात्मा होना पञ्चभूतों तथा इन्द्रियों का ब्रह्म से शक्ति प्राप्त करके अपने-अपने काम के योग्य होना, प्रमाणित हो गया ।। १, २, ३ ।।

तस्यैष आदेशो यदेतद्विद्युतो व्यद्युतदा।
इतीन्न्यमीमिषदा ३ इत्यधिदैवतम्।। ४ ।।

अर्थ–(तस्य एषः आदेशः) उस ब्रह्म का यह आदेश है। (यत्) जो (एतत्) यह (विद्युतः) बिजली का (व्यद्युतत् + आ इति) चमकना और छिपना है। (इत्) और (न्यमीमिषद् + आ) आँख का खुलना व बन्द हो जाना है। (इति) इस प्रकार (अधिदैवतम्) देवताविषयक ब्रह्म का उपाख्यान है ।। ४ ।।

जगत् की एक-एक रचना जबाने-हाल से प्रभु की सत्ता का सन्देश दे रही है। एक उर्दू कवि ने क्या अच्छा लिखा है–

हवा नहीं है ये, नेचर की सर्द आहें हैं।
सितारे कब हैं ये, हसरत भरी निगाहें हैं ।।

उपनिषद् के इस वाक्य में विद्युत् की चमक और आँखों की दमक को प्रभु का आदेश बतलाया गया। अहा ! कितना सुन्दर आदेश है ! विद्युत् की चमक उपलक्षण से जगत् की समस्त ज्योतियों को प्रकट कर रही है। दूसरी ओर आँखों में भी ज्योति निहित है। आदेश का भाव स्पष्ट हो गया कि नेत्रों की ज्योति के माध्यम से ज्योति को ग्रहण करके अपने को प्रकाशमय बनाओ, मनुष्य के जीवनोद्देश्य की चरम सीमा भी तो यही है कि तम के अन्धकार से निकल कर सत्य की ज्योति में प्रवेश करो*। एक दूसरी उपनिषद् में यही भाव,

---

* सत्त्व को श्वेत और तम को काले रंग से उपमा देकर श्वेत को अच्छा और काले रंग को बुरा समझा जाता है। क्यों ऐसा समझा जाता है, इसका एक कारण है और महत्त्वपूर्ण कारण है और वह यह कि पदार्थ-विज्ञानवेत्ता बतलाते हैं कि सूर्य किरण, जिनमें सभी रंग होते हैं, सभी वस्तुओं पर पड़ा करती हैं। प्रत्येक वस्तु अपनी सत्ता की दृष्टि से रंग शून्य होती है, सूर्य की किरणों से

कैसी सुन्दर प्रार्थना में वर्णन किया गया है–

असतो मा सद्गमय।

तमसो मा ज्योतिर्गमय।

मृत्योर्मा अमृतं गमयेति ॥ ४ ॥ (बृहदारण्यकोपनिषद्)

अथाध्यात्मं यदेतद् गच्छतीव च मनोऽनेन चैतदुपस्मरत्यभीक्ष्णं सङ्कल्पः ॥ ५ ॥

अर्थ–(अथ) अब (अध्यात्मम्) अध्यात्म (कहते हैं) (यत्) जो (एतत्) इस ब्रह्म के प्रति (मनः) मन (गच्छति इव) चलता हुआ सा है, (च) और (अनेन) इस (मन) से उठे (सङ्कल्पः) संकल्प से (अभीक्ष्णम्) बार-बार (एतत्) इस ब्रह्म का (उप-स्मरति) स्मरण करता है ॥ ५ ॥

व्याख्या–यदि कोई नियम से निरन्तर सात या आठ घण्टे 'तज्जपस्तदर्थ-भावनम्' की मर्यादा से प्रणव (ओ३म्) का जप करे तो यह निश्चय है कि मन ठहर जाता है और उसकी वही हालत जागृतावस्था में हो जाती है, जो सुषुप्ति में हुआ करती है। इसी प्राप्त अवस्था को मन का निर्विषय होना कहा जाता है। मन निर्विषय होकर असाक्षात् रीति से आत्मा की अन्तर्मुखी वृत्ति के जागृत कर देने का कारण बन जाता है परन्तु साक्षात् कारण नहीं बन सकता। इसीलिए उपनिषद्-वाक्य में मन को

उनमें रंग आया करते हैं और वे रंगीन दिखलाई दिया करती हैं। गुलाब सब रंगों को अपने में जज्ब करके केवल लाल रंग प्रतिक्षेप (लौटा) कर देता है। इसीलिए वह लाल दिखलाई देता है और लाल रंग वाला ही कहा जाता है। इसी नियम के अनुकूल हरा रंग लौटाने से कोई वस्तु हरी कही जाती इत्यादि। परन्तु जो वस्तु कुछ नहीं लौटाती है, सारे रंगों को अपने भीतर ही लिया करती है, वह काली कही जाती है और जो सब लौटाकर अपने पास कुछ नहीं रखती, उसे सफेद कहा करते हैं। अब काले और सफेद रंग का अन्तर स्पष्ट हो गया। जो सर्वस्व न्योछावर कर देवे वह सफेद और जो सब कुछ अपने भीतर ही रख लेवे, वह काला कहा जाता है। सत्व को श्वेत कहे जाने का कारण यही है कि उससे मनुष्य की वृत्ति सर्वस्व-त्याग की हो जाया करती है परन्तु तम की अवस्था इसके सर्वथा विपरीत है। जो सब कुछ अपने पास ही रखने का इच्छुक हो उसी को तमोगुणी कहा करते हैं।

ब्रह्म की ओर (गच्छति, इव) चलता हुआ सा कहा गया है। यदि कोई चाहता है कि आत्मा की अन्तर्मुखी वृत्ति को जागृत करके प्रत्यगात्मदर्शी बने तो उसको उपर्युक्त भाँति प्रणव का जप करना चाहिए। इसी का नाम अध्यात्म है ॥ ५ ॥

तद्ध तद्वनं नाम तद्वनमित्युपासितव्यं स य एतदेवं वेदाऽभि हैनं सर्वाणि भूतानि संवाञ्छन्ति ॥ ६ ॥

अर्थ–(तत्) वह ब्रह्म (ह) निश्चय से सबके (तद्वनं) वन्दनीय = उपास्य होने से (तद्वनं) तद्वनं नाम से (प्रसिद्ध है)। (इति) और (उपासितव्यं) उपासना करने योग्य है। (सः यः) सो जो कोई (एतत्) इस ब्रह्म को (एवम्) इस प्रकार (वेद) जानता है (एवम्) उसकी (सर्वाणि) सब (भूतानि) प्राणी (अभि संवाञ्छन्ति) चाहना करते हैं ॥ ६ ॥

व्याख्या–जो कोई ईश्वर को वन्दनीय और उपासनीय समझकर उसकी वन्दना और उपासना करता है, उसकी सब प्राणी क्यों चाहना करते हैं, यह प्रश्न है जिसका उत्तर ही, इस उपनिषद् वाक्य की व्याख्या होगी। वह उपासक, उपासक नहीं समझा जा सकता, जिसका हृदय प्रेम से लचकीला न हो चुका हो। प्रेम से भरपूर हृदय में प्राणीमात्र की मंगलकामना के सिवा, दूसरा भाव नहीं आ सकता। फिर भला जिस व्यक्ति में प्राणीमात्र के लिए प्रेम और मंगलकामना के सिवा और कुछ न हो, कैसे सम्भव है कि, उसकी चाहना सब न करें ? कहा जाता है कि एक बार बुद्ध ने देखा कि एक राजा सहमे हुए एक हरिण को खदेड़े ले जा रहा था और इच्छा कर रहा था कि तीक्ष्ण बाण से उसका काम तमाम कर दे। बुद्ध दुःख से पीड़ित होकर राजा के पास गया और बड़ी नम्रता और विनय से बोला कि राजा यह तीर तू मेरे मार दे, परन्तु निरपराध हरिण को न मार। राजा का हृदय बुद्ध के इस प्रेम को देखकर पिघल गया और उसने हरिण को छोड़ दिया, बुद्ध के इस प्रेम का हजारों वर्ष बीतने पर भी, करोड़ों हृदयों पर राज्य है, परन्तु नेपोलियन, नैलसन, केसर और किचनर का प्रकाश अभी से धीमा पड़ने लगा है।

नोट–एक बात हमेशा के लिए समझ लेनी चाहिए कि उपनिषद् में जहाँ कहीं इस प्रकार का प्रयोग हो 'स य एतदेवं वेद' अर्थात् सो जो कोई इस ब्रह्म को ऐसा जानता है, तो इस जानने के अन्तर्गत तदनुकूल आचरण भी सम्मिलित हुआ करता है। केवल जानने (ज्ञान) अथवा केवल करने (कर्म) का उपनिषद् की शिक्षा में कोई स्थान नहीं है। केवल ज्ञान अथवा केवल कर्म का सेवन करने के लिए उपनिषद् ने खुले तौर से कह दिया है कि वे (अन्धन्तमः प्रविशन्ति) अन्धकार में पड़ते हैं (ईशोपनिषद् मन्त्र ९) ॥६॥

उपनिषदं भो ब्रूहीत्युक्ता त उपनिषद् ब्राह्मीं वाव त उपनिषदमब्रूमेति ॥७॥

अर्थ–शिष्य ने कहा था कि (भोः) हे आचार्य ! (उपनिषदं) ब्रह्मविद्या को (ब्रूहि, इति) (मेरे लिए) कहिये (आचार्य) कहता है कि (ते) तेरे लिए (उपनिषद्) ब्रह्मविद्या (उक्ता) कही गई (वाव) निश्चय (ते) तेरे लिए (ब्राह्मीम्, उपनिषदम्) ब्रह्मविद्या सम्बन्धी उपनिषद् (अब्रूम) कह दी गई ॥७॥

तस्यै तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा वेदाः। सर्वाङ्गानि सत्यमायतनम् ॥८॥

अर्थ–(तस्यै) उस (ब्रह्मविद्या की प्राप्ति) के लिए (तपः) तप, (दमः) इन्द्रियनिग्रह (कर्म) और निष्काम कर्म (इति) ये साधन हैं, (वेदाः सर्वाङ्गानि) जो वेद और उनके सम्पूर्ण अंगों में (प्रतिष्ठाः) प्रतिष्ठित हैं और जिनका (आयतनम्) आधार (सत्यम्) सत्य है ॥८॥

यो वा एतामेवं वेदाऽपहत्य पाप्मानमनन्ते स्वर्गे लोके ज्येये प्रतितिष्ठति ॥९॥

अर्थ–(यः) जो कोई (वै) निश्चय से (एताम्) इस ब्रह्मविद्या को (एवम्) इस प्रकार (वेद) जानता है, (वह)

(पाप्मानम्) पापों को (अपहत्य) दूर कर (अनन्तो) अनन्त (ज्येये) श्रेष्ठ (स्वर्गे, लोके) आनन्दमय पद में (प्रतितिष्ठति) प्रतिष्ठित होता है।

इति चतुर्थः खण्डः

व्याख्या

उपर्युक्त ३ वाक्यों में से पहला वाक्य स्पष्ट है। दूसरे वाक्य में, उपनिषद् के पहले वाक्य में जिस ब्रह्मविद्या के कह दिये जाने की बात कही गई है, उसी (ब्रह्मविद्या) के साधन बतलाये गये हैं। वे साधन ३ हैं–(१) तप, (२) दम, (३) कर्म। इन साधनों के बतला देने का अभिप्राय यह है कि इन साधनत्रय पर आचरण करने ही से कोई ब्रह्मविद्या को प्राप्त कर सकता है। इनमें से (१) तप[१]–कठोरताओं के सहने का नाम है। योगदर्शन में कहा गया है कि तप से अशुद्धियों का क्षय और अशुद्धि-क्षय से देह और इन्द्रियों की सिद्धि होती है–

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः ॥ (योग० २/४३)

एक उपनिषद् में भी कहा गया है–

एतद्वै परमं तपो यद्व्याहितस्तप्यते।
एतद्वै परमं तपो यं प्रेतमरण्यं हरन्ति।
एतद्वै परमं तपो प्रेतमग्नावभ्यादधति ॥

(बृहदारण्यकोपनिषद् ५/११/१)

अर्थात् रोग के कष्टों का सहना, प्रेत (मरे हुए की लाश) को श्मशान में ले जाना, चिता में अग्नि लगाना ये महान् तप हैं। योगदर्शन और उपनिषद् के इन वाक्यों से स्पष्ट है कि तप, कठोरताओं के सहने, अशुद्धियों को दूर करके शरीर और इन्द्रियों पर अधिकार रखने तथा कठिन समयों पर जनता की सेवा करने का नाम है।

---

१. 'तप ऐश्वर्ये' धातु से तप ऐश्वर्य के अर्थ में प्रयुक्त हुआ करता है।

(२) दम– इन्द्रियों के निग्रह को कहते हैं। इन्द्रियों का ऐसा बना देना 'दम' है, जिससे वे कोई अनुचित काम न कर सकें।

(३) कर्म– ब्रह्मविद्या का साधक कर्म निष्काम कर्म है, जिसको गीता में कर्मयोग कहा गया है। क्यों कर्म से निष्काम कर्म ही का तात्पर्य समझा जावे इसका कारण यह है कि सकाम कर्म से वासना की उत्पत्ति होती है जिसको उपनिषदों में "हृदय-ग्रन्थि"* कहा गया है। इस वासना के चित्त में बने रहने से मनुष्य आवागमन के चक्र से नहीं छूट सकता। परन्तु निष्काम कर्म से बन्धन में लाने वाली यह वासना पैदा नहीं होती। यही निष्काम कर्म की विशेषता है।

इन साधनों को बतलाते हुए, उपनिषत्कार ने उनका महत्त्व प्रकट करने के लिए, प्रकट किया है कि ये साधन वेद और वेदांगों में प्रतिष्ठित हैं और वेद-वेदांगों के लिए कहा है कि उनका आयतन (आधार) सत्य है और सत्य को आधार बतलाने का कारण यह है कि वेद और वेदांग चाहते हैं कि उनमें वर्णित (तप, दम, कर्म) सत्य पर निर्भर हों। यदि इन साधनों में सच्चाई न हो तो फिर यह साधन, केवल दिखावट की बात रह जाते हैं। नीति में एक जगह कहा गया है–

इज्याऽध्ययनदानादि तपः सत्यं धृतिः क्षमा।
अलोभ इति मार्गोऽयं धर्मस्याष्टविधः स्मृतः ॥
तत्र पूर्वश्चतुर्वर्गो दम्भार्थमपि सेव्यते।
उत्तरस्तु चतुर्वर्गो महात्मन्येव तिष्ठति ॥

अर्थात् यज्ञ, अध्ययन, दान, तप, सत्य, क्षमा, धृति और अलोभ यह आठ प्रकार का धर्म का मार्ग है। इनमें से प्रारम्भ के चार दम्भ के लिए भी प्रयुक्त होते हैं परन्तु अन्त के चार (दिखावट से शून्य) महात्माओं में ही होते हैं। अन्त के चार सत्य, धृति, क्षमा और अलोभ हैं। स्पष्ट है कि सदाचार दम्भ से शून्य हुआ करता है। इसलिए यदि ब्रह्मविद्या के साधन तप,

* देखो कठोपनिषद् (६/१५)

दम, कर्म और सत्य पर निर्भर हों तो फिर उनके भीतर दम्भ और दिखावट नहीं हो सकती। उनमें वास्तविकता (Reality) होगी और इस प्रकार वे ब्रह्मविद्या और ब्रह्म की प्राप्ति के असन्दिग्ध साधन होंगे। यही भाव उपनिषद् के उपर्युक्त द्वितीय वाक्य का है।

तीसरा और उपनिषद् का अन्तिम वाक्य फ़ल-श्रुति के रूप में है। उसमें बताया गया है कि जो जिज्ञासु उपर्युक्त भाँति ब्रह्मविद्या को जानकर उसकी प्राप्ति के साधनों को काम में लाते हैं, वे निष्पाप होकर चिरकाल तक प्राप्त रहने वाले स्वर्ग (ब्रह्म) लोक को प्राप्त कर लेते हैं ॥ ९ ॥

॥ इति ॥

ओ३म्

उपनिषद् रहस्य

एकादशोपनिषद्

(मूल, शब्दार्थ, व्याख्या और श्लोक-मन्त्र शब्दानुक्रमणिका सहित)

भारतीय मनीषा का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण उपनिषद् हैं, ये आध्यात्मिक चिन्तन के सर्वोत्कृष्ट नवनीत हैं।

उपनिषद् शब्द का एक अर्थ 'रहस्य' भी है। उपनिषद् अथवा ब्रह्म-विद्या अत्यन्त गूढ़ होने के कारण साधारण विद्याओं की भाँति हस्तगत नहीं हो सकती, इन्हें 'रहस्य' कहा जाता है। इन रहस्यों को उजागर करने वालों में महात्मा नारायण स्वामीजी का नाम उल्लेखनीय है।

व्याख्याकार
महात्मा नारायण स्वामी

कठ उपनिषद्

॥ ओ३म् ॥

भूमिका

उपनिषद्-रहस्य की तीसरी पुस्तक कठोपनिषद्-टीका है। यह उपनिषद् यजुर्वेदीय कठ शाखान्तर्गत कठ ऋषि प्रणीत है। शाखा इस समय अप्राप्य है। केवल उस का यह अंश, जिसका नाम कठोपनिषद् है, पृथक् हो जाने के कारण प्राप्य है। यह उपनिषद् भाषा, भाव और शिक्षा सभी दृष्टियों से अत्यन्त श्रेष्ठ और मनोरंजक है। टीका को भी अच्छा बनाने का पूरा पूरा यत्न किया गया है। जिन स्थलों को स्पष्ट करने की जरूरत थी, ऐसे सभी स्थल टीका में भली भांति खोले गए हैं। और भी अनेक उपयोगी बातों का टीका में समावेश किया गया है जिनसे उपनिषद् का आशय अच्छी तरह समझा जा सके। अनेक सज्जनों और ब्रह्मविद्या के प्रेमियों ने पत्रों द्वारा तथा मौखिक भी आग्रह किया कि ईश और केन के बाद के उपनिषद् भी शीघ्र प्रकाशित किए जावें, परन्तु दुर्भाग्य से अनेक कार्य, जो पहले ही से मुझसे समय रूप कर लिया करते हैं, उनमें अस्वस्थता की एक संख्या और बढ़ गई और वह थोड़े टैक्स से सन्तुष्ट भी नहीं हुई। इन टैक्सों को चुकाने के बाद जो थोड़ा सा समय बचा, उसी में इस टीका को पूरा किया गया है। इसीलिए शीघ्रता न कर सकने के लिए मैं प्रायः विवश ही था। इस बात को दृष्टि में रखकर ऐसे सभी सज्जन, विश्वास है कि मुझे क्षमा करेंगे। इन्हीं थोड़े से शब्दों के साथ रहस्य का यह तीसरा अंक पाठकों को भेंट किया जाता है।

—नारायण स्वामी

बलिदान भवन, देहली
पोष बदि तृतीया
सं० १९९१

॥ ओ३म् ॥

कठोपनिषद्

प्रथमा वल्ली

उशन् ह वै वाजश्रवसः सर्ववेदसं ददौ।
तस्य ह नचिकेता नाम पुत्र आस ॥ १ ॥

अर्थ–(ह, वै) कहते हैं (वाजश्रवसः) वाजश्रवा के पुत्र (उशन) ने फल की कामना से (सर्ववेदसम्) सब कुछ (ददौ) दान किया (तस्य) उस का (ह) प्रसिद्ध (नचिकेता, नाम पुत्रः, आस) नचिकेता नाम वाला पुत्र था ॥ १ ॥

तꣳ ह कुमारꣳ सन्तं दक्षिणासु।
नीयमानासु श्रद्धाऽऽविवेश सोऽमन्यत ॥ २ ॥

अर्थ–(कुमारम्, सन्तम् ह) कुमार होने पर भी (तं) उसको (दक्षिणासु) दान किए हुए पदार्थों के (नीयमानासु) विभाग करते समय (श्रद्धा) आस्तिक बुद्धि (हाविवेश) उत्पन्न हुई, (सः, अमन्यत) वह सोचने लगा ॥ २ ॥

पीतोदका जग्धतृणा दुग्धदोहा निरिन्द्रियाः।
अनन्दा नाम ते लोकास्तान् स गच्छति ता ददत् ॥ ३ ॥

अर्थ–(पीतोदकाः) जो (गौएं) जल पी चुकी हैं, (जग्ध तृणाः) तृण भक्षण कर चुकी हैं, (दुग्धदोहाः) जिनका दूध दुहा जा चुका है, (निरिन्द्रयाः) बच्चा पैदा करने में असमर्थ हो चुकी हैं (ताः) उन्हें (ददत्) जो दान करता है (सः) वह (अनन्दाः नाम ते लोकाः) आनन्द रहित जो लोक हैं (तान्) उनको (गच्छति) जाता है ॥ ३ ॥

व्याख्या—यह उपनिषद् एक आख्यायिका के रूप में है—वाजश्रवा का पुत्र नचिकेता था। उसने यम नामक एक विद्वान् व्यक्ति से शिक्षा प्राप्त की, जिस (शिक्षा) का नाम कठोपनिषद् है। कोई-कोई व्यक्ति वाजश्रवा का अर्थ प्राण❖ करके नचिकेता जीवात्मा⊗ को ठहराते हैं और इस प्रकार जीवात्मा को प्राण का पुत्र बतलाकर कहते हैं कि उसने यम✽ (मृत्यु) से शिक्षा उपलब्ध की थी परन्तु यह अलंकार बहुत उपयुक्त नहीं है। इसलिए हमने उपनिषद् को एक सरल आख्यायिका समझते हुए ही उसकी टीका की है। जब वाजश्रवा ने सर्वमेध यज्ञ किया अर्थात् जो कुछ उसके पास था सब दान करने लगा, तब स्पष्ट है कि सब चीजें अच्छी नहीं हो सकती थीं। इसलिए उनमें कुछ चीजें निकम्मी भी थीं, जैसे बिना दूध देने या ना दे सकने वाली गाएं। जब वाजश्रवा ने इन (निकम्मी गायों) का भी दान किया तब उसका पुत्र नचिकेता आस्तिक बुद्धि से प्रेरित होकर सोचने लगा कि जो दानी ऐसी (निकम्मी) वस्तुओं का दान करते हैं वे आनन्द रहित लोकों को प्राप्त होते हैं। भाव इसका यह है कि ऐसा दान, दान नहीं किन्तु कुदान है, जिससे उसका कुछ उपकार नहीं हो सकता अपितु उस पर यह भार रूप होता है ।। १, २, ३ ।।

❖ निघण्टु अ० २ ख० ७, १० में वाज अन्न और श्रवः धन का नाम बतलाया गया है। स्पष्ट है कि अन्नवान् और धनवान् जो गृहस्थ हों उनका नाम वाजश्रवा उचित रीति से हो सकता है। जो लोग इसका अर्थ प्राण करते हैं वे कहते हैं कि अन्न (अन्नमयकोष) ही जिसका धन है वह प्राण है इसलिए वाजश्रवा प्राणवाचक हुआ।

⊗ "न चिकेतते विचेष्टत इति नचिकेताः।" अर्थात् जो स्वभाव ही से पुण्य पाप (सुख-दुःख) के प्रपञ्च से पृथक् हो वह नचिकेता है। नचिकेता जीव होने से प्राण का पुत्र है, यह कल्पना असंगत है। जीव-नित्य और प्राण अनित्य होने से पुत्र पिता से पहले हो जाता है।

✽ यम के कई नाम उपनिषद् में लिये गए हैं। उसे मृत्यु, अन्तक, वैवस्त आदि कहा गया है।

स होवाच पितरं तत् कस्मै मां दास्यसीति।
द्वितीयं तृतीयं तꣳ होवाच मृत्यवे त्वा ददामीति ॥ ४ ॥

अर्थ–(सः, ह) वह नचिकेता (पितरम्) पिता से (उवाच) बोला–(तत्) हे तात् ! (माम्) मुझको (कस्मै) किसे (दास्यसि) देंगे ? (द्वितीयम्) दुबारा (तृतीयम्) तिबारा कहने पर पिता ने क्रुद्ध होकर (तम्) उससे (उवाच) कहा कि (मृत्यवे) मृत्यु के लिए (त्वा) तुझे (ददामि इति) देता हूँ ॥ ४ ॥

व्याख्या–नचिकेता ने सब कुछ देते हुए देखकर अपने सम्बन्ध में पूछा कि मैं किसे दिया जाऊँगा ? पिता के उत्तर न देने पर जब उसने दुबारा, तिबारा अपना प्रश्न दुहराया तो वाजश्रवा ने अप्रसन्न होकर कहा कि तुझे मौत के हवाले करता हूँ। उत्तर के दो अर्थ हो सकते थे। एक तो केवल अप्रसन्नता, मौत के हवाले करना, इन शब्दों का अनिष्ट और अप्रसन्नता सूचक होना तो स्पष्ट ही है। उत्तर का दूसरा भाव यह था कि मृत्यु नाम के किसी गृहस्थ विद्वान् के लिए नचिकेता को देना। नचिकेता पिता की अप्रसन्नता समझते हुए भी दूसरे अर्थ का लेना ही अपने लिए श्रेयस्कर समझकर घर से चल दिया ॥ ४ ॥

बहूनामेमि प्रथमो बहूनामेमि मध्यमः।
किꣳ स्विद्यमस्य कर्त्तव्यं यन्मयाद्य करिष्यति ॥ ५ ॥

अर्थ–(बहूनाम्) बहुतों में तो (प्रथमः, एमि) मैं श्रेष्ठ हूँ और (बहूनाम्, मध्यमः एमि) और बहुतों में मध्यम हूँ। (यमस्य) मृत्यु का (किं स्वित्) क्या (कर्त्तव्यम्) करने योग्य काम है, (यत्) जो वह (मया) मुझसे (अद्य) आज (करिष्यति) करावेगा ॥ ५ ॥

अनुपश्य यथा पूर्वे प्रतिपश्य तथाऽपरे।
सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिवाजायते पुनः ॥ ६ ॥

अर्थ–(यथा) जैसे (पूर्वे) पहले "हुआ उसे" (अनुपश्य) देख (तथा) वैसा ही (परे) आगे हुआ (प्रतिपश्य) देखें कि

(मर्त्यः) प्राणी (सस्यम् इव) धान ही के सदृश (पच्यते) मरता है और (सस्यम् इव) और धान ही के सदृश (पुनः) फिर (आजायते) उत्पन्न होता है ॥ ६ ॥

व्याख्या–मृत्यु के घर जाते हुए वह (नचिकेता) सोचने लगा कि मैं बहुतों (विद्यार्थियों) में तो श्रेष्ठ हूँ और बहुतों में मध्यम, नहीं मालूम यम (आचार्य) का कौन सा काम है जो चाहे मुझे करना पड़ेगा। फिर वह सोचने लगा, कि संसार में चाहे बीते काल पर दृष्टि डालें और चाहे आने वाले समय को देखें। यह बात तो साफ तौर से मालूम होने लगती है कि मनुष्य धान आदि औषधियों के सदृश नष्ट हो जाता है और उसी की तरह फिर पैदा हो जाता है ॥ ५, ६ ॥

नोट–मनुष्य की इस मरने-जीने की अवस्था का वास्तविक ज्ञान प्राप्त करने के लिए ही उसने यम से तीसरा वर मांगा था।

वैश्वानरः प्रविशत्यतिथिर्ब्राह्मणो गृहान्।
तस्यैताꣳ शान्तिं कुर्वन्ति हर वैवस्वतोदकम् ॥ ७ ॥

अर्थ–(वैवस्वत) हे विवस्वान् के पुत्र यम (गृहान्) आपके घरों में (वैश्वानरः) एक तेजस्वी (ब्राह्मण) विद्वान् (अतिथिः) अतिथि (प्रविशति) प्रविष्ट हुआ है (तस्य) ऐसे अतिथि की (सद्गृहस्थ) (एताम्) इस (शान्तिम्) प्रसन्नता को (कुर्वन्ति) करते हैं इसलिए (उदकम्, हर) जल को (आतिथ्य के लिए) लीजिए ॥ ७ ॥

आशाप्रतीक्षे सङ्गतꣳ सूनृता-
ञ्चेष्टापूर्ते पुत्रपशूꣳश्च सर्वान्।
एतद् वृङ्क्ते पुरुषस्याल्पमेधसो,
यस्यानश्नन् वसति ब्राह्मणो गृहे ॥ ८ ॥

अर्थ–(यस्य पुरुषस्य) जिस पुरुष के (गृहे) घर में (ब्राह्मणः) ब्रह्मवित् अतिथि (अनश्नन्) भूखा (वसति) रहता है (तस्य) उस (अल्पमेधसः) अल्पबुद्धि की (आशाः) ज्ञात वस्तु की कामना, (प्रतीक्षे) अज्ञात वस्तु की चाहना, (सङ्गतम्) सत्संग के फल, (सूनृताम्) मधुरभाषिता, (इष्ट) यज्ञादि

श्रौतकर्म के फल (आपूर्ते) तालाब आदि बनाने रूप स्मार्त कर्म के फल (पुत्रपशून्) पुत्र और पशु (एतत् सर्वान्) ये सब (वृङ्क्ते) जाते रहते हैं ॥ ८ ॥

व्याख्या–नचिकेता वैवस्वत (यम) के घर पहुँचा, परन्तु किसी कारणवश वह उस (नचिकेता) का आतिथ्य न कर सका। जब नचिकेता तीन दिन उसके घर बिना किसी पूछताछ के पड़ा रहा तो किसी धर्मज्ञ ने यम को चेतावनी दी कि नचिकेता का आतिथ्य⊗ करे क्योंकि जिस गृहस्थ के घर में विद्वान् अतिथि बिना आतिथ्य के रहता है उसके पुत्रादि सभी नष्ट हो जाते हैं। उस धर्मज्ञ ने यह बात केवल डराने के लिए अत्युक्ति से नहीं कही थी किन्तु इसमें कुछ तथ्य है। जब कोई व्यक्ति किसी का आतिंथ्य नहीं करना चाहता तो उसकी इच्छा होती है कि उसे घर से रुखसत करे और इसके लिए उसे कुछ रुखाई से बात करनी पड़ती है। रुखाई से बात करने के फलरूप में मधुरभाषिता जाती है। मधुरभाषिता के न रहने से कोई विद्वान् न उसके पास जाता है, न उसे अपने पास आने देता है। इससे सत्संग भी गया और इस सत्संग के अभाव से श्रौत और स्मार्त कर्म भी छूटे, क्योंकि बिना विद्वानों के सहयोग के ये काम अकेले करने के नहीं हैं। विद्वानों के असहयोग से पुत्रेष्टि आदि करके पुत्र भी पैदा नहीं कर सकता और यदि पैदा हुआ भी तो वह मूर्ख ही रहेगा जो मरने से बदतर है, जैसा कि नीति में कहा गया है–

अजातमृतमूर्खाणां वरमाद्यौ न चान्तिमः।
सकृद्दुःखकरावाद्यावन्तिमस्तु पदे पदे ॥ (पञ्चतन्त्र)

अर्थात् पुत्र का पैदा न होना, पैदा होकर मर जाना और मूर्ख रहना–इन तीनों में से पहले दोनों श्रेष्ठ हैं। परन्तु अन्तिम

⊗ नोट–प्राचीन काल में आतिथ्य के लिए तीन काम करने पड़ते थे–(१) अर्घ्य, पाद्य अर्थात् सत्कारपूर्वक जल से पांव आदि धुलाना, (२) आसन अर्थात् बैठने को उचित वस्तु देना, (३) मधुपर्क अर्थात् अल्पाहार (नाश्ते) के लिए कुछ भोजन देना। इसी के लिए उस धर्मज्ञ ने जल लाने के लिए यम को परामर्श दिया था।

(मूर्ख रहना) श्रेष्ठ नहीं है। क्योंकि पहले दो से तो मनुष्य को एक ही बार दुःखी होना पड़ता है परन्तु अन्त की बात से तो उसे पग-पग पर दुःख भोगना पड़ता है। अस्तु, सन्तान के मूर्ख रहने से पशु आदि धन का संग्रह भी सम्भव नहीं। इस प्रकार उपर्युक्त बातों के अभाव से कोई गृहस्थ न किसी वस्तु की आशा कर सकता है और न किसी की प्रतीक्षा ।। ७, ८ ।।

तिस्रो रात्रीर्यदवात्सीर्गृहे मे–
अनश्नन् ब्रह्मन्नतिथिर्नमस्यः।
नमस्तेऽस्तु ब्रह्मन् स्वस्ति मे अस्तु,
तस्मात् प्रति त्रीन् वरान् वृणीष्व ।। ९ ।।

अर्थ–(ब्रह्मन्) हे विद्वान् (अतिथिः) अतिथि (नमस्यः) आप सत्कार करने योग्य हैं (ते) आपके लिए (नमः) प्रणाम (अस्तु) हो (मे) मेरा (स्वस्ति) कल्याण (अस्तु) हो (ब्रह्मन्) हे ब्रह्मवित्! (यत्) जो (मे, गृहे) मेरे घर में, (तिस्रः, रात्रीः) तीन रात (अनश्नन्) (आप) भूखे (अवात्सीः) रहे हैं (तस्मात्) इसलिए (प्रति) प्रति रात्रि (एक के हिसाब से) (त्रीन् वरान्) तीन वरों को (वृणीष्व) स्वीकार करें ।। ९ ।।

व्याख्या–उस धर्मज्ञ पुरुष की चेतावनी से यम सावधान होकर नचिकेता के पास आया और अपने कल्याणार्थ, आतिथ्य न कर सकने और नचिकेता के तीन रात भूखे रहने के प्रायश्चित्त रूप में तीन वर देने का वचन दिया ।। ९ ।।

शान्तसङ्कल्पः सुमना यथा स्याद्वीतमन्युर्गौतमो माभि मृत्यो त्वत्प्रसृष्टं मामपि वदेत् प्रतीत एतत् त्रयाणां प्रथमं वरं वृणे ।। १० ।।

अर्थ–(मृत्यो) हे मृत्यु! (गौतमः) मेरा पिता गौतम (मा, अभि) मेरे प्रति (शान्तसङ्कल्पः) अच्छे विचार वाला, (सुमनाः) प्रसन्नमन (वीतमन्युः) क्रोधरहित (यथा) जैसा पहले था, (स्यात्) होवे (त्वत् प्रसृष्टम्) आपके भेजे गए (मा अभि) मुझे देखकर (प्रतीतः सन्) मुझ पर विश्वास करता हुआ

(वदेत्) बातचीत करे (एतत्) यह (त्रयाणाम्) तीन में से (प्रथमम्) पहला (वरम्) वर (वृणे) मांगता हूँ ॥ १० ॥

यथा पुरस्ताद् भविता प्रतीत औद्दालकिरारुणिर्मत्प्रसृष्टः। सुखꣳ रात्रीः शयिता वीतमन्युस्त्वां ददृशिवान्मृत्युमुखात्प्रमुक्तम् ॥ ११ ॥

अर्थ–(औद्दालकिः) उद्दालकवंशी (आरुणिः) अरुण का पुत्र तेरा पिता गौतम (यथा) जैसा (पुरस्तात्) पहले था (मत्प्रसृष्टः) मेरे भेजे हुए तुझ पर (प्रतीतः) विश्वास करने वाला (भविता) होगा (वीतमन्युः) क्रोध रहित होकर (रात्रीः) रात्रियों में (सुखम्) सुख से (शयिता) सोयेगा (त्वाम्) तुझको (मृत्युमुखात्) मौत के मुँह से (प्रमुक्तम्) छूटा हुआ (ददृशिवान्) देखेगा ॥ ११ ॥

व्याख्या–नचिकेता से उसका पिता अप्रसन्न हो ही चुका था। चाहे पिता का क्रोध अनुचित ही था, तब भी उस काल की पितृभक्ति प्रशंसनीय थी कि नचिकेता ने सबसे पहला वर अपने पिता की प्रसन्नता उपलब्ध करने के सम्बन्ध में ही मांगा*। वर्तमान उच्छृंखलता के काल में, दुःख है, पुत्र और पुत्रियों को इस प्रकार की मातृ और पितृभक्ति की शिक्षा नहीं दी जाती जिसके लिए उर्दू के कवि ने उचित ही कहा है–

---

* पुत्र से इस प्रकार की भावना की आशा करके पुत्र शब्द उसके लिए बनाया गया था। पुत्र शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत में कई प्रकार से की जाती है, परन्तु भाव सबका एक सा है–

(क) *पुरु त्रायते, निपणीद्वा पुत् नरकः तस्मातत्त्रायत इति वा।* अर्थात् बहुत बचाता है दुःखों से (जो वह पुत्र है) अथवा (निरुक्त २/११) पुत् नाम नरक का है उससे जो बचाता है वह पुत्र है।

(ख) *पुनाति त्रायते च स पुत्रः।* अर्थात् जो पवित्र करता है और रक्षा करता है वह पुत्र है।

(ग) मनुस्मृति ९/१३५ में लिखा है–

पुन्नाम्नो नरकाद् यस्मात् त्रायते पितरं सुतः।
तस्मात् पुत्र इति प्रोक्तः स्वयमेव स्वयम्भुवा ॥

अर्थात् नरक से जो पिता को बचाता है इसलिए स्वयं ब्रह्मा ने उसका नाम पुत्र रखा है।

हम ऐसी कुल किताबें, काबिले जब्ती समझते हैं।
जिन्हें पढ़ करके लड़के बाप को खब्ती समझते हैं ।।
(अकबर इलाहाबादी)

अस्तु यम ने यह वर कैसे दे दिया कि उस का पिता उस से प्रसन्न हो जाएगा। इसका उत्तर यह है कि यम को अपनी शिक्षा-पद्धति पर विश्वास था। वह जानता था कि जब वह नचिकेता को मातृ-पितृ-भक्त और ब्रह्मज्ञानी बना देगा तब ऐसे पुत्र से कोई पिता कैसे अप्रसन्न रह सकता है। सच तो यह है कि जब वाजश्रवा ने सुना होगा कि उसके पुत्र ने, सबसे पहला यत्न उसको प्रसन्न करने के लिए ही किया, उसका क्रोध तो इतनी ही बात से पुत्र की पितृभक्ति देखकर शान्त हो गया होगा ।। १०, ११ ।।

स्वर्गेलोके न भयं किञ्चनास्ति, न तत्र त्वं न जरया बिभेति।
उभे तीर्त्वाऽशनायापिपासे, शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ॥ १२ ॥

अर्थ–(स्वर्गेलोके) स्वर्गलोक में (किञ्चन) कुछ भी (भयम्) भय (न, अस्ति) नहीं है (न तत्र) न वहाँ (त्वम्) तू (मृत्यु) है और (न) कोई (जरया) बुढ़ापे से (बिभेति) डरता है (अशनाया) भूख (पिपासे) और प्यास (उभे) दोनों को (तीर्त्वा) तैरकर (शोकातिगः) शोक से रहित मनुष्य (स्वर्गलोके) स्वर्गलोक में (मोदते) प्रसन्न रहता है ।। १२ ।।

स त्वमग्निꣳ स्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो, प्रब्रूहि तं श्रद्दधानाय मह्यम्।
स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्त, एतद् द्वितीयेन वृणे वरेण ॥ १३ ॥

अर्थ–(मृत्यो) हे मृत्यु ! (सः, त्वम्) सो तू (स्वर्ग्यम्) स्वर्ग के साधन (अग्निम्) अग्नि को (अध्येषि) जानता है (तम्) उसे (श्रद्दधानाय) श्रद्धा रखने वाले (मह्यम्) मेरे लिए (प्रब्रूहि) वर्णन कर (स्वर्गलोकाः) स्वर्ग प्राप्त पुरुष (अमृतत्वम्) अमृतत्व को (भजन्ते) सेवा करते हैं (एतद्) यह (द्वितीयेन) दूसरे (वरेण) वर से (वृणे) मांगता हूँ ।। १३ ।।

प्र ते ब्रवीमि तदु मे निबोध, स्वर्ग्यमग्निं नचिकेतः प्रजानन्।
अनन्तलोकाप्तिमथो प्रतिष्ठां, विद्धि त्वमेतन्निहितं गुहायाम् ॥ १४ ॥

अर्थ–(नचिकेत:) हे नचिकेता! (स्वर्ग्यम्) स्वर्ग प्राप्ति के साधन (अग्निम्) अग्नि को (प्रजानन्) जानता हुआ (ते) तेरे लिए (तत्) उस को (प्रब्रवीमि) कहता हूँ (मे, निबोध) मेरे वचन को सुन और जान (अथ) और (त्वम्) तू (एनम्) इस (अग्नि) को (अनन्त) विविध (लोकाप्तिम्) लोकों (योनियों) को प्राप्त कराने वाला (प्रतिष्ठाम्) (जगत्) की स्थिति का हेतु (गुहायाम्) हृदयाकाश में (निहितम्) स्थित (विद्धि) जान ॥ १४ ॥

लोकादिमग्निं तमुवाच तस्मै, या इष्टका यावतीर्वा यथा वा।
स चापि तत्प्रत्यवदद्यथोक्तमथास्य मृत्युः पुनरेवाह तुष्टः ॥ १५ ॥

अर्थ–(तस्मै) नचिकेता के लिए (लोकादिम्) सृष्टि के भी आदि में उत्पन्न (तम्, अग्निम्) उस अग्नि को (उवाच) बतलाया (या:) जो (वा) या (यावती:) जितनी (वा यथा) या जिस प्रकार से (इष्टका:) ईंटें चिननी चाहिए (च) और (स) उस नचिकेता ने (अपि) भी (यथा) जिस प्रकार मृत्यु ने (उक्तम्) बतलाया या (तत्) उस को (प्रति अवदत्) कहकर सुनाया (अथ) तब (अस्य) इस (नचिकेता) के ऊपर (तुष्टः सन्) प्रसन्न होता हुआ (पुनः एव) फिर भी मृत्यु (आह) बोला ॥ १५ ॥

तमब्रवीत्प्रीयमाणो महात्मा, वरं तवेहाद्य ददामि भूयः।
तवैव नाम्ना भविताऽयमग्निः सृङ्कां चेमामनेकरूपां गृहाण ॥ १६ ॥

अर्थ–(महात्मा) मृत्यु (प्रीयमाण:) प्रसन्न होकर (तम्) उस नचिकेता से (अब्रवीत्) बोला–(भूय:) और भी (इह) इस (दूसरे वर के प्रसंग) में (तव) तेरे लिए (अद्य) अब (वरम्) वर (ददामि) देता हूँ (अयम्) यह (अग्नि:) अग्नि (तव) तेरे (एव) ही (नाम्ना) नाम से (भविता) प्रसिद्ध होगा (च) और (इमाम्) तू इस (अनेकरूपाम्) अनेक रूप वाली (सृङ्काम्) माला को (गृहाण) ग्रहण कर ॥ १६ ॥

त्रिणाचिकेतस्त्रिभिरेत्य सन्धिं, त्रिकर्मकृत्तरति जन्ममृत्यू।
ब्रह्मजज्ञं देवमीड्यं विदित्वा, निचाय्येमाꣳशान्तिमत्यन्तमेति ॥ १७ ॥

अर्थ–(त्रिणाचिकेत:) तीन बार (जिस अग्नि का उपदेश नचिकेता को किया गया और जो उसके नाम से प्रसिद्ध हुआ) उस नाचिकेत अग्नि का चयन करने वाला (त्रिभि:) तीन से (सन्धिम्) मेल को (एत्य) प्राप्त होकर (त्रिकर्मकृत्) तीन कर्म करने वाला (जन्म-मृत्यू) जन्म और मरण को (तरति) पार हो जाता है (ब्रह्मयज्ञम्) वेद के उत्पन्न करने वाले (ईड्यम्) स्तुति के योग्य (देवम्) ईश्वर को (विदित्वा) जान (निचाय्य) और निश्चय करके (अत्यन्तम्) शान्ति को (एति) प्राप्त होता है ।। १७ ।।

त्रिणाचिकेतस्त्रयमेतद्विदित्वा, य एवं विद्वांश्चिनुते नाचिकेतम्।
स मृत्युपाशान् पुरत: प्रणोद्य, शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ।। १८ ।।

अर्थ–(य:) जो (विद्वान्) (त्रिणाचिकेत:) तीन बार अग्नि का चयन करने वाला (एतत्) इस (त्रयम्) त्रित्व को (विदित्वा) जानकर (एवम्) इस प्रकार (नाचिकेतम्) नाचिकेत अग्नि को (चिनुते) चयन करता है (स:) वह (मृत्युपाशान्) मृत्यु की बेड़ियों को (पुरत:) आगे (प्रणोद्य) काटकर (शोकातिग:) शोक से रहित होकर (स्वर्गलोकं) स्वर्ग लोक में (मोदते) आनन्द करता है ।। १८ ।।

व्याख्या–नचिकेता ने स्वर्ग के साधन रूप अग्नि को दूसरे वर से जानने की इच्छा प्रकट की और यम ने उसको उस अग्नि का यथोचित उपदेश किया। वह स्वर्ग क्या था और उसकी प्राप्ति का साधन रूप वह अग्नि क्या थी ? सकामता के साथ यज्ञादि करने से जिस स्वर्ग की प्राप्ति का विधान ब्राह्मण तथा उपनिषद् ग्रन्थों में किया गया, स्पष्ट है कि उस स्वर्ग के सम्बन्ध में न तो नचिकेता ने प्रश्न किया था और न यमाचार्य ने उस स्वर्ग को प्राप्ति के साधन ही नचिकेता को बतलाये थे। नचिकेता के प्रश्न में अभिलक्षित स्वर्ग के विशेषण दिए हैं वे ये हैं कि वहाँ जरा (बुढ़ापा आदि) और मृत्यु नहीं है और न भूख-प्यास का वहाँ कष्ट भोगना पड़ता है। वहाँ निर्भीकता के साथ सुखोपभोग करते हुए स्वर्गवासी अमरता का सेवन करते हैं। यम ने उस स्वर्ग की साधन भूत जिस अग्नि का विधान किया है, उसको उसने अनेक

लोकों (योनियों) को प्राप्त कराने वाला, जगत् की स्थिति का कारण और हृदयाकाश में स्थित बतलाया है। ये प्रश्नोत्तर स्पष्ट रीति से प्रकट करते हैं कि नचिकेता ने ब्रह्मलोक (मोक्ष) प्राप्ति का साधन पूछा था और यम ने ईश्वर-प्राप्ति का साधन उसको बतलाया है। वह स्वर्ग जो सकाम कर्म यज्ञादि से प्राप्त हुआ करता है, वह मनुष्यों में सर्वश्रेष्ठ (देवयोनि) में पैदा होने से बढ़कर और कुछ नहीं, अवश्य वह देवयोनि दुःखों से रहित और उत्कृष्टतम सांसारिक सुखों से पूर्ण होती है। इसलिए शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि "सकामजन्म स्वर्ग" में मनुष्य स्थूल शरीर के साथ उत्पन्न हुआ करता है–

"स ह सर्वतनूरेव यजमानोऽमुष्मिंल्लोके सम्भवति।"

(शतपथ ब्राह्मण ४/६/१/१)

साफ जाहिर है कि स्थूल शरीर के साथ उत्पन्न होकर जरा, मृत्यु, भूख, प्यासादि से छुटकारा पा लेना सम्भव नहीं है। जो स्वर्ग प्रश्नोत्तर में पूछा और बतलाया गया है उसकी प्राप्ति का मुख्य साधन ईश्वर-प्राप्ति ही है। हाँ, गौण साधन उसकी प्राप्ति का भौतिक अग्नि भी हो सकता है और इसलिए यम ने ईंटों से यज्ञकुण्ड बनाने की पूर्ण विधि भी बताई, जो ईश्वर-प्राप्ति के साधन = निश्चयात्मक ज्ञान-प्राप्ति का गौण साधन अवश्य हो सकता है और वह इस प्रकार कि उसे सकामता दूर करके पूर्ण निष्कामता के साथ किया जाए। निष्काम कर्म के मोक्ष के साधन होने में किसी को सन्देह हो ही नहीं सकता। उपनिषद् के अन्त में कहे हुए शब्द कि "मृत्यु के बन्धन से मुक्त हो और शोक रहित होकर प्राणी स्वर्गलोक में आनन्द प्राप्त करता है।" स्पष्ट रीति से स्वर्गलोक का अभिप्राय ब्रह्मलोक प्रकट करते हैं ॥ १२-१८ ॥

एष तेऽग्निर्नचिकेतः स्वर्ग्यो यमवृणीथा द्वितीयेन वरेण।
एतमग्निं तवैव प्रवक्ष्यन्ति जनासस्तृतीयं वरं नचिकेतो वृणीष्व ॥ १९ ॥

अर्थ–(नचिकेतः) हे नचिकेता (एषः) यह अग्नि (स्वर्ग्यः) स्वर्ग का साधन (ते) तेरे लिए कहा गया (यम्) जिसको

(द्वितीयेन) दूसरे (वरेण) वर से (अवृणीथाः) तूने मांगा था (एतम्) इस (अग्निम्) अग्नि को (जनासः) मनुष्य (तव, एव) तेरे ही नाम से (प्रवक्ष्यन्ति) कहेंगे (नचिकेतः) हे नचिकेता ! (तृतीयम्) तीसरा (वरं) वर (वृणीष्व) मांग ॥ १९ ॥

येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके।
एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं, वराणामेष वरस्तृतीयः ॥ २० ॥

अर्थ–(मनुष्ये) मनुष्य के (प्रेते) मरने पर (अयम्) यह आत्मा (अस्ति) बाकी रहता है (इति) ऐसा (एके) कुछ लोग (च) और (न) नहीं (अस्ति) रहता (इति) ऐसा भी (एके) कुछ लोग मानते हैं (या) जो (इयम्) यह (विचिकित्सा) सन्देह है (त्वया) आपसे (अनुशिष्टः) उपदेश किया हुआ (अहम्) मैं (एतत्) इसको (विद्याम्) जानूं (वराणाम्) वरों में (एषः) यह (तृतीयः) तीसरा (वरः) वर है ॥ २० ॥

देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा, न हि सुविज्ञेयमणुरेष धर्मः।
अन्यं वरं नचिकेतो वृणीष्व, मा मोपरोत्सीरति मा सृजैनम् ॥ २१ ॥

अर्थ–(पुरा) पहले (अत्र) इसमें (देवः) विद्वानों ने (अपि) भी (विचिकित्सिम्) सन्देह किया था (हि) निश्चय (एषः) यह (धर्मः) विषय (अणुः) सूक्ष्म होने से (सुविज्ञेयम्, न) सुगमता से जानने योग्य नहीं है (नचिकेतः) इसलिए हे नचिकेता ! (अन्यम्) कोई और (वरम्) वर (वृणीष्व) मांग (मा) मुझको (मा) मत (उपरोत्सीः) ऋणी के तुल्य दबा (एनम्) इस वर को (अतिसृज) छोड़ दे ॥ २१ ॥

देवैरत्रापि विचिकित्सितं किल, त्वञ्च मृत्यो यन्न सुविज्ञेयमात्थ।
वक्ता चास्य त्वादृगन्यो न लभ्यो, नान्यो वरस्तुल्य एतस्य कश्चित् ॥ २२ ॥

अर्थ–(मृत्यो) हे मृत्यु ! (अत्र) इस विषय में (देवैः) देवों ने (अपि) भी (विचिकित्सितं) सन्देह किया था (त्वम् च किल) और तू भी (यत्) जो (सुविज्ञेयं न) सुगमता से जानने योग्य नहीं है ऐसा (आत्थ) कहता है परन्तु (अस्य) इस विषय का (वक्ता) उपदेश करने वाला (त्वादृग्) तेरे

तुल्य (अन्यः) और (न, लभ्यः) नहीं मिल सकता (च) और (एतस्य) इस वर के (तुल्यः) सदृश (अन्यः) और (कश्चित्) कोई (वरः न) वर नहीं है ॥ २२ ॥

शतायुषः पुत्रपौत्रान् वृणीष्व, बहून् पशून् हस्तिहिरण्यमश्वान्।
भूमेर्महदायतनं वृणीष्व, स्वयं च जीव शरदो यावदिच्छसि ॥ २३ ॥

अर्थ–(शतायुषः) १०० वर्ष जीने वाले (पुत्रपौत्रात्) पुत्र और पौत्रों को (वृणीष्व) मांग (बहून्) बहुत (पशून्) पशु, (अश्वान्) घोड़े, (हस्ति) हाथी, (हिरण्यम्) सुवर्ण, (भूमेः) पृथ्वी के (महत्) बड़े, (आयतनम्) माण्डलिक राज्य को (वृणीष्व) मांग (स्वयं च) और तू स्वयं (यावान्) जितने (शरदः) वर्ष (इच्छसि) इच्छा करता है (जीव) जीवित रह ॥ २३ ॥

एतत्तुल्यं यदि मन्यसे, वरं, वृणीष्व वित्तं चिरजीविकाञ्च।
महाभूमौ नचिकेतस्त्वमेधि, कामानां त्वा कामभाजं करोमि ॥ २४ ॥

अर्थ–(यदि) जो (एतत्) इस (वरम्) वर के (तुल्यम्) तुल्य तू (मन्यसे) मानता है तो (वित्तम्) धन और (चिरजीविकाम्) सदा की आजीविका को (वृणीष्व) मांग (नचिकेतः) हे नचिकेता! (त्वम्) तू (महाभूमौ) इस महान् पृथ्वी पर (एधि) बढ़ने वाला हो (त्वा) तुझको (कामानाम्) कामनाओं का (कामभाजम्) भोग करने वाला (करोमि) करता हूँ ॥ २४ ॥

ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके, सर्वान् कामाꣳश्छन्दतः प्रार्थयस्व।
इमा रामाः सरथाः सतूर्या, न हीदृशा लभनीया मनुष्यैः।
आभिर्मत्प्रत्ताभि परिचारयस्व, नचिकेतो मरणं मानुप्राक्षीः ॥ २५ ॥

अर्थ–(मर्त्यलोके) संसार में (ये, ये, कामाः) जो जो कामनाएँ (दुर्लभाः) दुर्लभ हैं (सर्वान्) उन सब (कामान्) कामनाओं को (छन्दतः) यथेष्ट (प्रार्थयस्व) मांग (इमाः) ये (सरथाः) रथों, सहित (सतूर्याः) बाजों के साथ (रामाः) रमणीय स्त्रियाँ हैं (आभिः) इन (मत्प्रत्ताभि) मेरी दी हुई

(स्त्रियों) से (परिचारयस्व) अपनी सेवा करा। (हि) निश्चय (ईदृशाः) ऐसी युवतियाँ (मनुष्यैः) साधारण मनुष्यों से (न लम्भनीयाः) प्राप्त होने योग्य नहीं हैं। (नचिकेतः) हे नचिकेता! (मरणम्) मौत को (मा) मत (अनुप्राक्षीः) पूछ।। २५।।

व्याख्या–नचिकेता का तीसरा प्रश्न आत्मा की अमरता से सम्बन्धित था। आस्तिक और नास्तिक संसार में सदा से रहते चले आये हैं। आस्तिक का सिद्धान्त है कि जीवात्मा अमर है और शरीर नष्ट होने के साथ वह नष्ट नहीं होता किन्तु आवागमन के द्वारा एक को छोड़कर दूसरी योनियों में आया-जाया करता है। परन्तु नास्तिकवाद यह है कि शरीर के मेल का परिणाम आत्मोत्पत्ति है और इसीलिए शरीर के नष्ट होने के साथ वह भी नष्ट हो जाता है। नचिकेता एक नवयुवक ब्रह्मचारी था। इस प्रकार का सन्देह उसे हो जाना स्वाभाविक था और उसी सन्देह की निवृत्ति के लिए उसने यम से यह तीसरा प्रश्न किया था। यम ने पहले वरों की तरह इसका उत्तर न देकर क्यों नचिकेता को अनेक प्रकार के प्रलोभन देकर इस प्रश्न का उत्तर देने से अपने को बचाना चाहा? इसका कारण यह है कि प्राचीन पद्धति यह थी कि आत्मविद्या सम्बन्धी प्रश्नों के उत्तर केवल उन्हीं व्यक्तियों को दिये जाते थे जिनको आचार्य इस विद्या के जानने का पात्र समझा करते थे। नचिकेता इस विद्या के प्राप्त करने का अधिकारी है या नहीं, इसी को जानने के लिए, उसकी परीक्षा लेने के उद्देश्य ही से, इसी प्रकार के प्रलोभन उसे दिए गए थे और जब वह प्रलोभनों में न आकर परीक्षोत्तीर्ण हुआ तो यम ने उसे अपेक्षित शिक्षा दी। यम ने जो प्रलोभन नचिकेता को दिये थे। उनमें उसने सौ वर्ष जीने वाले पुत्र पौत्रों को देने की बात कही तथा माण्डलिक राज्य देने का प्रलोभन भी उसे दिया था। यम के लिए किस प्रकार यह सम्भव था कि वह इन दिये गये प्रलोभनों की पूर्ति करता, यह सन्देह है जो उपनिषद् के पढ़ने वालों के हृदयों में प्रायः उठा करता है। इसका समाधान यह है–(१) योगदर्शन

में कहा गया है कि जो मनुष्य सत्य की सिद्धि कर लेता है उसकी वाणी में अमोघता आ जाती है अर्थात् ऐसी सिद्धि प्राप्त होती है वह जो कुछ भी कह देता है वह सत्य हो जाता है।[8] सम्भव है कि यम ऐसी ही सिद्धि प्राप्त योगी हो। दूसरी बात माण्डलिक राज्य देने के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि सम्भव है कि जनक और अजातशत्रु आदि की तरह आत्मज्ञानी होने के सिवाय यम समृद्धिशाली भी हो और ऐसी हालत में उसके लिए यह सर्वथा सम्भव था कि वह नचिकेता को अपने राज्य का कोई भाग दे डालता यदि नचिकेता प्रलोभन में आ जाता। एक बात और भी इस सम्बन्ध में कही जाती है और वह यह है कि यम ने दूसरे वर 'ईश्वर प्राप्ति' के सम्बन्ध में, जो ब्रह्मविद्या का गहनतम प्रश्न है, नचिकेता को ननु-नच किये बिना ही उसका उत्तर दे दिया परन्तु जीवात्मा का वर्णन करने में इस प्रकार की परीक्षा लेना क्यों आवश्यक समझा ? इसका उत्तर यह है कि यम को दूसरे वर के सम्बन्ध में नचिकेता को स्थूल विवरण दे देने के सिवाय कुछ सूक्ष्म रहस्य उद्घाटित नहीं करने थे। इसलिए कि वह उपनिषद् का मुख्य प्रश्न नहीं परन्तु तीसरा प्रश्न उपनिषद् का मुख्य प्रश्न है और इसमें यम को ब्रह्मविद्या का हृदय खोलकर नचिकेता के सम्मुख रखना था। इसलिए ऐसा करने से पूर्व उसने नचिकेता की परीक्षा ले लेनी आवश्यक समझी और इसीलिए उसने उसे तरह-तरह के प्रलोभन दिये ।। १९-२५ ।।

श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत् सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः ।
अपि सर्वं जीवितमल्पमेव तवैव वाहास्तव नृत्यगीते ॥ २६ ॥

अर्थ–(अन्तक) हे मृत्यु ! (यद्) यह (श्वोभावाः) कल ही कल, (मर्त्यस्य) मनुष्य की (सर्वेन्द्रियाणाम्) समस्त इन्द्रियों के (एतत्) इस (तेज) का (जरयन्ति) नाश कर देती हैं (सर्वम्) सब (अपि) भी (जीवितम्) जीवन (अल्प एव)

थोड़ा ही है। (इसलिए मनुष्य) (तव, एव) तेरे ही (मृत्यु के ही) (वाहाः) वाहन रहें और (नृत्यगीते) नाचना गाना भी (तव) तेरा ही रहा ॥ २६ ॥

न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो लप्स्यामहे वित्तमद्राक्ष्म चेत्त्वा।
जीविष्यामो यावदीशिष्यसि त्वं वरस्तु मे वरणीयः स एव ॥ २७ ॥

अर्थ–(मनुष्यः) मनुष्य (वित्तेन) धन से (न) नहीं (तर्पणीयः) तृप्त होता (चेत्) जो (त्वा) तुझ को (अद्राक्ष्म) हमने देखा तो (वित्तम्) धन को (लप्स्यामहे) प्राप्त होंगे। (यावत्) जब तक (त्वम्) तू (ईशिष्यसि) चाहेगा (जीविष्यामः) जीवेंगे। इसलिए (मे) मुझको (वरः) वर (तु) तो (सः, एव) वह ही (वरणीयः) मांगना है ॥ २७ ॥

व्याख्या–नचिकेता यम के दिए हुए प्रलोभनों में नहीं आया, उसने साफ यम से कह दिया कि जिस वस्तु धनादि से मनुष्य की कभी तृप्ति ही नहीं होती उसे तुझसे मांगकर मैं क्या करूँगा। इसके सिवाय मनुष्य यदि पूर्ण आयु को भी प्राप्त कर लेवे तब भी तो वह केवल १०० वर्ष का समय, आत्मज्ञान प्राप्ति के फल की अपेक्षा बहुत थोड़ा है और फिर उस आयु के समाप्त होने पर मनुष्य को मौत के फन्दे में फंसना पड़ता है। इसलिए क्यों न वह ज्ञान प्राप्त किया जावे जिससे अमरता का जीवन प्राप्त हो सके और वह (नचिकेता) मौत के फन्दे से भी छूट सके। मनुस्मृति २/६४ में लिखा है–

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाऽभिवर्धते ॥

महाभारत में भी (देखो अ० ७५/१९) यह श्लोक आया है। राजा ययाति, शुक्राचार्य के शाप से, कहा जाता है कि बूढ़ा हो गया परन्तु फिर शुक्र की कृपा से उसका बुढ़ापा जवानी में बदल गया और उस (ययाति) ने प्रसिद्ध कथानुसार बहुत वर्षों तक इस नई जवानी का उपयोग किया। अन्त में उसने उपर्युक्त वाक्य कहकर प्रकट कर दिया कि "मनुष्य की कामनाएँ भोग

करने से तृप्त नहीं होतीं किन्तु जैसे अग्नि की ज्वाला घृत डालने से बढ़ती हैं इसी प्रकार कामनाएँ भोग करने से और भी अधिक बढ़ जाती हैं। इसलिए नचिकेता ने यम के प्रस्तावित भोगमय जीवन को पसन्द नहीं किया ॥ २६, २७ ॥

अजीर्यताममृतानामुपेत्य जीर्यन्मर्त्यः क्वधःस्थः प्रजानन्।
अभिध्यायन् वर्णरतिप्रमोदानतिदीर्घे जीविते को रमेत ॥ २८ ॥

अर्थ–(अजीर्यताम्) बुढ़ापे से जीर्ण न होने वाले (अमृतानाम्) मुक्त पुरुषों को (उपेत्य) प्राप्त होकर (क्वधःस्थः) पृथ्वी के अधोभाग में स्थित (मर्त्यः) मनुष्य (जीर्यन्) शरीर के नाश का अनुभव करता हुआ (वर्ण) सुन्दरवर्ण (रति) और स्त्री प्रसंग से हुए (प्रमोदान्) सुखों का (अभिध्यायन्) विचार करता हुआ (कः) कौन (प्रजानन्) जानता हुआ। (अति) बड़े (दीर्घे) लम्बे (जीविते) जीवन में (रमेत) रमण करे ॥ २८ ॥

यस्मिन्निदं विचिकित्सन्ति मृत्यो, यत्साम्पराये महति ब्रूहि नस्तत्।
योऽयं वरो गूढमनुप्रविष्टो नान्यं तस्मान्नचिकेता वृणीते ॥ २९ ॥

अर्थ–(मृत्यो) हे मृत्यु ! (यस्मिन्) जिस (विषय) में (इदम्) यह (कि मरने के बाद आत्मा रहता है या नहीं) (विचिकित्सन्ति) सन्देह करते हैं (यत्) जो (महति) महान् (साम्पराये) परमार्थ दशा में (प्राप्त होता है) (तत्) उसको (नः ब्रूहि) हमारे लिए कह (यः) जो (अयम्) यह (गूढम्) सूक्ष्म (वरः) वर (अनुप्रविष्टः) मेरे मन में समाया हुआ है (तस्मात्) उसे (अन्यम्) भिन्न वर (नचिकेता न वृणीते) नचिकेता नहीं चाहता ॥ २९ ॥

व्याख्या–ऐसे सूक्ष्म विषयों के जानने वाले, दुष्प्राप्य हुआ करते हैं। इसलिए यम से नचिकेता ने कहा कि तेरे जैसे आत्मज्ञानी को प्राप्त होकर मैं किसलिए क्षणिक सांसारिक विषय भोग के सुख की इच्छा करूँ। विषय सुख की निःसारता का प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि कोई भी वस्तु उदाहरण के लिए थोड़ी सी शक्कर, स्वाद लेने के अभिप्राय से, जुबान पर रखो,

जुबान पर रखते ही उसका स्वाद आ जायेगा। अब कोई यदि इस उद्देश्य से कि वह स्वाद बराबर आता रहे, शक्कर को न खाकर जुबान ही पर रखा रहने दे तो अब उसको स्वाद नहीं आता। हाँ, शक्कर की दूसरी मात्रा को जुबान पर फिर रखने से अवश्य स्वाद आ जायेगा। परन्तु स्वाद आने के बाद उसी शक्कर ही को कितनी ही देर जुबान पर रखने से फिर स्वाद नहीं आता। इसीलिए आत्मज्ञानी स्त्री-पुरुष सांसारिक विषय सुख को निस्सार कहते और मानते हैं ।। २८, २९ ।।

।। प्रथमा वल्ली समाप्त ।।
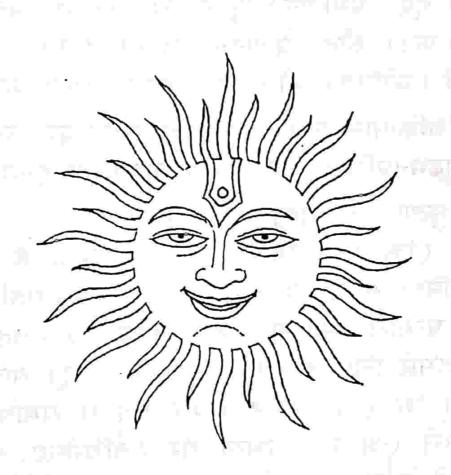
द्वितीया वल्ली

अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुषꣳ सिनीतः।
तयोः श्रेय आददानस्य साधु भवति हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते ॥ १ ॥

अर्थ–(श्रेयः) मोक्ष मार्ग (अन्यत्) और है (उत्) और (प्रेयः) लोकोन्नति का मार्ग (अन्यत्, एव) और ही है (ते) वे (उभे) दोनों (नानार्थे) भिन्न-भिन्न अर्थ में (पुरुषम्) मनुष्य को (सिनीतः) बांधते हैं (तयोः) उन दोनों में से (श्रेयः) श्रेय (आददानस्य) ग्रहण करने वाले का (साधु) कल्याण (भवति) होता है। (यः उ) और जो (प्रेयः वृणीते) प्रेय को ग्रहण करता है वह (अर्थात्) उद्देश्य से (हीयते) गिर जाता है ॥ १ ॥

व्याख्या–प्रवृत्ति (प्रेय) और निवृत्ति (श्रेय) अर्थात् लोक और परलोकोन्नति, ये दो मार्ग हैं जिनसे मनुष्य को गुजरना पड़ता है। इनमें से प्रेय को इस प्रकार व्यतीत करना चाहिए जिससे वह श्रेय का साधन बन जाये। इसलिए कहा गया है कि उद्देश्य तो श्रेय बनाना चाहिए परन्तु जो लोग विषय-भोग की दृष्टि से केवल लोकोन्नति को अपना लक्ष्य (ध्येय) बना लेते हैं और श्रेय की चिन्ता नहीं करते वे दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति रूप असली ध्येय से गिर जाते हैं।

उदाहरण– इस सम्बन्ध में नारद की एक बड़ी शिक्षाप्रद आख्यायिका प्रसिद्ध है। नारद की युवावस्था ही थी जब वह श्रीकृष्ण के पास आत्मज्ञान प्राप्त करने आया। कृष्ण जी ने उसे अनधिकारी समझकर उपदेश नहीं दिया, परन्तु नारद उनके सिर रहा। एक दिन श्रीकृष्ण और नारद सैर करने चल दिये। रास्ते में कुछ ही दूरी पर एक गाँव दिखाई दिया। कृष्ण को प्यास लगी। नारद गाँव से पानी लेने गया। कुएँ पर एक सुन्दर युवती जल भर रही थी। नारद को उसने पानी दिया, परन्तु नारद

उसके रूप पर इतना मोहित हुआ कि युवती के पीछे-पीछे उसके घर चला गया और वह अविवाहित थी इसलिए उसके पिता से विनय की कि युवती का विवाह उससे कर दिया जावे। विवाह के बाद गृहस्थी बनकर नारद वहीं रहने लगा। उनके क्रमशः तीन पुत्र हुए। पिता मर चुका था। कुछ समय बाद ग्राम में पानी की बाढ़ आई और नारद ने अपनी स्त्री और बच्चों को लेकर ग्राम के चारों ओर भरे पानी से प्राण रक्षार्थ निकलने का यत्न किया परन्तु पानी वेग से बढ़ता ही जाता था। इसलिए सावधानी करने पर भी एक-एक करके तीनों पुत्र और स्त्री पानी में बह गये। कठिनता से नारद अपने प्राण बचाकर वहाँ पहुँचा, जहाँ से वह श्रीकृष्ण के लिए पानी लेने चला था। वहाँ पहुँचने पर उस को स्मरण आया कि वह अपने उद्देश्य से पतित होकर किस जगड्वाल में फंस गया था।। १ ।।

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः।
श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते, प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते ॥ २ ॥

अर्थ–(श्रेयः) श्रेय (च) और (प्रेयः) प्रेय (मनुष्यम्) मनुष्य को (एतः) प्राप्त होते हैं (धीरः) बुद्धिमान् (तौ) उन दोनों को (सम्परीत्य) प्राप्त होकर (विविनक्ति) विचार करता है। (धीरः) (विद्वान्) (हि) निश्चय (प्रेयसः) प्रवृत्ति मार्ग से (श्रेयः) निवृत्ति मार्ग को (अभिवृणीते) स्वीकार करता है (मन्दः) मूर्ख (योगक्षेमात्) सांसारिक सुखों के प्राप्त करने और उनको रक्षित करने के विचार से (प्रेयः) प्रवृत्ति मार्ग को (वृणीते) ग्रहण करता है।। २ ।।

स त्वं प्रियान् प्रियरूपांश्च कामानभिध्यायन्नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः।
नेताꣳसृङ्कां वित्तमयीमवाप्तो, यस्याम्मज्जन्ति बहवो मनुष्याः ॥ ३ ॥

अर्थ–(नचिकेतः) हे नचिकेता ! (सः) सो (त्वम्) तूने (प्रियान्) पुत्रादि, (प्रियरूपान्) सुन्दर स्त्री आदि (कामान्) भोगों को (अभिध्यायन्) निस्सार समझते हुए (अत्यस्राक्षीः) छोड़ दिया (एताम्) इस (भोग की) (सृङ्कम्) शृंखला में (न,

अवाप्तः) नहीं फंसा (यस्याम्) जिसमें (बहवः) बहुत (मनुष्याः) मनुष्य (मज्जन्ति) फंस जाते हैं ॥ ३ ॥

व्याख्या–यम नचिकेता से कहता है कि धीर पुरुष श्रेय को और मन्द अज्ञानी पुरुष सांसारिक सुख की दृष्टि से केवल प्रेय को अपना ध्येय बनाते हैं परन्तु तूने विषयभोग की निस्सारता पर विचार करके छोड़ दिया जिस में बहुत लोग फंस जाया करते हैं ॥ ३, ४ ॥

दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्येति ज्ञाता।
विद्याऽभीप्सिनं नचिकेतसं मन्ये न त्वा कामा बहवोऽलोलुपन्त ॥ ४ ॥

अर्थ–(एते) ये दोनों मार्ग (विपरीते) एक-दूसरे से विपरीत (विषूची) विरुद्धार्थ सूचक (दूरम्) और दूर हैं (या) जो (अविद्या) अविद्या (च) और (विद्या) विद्या (इति) इस नाम से (ज्ञाता) जाने गये हैं (नचिकेतसम्) तुझ नचिकेता को (विद्याभीप्सिनम्) विद्या (श्रेय) का चाहने वाला (मन्ये) मानता हूँ (त्वा) तुझको (बहवः) बहुत सी (कामाः) कामनाएँ (न, अलोलुपन्त) प्रलोभित नहीं करती हैं ॥ ४ ॥

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥ ५ ॥

अर्थ–(अविद्यायाम्) अविद्या (अन्तरे) में (वर्तमानाः) पड़े हुए (स्वयम्) अपने को (धीराः) धीर और (पण्डितम्) विद्वान् (मन्यमानाः) मानते हुए (दन्द्रम्यमाणाः) उल्टे रास्ते पर चलते हुए (मूढ़ा) मूढ (अन्धेन) अन्धे से (एव) ही (नीयमानाः) ले जाये गये (यथा) जैसे (अन्धाः) (परियन्ति) घूमते हैं ॥ ५ ॥

न साम्परायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे ॥ ६ ॥

अर्थ–(वित्तमोहेन) धन के मोह से (मूढम्) मूढ़ (प्रमाद्यन्तम्) प्रमादपूर्ण (बालम्) विवेक रहित पुरुष को (साम्परायः) परलोक की बात (न प्रतिभाति) पसन्द नहीं आती (अयम्)

यह (लोकः) लोक है (परः, नास्ति) परलोक कुछ नहीं (इति) (मानी) ऐसा मानने वाला (पुनः पुनः) बार-बार (मे) मेरे (मृत्यु के) (वशम्) वश में (आपद्यते) आता है ॥ ६ ॥

व्याख्या–श्रेय और प्रेय, निवृत्ति और प्रवृत्ति मार्ग ही को विद्या और अविद्या भी कहते हैं। जो लोग नचिकेता की तरह सांसारिक भोगों में लिप्त नहीं होते वे ही श्रेय (विद्या) पथगामी होते हैं परन्तु प्रेय (अविद्या) ही को जिन लोगों ने अपना ध्येय बना रखा है और जो खुले तौर से परलोक (श्रेय) पथ की सत्ता नहीं मानते, उन्हें बार-बार मृत्यु का ग्रास बनना पड़ता है। वे संसार में भी सफल मनोरथ नहीं होते।

उदाहरण– ऐन्थनी (Anthony) ने सांसारिक प्रेम से प्रसन्नता की आशा की, ब्रूटस (Brutus) ने लोकैषणा ही से सुख चाहा और जूलियस सीज़र (Julius Ceasar) ने दूसरों पर विजय कामना में ही आनन्द ढूँढ़ा, परन्तु इतिहास साक्षी है कि पहला अपमानित हुआ, दूसरे को ग्लानि और तीसरे को दुःखी होना पड़ा और परिणाम में तीनों ही की बरबादी हुई। इसीलिए केवल प्रेय ही से सुख चाहना भूल है। श्रेय को ऊँचा आसन देने से प्रेय की भी उपयोगिता हो जाती है।

श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः।
आश्चर्योऽस्य वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाऽऽश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः ॥ ७ ॥

अर्थ–(यः) जो (आत्मज्ञान) (बहुभिः) बहुतों को (श्रवणाय अपि) सुनने को भी (न लभ्यः) नहीं मिलता (शृण्वन्तः, अपि) सुनते हुए भी (बहवः) बहुत (यम्) जिसको (न विदुः) नहीं जानते (अस्य) इस आत्मज्ञान का (वक्ता) वक्ता (आश्चर्यः) कोई बिरला ही होता है। (अस्य) इसका (लब्धा) पाने वाला (कुशलः) कोई प्रवीण ही होता है (कुशलानुशिष्टः) प्रवीण पुरुष से उपदेश पाया हुआ (ज्ञाता) जानने वाला (आश्चर्यः) कोई होता है ॥ ७ ॥

व्याख्या–परलोक पथ-प्रदर्शक कोई-कोई अर्थात् बहुत थोड़े होते हैं। यह मार्ग कुछ कठिन है। इसलिए बहुत तो इसे

जानना ही नहीं चाहते और जो जानना भी चाहते हैं उनमें से बहुत के यह समझ ही में नहीं आता ॥ ७ ॥

न नरेणावरेण प्रोक्त एष सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमानः।
अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्त्यणीयान् ह्यतर्क्यमणुप्रमाणात् ॥ ८ ॥

अर्थ–(अवरेण) साधारण (नरेण) मनुष्य से (प्रोक्ताः) उपदेश किया (बहुधा) बहुत प्रकार से (चिन्त्यमानः) चिन्तन किया हुआ भी (एषः) यह आत्मा (सुविज्ञेयः, न) सुगमता से जानने योग्य नहीं है (अनन्यप्रोक्ते) ईश्वर के अनन्य भक्त के उपदेश किए हुए (अत्र) इस आत्मा में (गतिः, नास्ति) सन्देह नहीं होता (अणुप्रमाणात्) वह आत्मा सूक्ष्म से भी (अणीयान्) अति सूक्ष्म है (हि) और निश्चय (अतर्क्यम्) तर्क करने योग्य नहीं है ॥ ८ ॥

नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ।
यान्त्वमापः सत्यधृतिर्वतासि त्वादृङ् नो भूयान्नचिकेतः प्रष्टा ॥ ९ ॥

अर्थ–(प्रेष्ठ) हे प्रियतम नचिकेता ! (एषा) यह आत्मज्ञान विधायिका (मतिः) बुद्धि (तर्केण) तर्क से (न अपनेया) नहीं बिगाड़नी चाहिये (अन्येन, एव) आत्मवित् गुरु ही से (प्रोक्ता) उपदेश की हुई बुद्धि की (सुज्ञानाय) उत्तम ज्ञान के लिए उपयोगिता होती है। (त्वम्) तू (याम्) जिस बुद्धि को (आपः) प्राप्त हुआ है उससे (सत्य) निश्चल (धृतिः वत) धैर्य वाला (असि) है (नचिकेतः) हे नचिकेता ! (त्वादृक्) तेरे समान ही (नः) हमसे (प्रष्टा भूयात्) पूछने वाला हो ॥ ९ ॥

व्याख्या–जो लोग अवर (अश्रेष्ठ) अर्थात् स्वयं श्रेय पथगामी नहीं हैं वे यह मार्ग किसी को नहीं दिखा सकते परन्तु जो इस पथ के पथिक–ईश्वर के अनन्य भक्त हैं, उनके बतला देने पर किसी को भी सन्देह नहीं रहता। वह परमात्मा जो इस मार्ग (श्रेय) का लक्ष्य है वह सूक्ष्म से सूक्ष्म और निदिध्यासन (आत्मा से ग्रहण होने योग्य) का विषय होने से

तर्क का विषय नहीं है। इसलिए इस विषय में तर्क काम नहीं दे सकता किन्तु तर्क कुतर्क होने से बुद्धि का बिगाड़ने वाला होता है ॥८,९॥

जानाम्यहꣳ शेवधिरित्यनित्यं न ह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवन्तत्।
ततो मया नाचिकेतश्चितोऽग्निरनित्यैर्द्रव्यैः प्राप्तवानस्मि नित्यम् ॥१०॥

अर्थ–(अहम्) मैं (शेवधिः) धन, ऐश्वर्य (अनित्यम्) अनित्य है (इति जानामि) ऐसा जानता हूँ (हि) निश्चय (अध्रुवैः) अस्थिर साधनों से (तत्) वह (ध्रुवम्) अचल आत्मा (न, प्राप्यते) नहीं प्राप्त किया जाता है (ततः) इसलिए (मया) मैंने (नाचिकेतः अग्निः) नाचिकेत अग्नि का (चितः) चयन किया (और फलेच्छा रहित होकर) अनित्यैः द्रव्यैः) अनित्य पदार्थों से (नित्यम्) नित्य ब्रह्म को (प्राप्तवान् अस्मि) परम्परा से प्राप्त हुआ हूँ ॥१०॥

व्याख्या–जब यज्ञ, फल विशेष की कामना से किया जाता है तब वह उसी अनित्य फल का अनित्य साधन हुआ करता है परन्तु जब वही यज्ञ निष्कामता के साथ फल को ईश्वर के अर्पण करके किया जाता है तब वह अनित्य होते हुए भी नित्य ईश्वर की प्राप्ति के साधनों में से एक हो जाता है। यम ने इसी दूसरे प्रकार के यज्ञ द्वारा ईश्वर की प्राप्ति का संकेत इस उपनिषद्वाक्य में किया है ॥१०॥

कामस्याप्तिं जगतः प्रतिष्ठां क्रतोरानन्त्यमभयस्य पारम्।
स्तोमं महदुरुगायं प्रतिष्ठां दृष्ट्वा धृत्या धीरो नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः ॥११॥

अर्थ–(नचिकेतः) हे नचिकेता ! (कामस्य) भोग सम्बन्धी कामनाओं की (अप्राप्तिम्) प्राप्ति को (जगतः) जगत् की (प्रतिष्ठाम्) प्रतिष्ठा को (क्रतोः) यज्ञादि के (आनन्त्यम्) फल को (अभयस्य) लौकिक निर्भीकता की (पारम्) पराकाष्ठा को (स्तोमं महत्) स्तुति योग्य महिमा और (प्रतिष्ठाम्) प्रतिष्ठा को (उरुगायम्) (बहुधा मनुष्य जिनका) गीत गाते हैं (दृष्ट्वा) (असार) देखकर (धृत्वा) स्थिरता के साथ (अत्यस्राक्षीः) छोड़ दिया (इसलिए तू) (धीरः) धीर है ॥११॥

व्याख्या–संसार के भोग की कामना आदि, जिनका इस श्लोक में जिक्र है, सामयिक और अल्पकालिक हैं, परन्तु ब्रह्म प्राप्ति का सुख चिरकालिक है इसलिए नचिकेता ने इस दूसरे के लिए पहले (सांसारिक सुख) को छोड़ दिया ॥ ११ ॥

तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ॥ १२ ॥

अर्थ–(धीरः) विद्वान् (अध्यात्म) आत्मा सम्बन्धी (योग) योग के (अधिगमेन) अभ्यास से (तम्) उस (दुर्दर्शम्) कठिनता से प्राप्त होने योग्य (गूढम्) सूक्ष्म (अनुप्रविष्टम्) अन्तःकरण और आत्मा में व्यापक (गुहाहितम्) हृदयाकाश में स्थित (गह्वरेष्ठम्) दुष्प्राप्य (पुराणम्) नित्य (देवम्) प्रकाशमय (परमात्मा) को (मत्वा) जानकर (हर्षशोकौ) सुख-दुःख दोनों को (जहाति) छोड़ देता है ॥ १२ ॥

एतच्छ्रुत्वा सम्परिगृह्य मर्त्यः प्रवृह्य धर्म्यमणुमेतमाप्य।
स मोदते मोदनीयꣳ हि लब्ध्वा विवृतꣳ सद्म नचिकेतसम्मन्ये ॥ १३ ॥

अर्थ–(मर्त्यः) मनुष्य (एतत्) इस (धर्म्यम्) धर्म से सिद्ध होने योग्य आत्मा को (श्रुत्वा) सुनकर और (सम्परिगृह्य) अच्छी प्रकार ग्रहण और (प्रवृह्य) बारम्बार अभ्यास करके (एतत्) इस (अणुम्) सूक्ष्म (ब्रह्म) को (आप्य) प्राप्त हो और (सः) इस (मोदनीयम्) आनन्द रूप को (लब्ध्वा) उपलब्ध करके (मोदते) आनन्दित होता है–ऐसे ब्रह्म को (नचिकेतसम्) तुझ नचिकेता के प्रति (विवृतम्) खुला है (सद्म) द्वार (जिसका ऐसे स्थान के सदृश (मन्ये) मानता हूँ ॥ १३ ॥

व्याख्या–अनेक गुणों से भूषित ब्रह्म को जानकर संसार के द्वन्द्वमय सुख और दुःख दोनों को धीर पुरुष छोड़ और अभ्यास तथा वैराग्य से उस ब्रह्म को प्राप्त कर लिया करता है–यह ब्रह्म प्राप्ति का मार्ग नचिकेता के लिए खुला हुआ है। ऐसा यम समझता है। विषय भोग सम्बन्धी सांसारिक सुख भी अन्त में दुःख प्राप्ति का हेतु हुआ करता है इसलिए आत्मज्ञानी, दुःख के साथ इस सुख को भी छोड़ दिया करता है ॥ १२, १३ ॥

अन्यत्र धर्मादन्यत्राऽधर्मादन्यत्रास्मात्कृताऽकृतात्।
अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद ॥ १४ ॥

अर्थ–(धर्मात्) कर्त्तव्य रूप आचरण से (अन्यत्र) पृथक् (अर्थात्) अकर्तव्य से भी (अन्यत्र) पृथक् (अस्मात्) इस (कृत) कार्य्य (अकृतात्) और कारण से (अन्यत्र) भिन्न (भूतात्) बीते काल से (भव्यात्) आने वाले समय से (च) वर्तमान से भी (अन्यत्र) अलग (यत्) जिसको (पश्यसि) तू देखता है (तत्) उसको (वद) कह ॥ १४ ॥

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपाꣳसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदꣳसंग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ॥ १५ ॥

अर्थ–(सर्वे वेदाः) चारों वेद (यत्) जिस (पदम्) पद का (आमनन्ति) वर्णन करते हैं (सर्वाणि) सारे (तपांसि च) तप और नियमादि (यत्) जिस पद का (वदन्ति) कथन करते हैं। (यत्) जिस पद की (इच्छन्तः) इच्छा करते हुए (ब्रह्मचर्य्यम्) ब्रह्मचर्य के नियमों का (चरन्ति) आचरण करते हैं (तत्) उस (पदम्) पद को (ते) तेरे (नचिकेता के) लिए (संग्रहेण) संक्षेप से (ओम्) ओ३म् (इति) है (एतत्) यह (ब्रवीमि) कहता हूँ ॥ १५ ॥

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥ १६ ॥

अर्थ–(हि) निश्चय (एतत्) यह (ओ३म्) (एव) ही (अक्षरम्) नाश न होने वाला (ब्रह्म) ब्रह्म है (एतत्) यह (एव) ही (परम्) सर्वश्रेष्ठ (अक्षरम्) अक्षर हैं (एतत्, हि, एव) निश्चय इस ही (अक्षरम्) अविनाशी ब्रह्म को (ज्ञात्वा) जानकर (यः) जो कोई (यत्) जिस विषय को (इच्छति) चाहता है (तस्य) उसको (तत्) वह प्राप्त हो जाता है ॥ १६ ॥

एतदालम्बनꣳश्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते ॥ १७ ॥

अर्थ–(एतत्) यह (आलम्बनम्) आश्रय (श्रेष्ठम्) श्रेष्ठ है (एतत्) यह (आलम्बनम्) आश्रय (परम्) सर्वोपरि है (एतत्) इस (आलम्बनम्) आलम्बन को (ज्ञात्वा) जानकर (ब्रह्मलोके) ब्रह्मलोक में (महीयते) आनन्दित होता है ॥ १७ ॥

व्याख्या–नचिकेता के पूछने पर यम ने बतलाया कि ब्रह्म जो मनुष्य के कर्त्तव्याकर्त्तव्य, कृत्याकृत्य और तीनों काल से पृथक् है और जिसका वर्णन समस्त वेद करते हैं और जिसकी प्राप्ति के लिए ब्रह्मचर्यादि व्रतों का पालन किया जाता है, वह ओम् पद वाच्य है और वही अविनाशी तथा सर्वाधार है और उसी के जानने से मनुष्य उच्च गति प्राप्त किया करता है ॥ १४-१७ ॥

न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ १८ ॥

अर्थ–(विपश्चित्) ज्ञानी (अयम्) यह (आत्मा) (न, जायते) न उत्पन्न होता और (वा, न म्रियते) न मरता है (कुतश्चित्) किसी (उपादान) से (न, बभूव) उत्पन्न नहीं हुआ (कश्चित्) कोई (इससे भी उत्पन्न नहीं हुआ) (अयम्) यह आत्मा (अजः) जन्म नहीं लेता (नित्यः) नित्य (शाश्वतः) अनादि (पुराणः) सनातन है (शरीरे) शरीर के (हन्यमाने) नाश होने पर (न, हन्यते) नष्ट नहीं होता ॥ १८ ॥

हन्ता चेन्मन्यते हन्तु ँ हतश्चेन्मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नाय ँ हन्ति न हन्यते ॥ १९ ॥

अर्थ–(चेत्) यदि (हन्तुम्) मारने को, अर्थात् उसने आत्मा को मार दिया, ऐसा (हन्ता) मारने वाला (मन्यते) समझता है (चेत्) और यदि (हतः) मरा हुआ (हतम्) आत्मा को मरा हुआ (मन्यते) जानता है (तौ) वे (उभौ) दोनों (न, विजानीतः) कुछ नहीं जानते (अयम्) यह आत्मा (न हन्ति) किसी को नहीं मारता (न हन्यते) और न किसी से मारा जाता है ॥ १९ ॥

व्याख्या–ब्रह्म का उपदेश करने के बाद नचिकेता को जीवात्मा का जो उसके तीसरे वर का विषय है वर्णन करता

है। यम कहता है कि जीवात्मा अनुत्पन्न, अनादि और अमृत है, वह किसी का न उपादान है और न कोई दूसरा उसका उपादान है। शरीर से सर्वथा पृथक् है और शरीर के नष्ट होने से नष्ट भी नहीं होता। अज्ञानी लोग समझते हैं कि उसे (जीव को) कोई मार सकता है अथवा वह किसी को मार दिया करता है।

अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्।
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः ॥ २० ॥

अर्थ–(आत्मा) ब्रह्म) (अणोः) सूक्ष्म (जीवों) से भी (अणीयान्) अत्यन्त सूक्ष्म है (महतः) बड़े (आकाशादि) से भी (महीयान्) बड़ा है वह (अस्य) इस (जन्तोः) प्राणी के (गुहायाम्) हृदयाकाश में (निहितः) स्थित है (तम्) उस (आत्मनः) आत्मा की (महिमानम्) महिमा को (धातुः प्रसादात्) बुद्धि के निर्मल होने से (अक्रतुः) निष्काम (वीतशोकः) शोकरहित प्राणी (पश्यति) देखता है ॥ २० ॥

आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः।
कस्तं महामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति ॥ २१ ॥

अर्थ–(आसीनः) बैठा हुआ ही (दूरम्) (व्रजति) पहुँचता है (शयानः) सोता हुआ (सर्वतः) सब ओर (याति) जाता है (तम्) उस (महामदम्) आनन्दरूप (देवम्) देव को (मदन्यः) मुझसे भिन्न (कः) कौन (ज्ञातुम्) जानने को (अर्हति) समर्थ है ॥ २१ ॥

अशरीरꣳ शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥ २२ ॥

अर्थ–(शरीरेषु) साकार पदार्थों में (अशरीरम्) निराकार (अनवस्थेषु) चलायमान (पदार्थों) में (अवस्थितम्) अचल (महान्तम्) अनन्त (विभुम्) व्यापक (आत्मानम्) परमात्मा को (मत्वा) जानकर (धीरः) धीर पुरुष (न शोचति) शोक नहीं करता ॥ २२ ॥

व्याख्या–परमाणु जो सूक्ष्म से सूक्ष्म समझा जाता है और ब्रह्माण्ड जो असीम और अपार माना जाता है, ईश्वर उनसे क्रमपूर्वक सूक्ष्म और महान् है। उसकी प्राप्ति के तीन साधन हैं–(१) निष्कामता, (२) शोक से रहित होना, तथा (३) बुद्धि की निर्मलता ॥ २० ॥

ईश्वर के लिए जो "आसीनः" "व्रजति" और "शयानः" शब्द प्रयुक्त हुए हैं इनमें से आसीन और शयान उसकी अचलता और एकरसता प्रकट करने के लिए और "व्रजति" उसकी सर्वव्यापकता प्रकट करने के लिए है। भाव इनका यह है कि वह अचल और एकरस होते हुए भी, अपनी सर्वव्यापकता से, हर जगह पहुँचा हुआ है ॥ २१ ॥

शोक निवृत्ति के लिए उस निराकार, अचल, महान् और व्यापक ईश्वर का ज्ञान अनिवार्य है ॥ २२ ॥

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूꣳ स्वाम् ॥ २३ ॥

अर्थ–(अयम्) यह (आत्मा) ब्रह्म (प्रवचनेन) शिक्षा = बहुत पढ़ लेने से (न, लभ्यः) प्राप्त नहीं होता (न, मेधया) बुद्धि से भी नहीं प्राप्त होता (न, बहुना, श्रुतेन) और न बहुत सुनने (उपदेश) से प्राप्त होता है (एषः) यह ब्रह्म (यम्) जिसको (एव) ही (वृणुते) स्वीकार करता है (तेन) उस (स्वीकार करने या छांट लेने) से (लभ्यः) प्राप्त होता है (एषः, आत्मा) वह, ब्रह्म (तस्य) उसके लिए (स्वाम्) अपने (तनूम्) स्वरूप को (विवृणुते) प्रकाशित कर देता है ॥ २३ ॥

व्याख्या–परमेश्वर प्रवचन, मेधा अथवा बहुश्रुत होने से नहीं प्राप्त होता, अर्थात् उसका प्राप्त होना, प्राप्त करने की इच्छा करने वालों के अधिकार में नहीं है किन्तु स्वयम् उस (ईश्वर) ही के अधिकार में है कि वह किसी को प्राप्त हो जाये। उपनिषद् की इस विलक्षण शिक्षा पर एक शंका जो उत्पन्न होती है। वह यह है कि ईश्वर क्या अन्धाधुन्ध किसी

को प्राप्त हो जाता है अथवा प्राप्त होने की कोई मर्यादा का नियम है। ऋग्वेद में एक जगह कहा गया है कि "न ऋते श्रान्तस्य सख्याय।।" (ऋ० ४/३३/११) अर्थात् यत्न करके थके बिना कोई ईश्वर की मित्रता प्राप्ति के लिए समर्थ नहीं होता। इस शिक्षा का भाव यह है कि ईश्वर के निर्वाचन में आने का अधिकारी बनने के लिए आवश्यक है कि मनुष्य जितना अधिक से अधिक यत्न स्वयं कर सकता है, करके तब ईश्वर की दया की इच्छा रखे। एक आख्यायिका वेदान्त के ग्रन्थों में आई है जिसमें कहा गया है कि एक खड़ी हुई माता का छोटा पुत्र, अपने पाँवों से खड़ा होकर न चल सकने वाला, बालक उससे दूर खेल रहा था। बालक को भूख लगी तब वह माता की ओर घुटने के बल चला और माता के चरणों तक पहुँच गया। माता खड़ी हुई थी इसलिए यह उस छोटे से बालक की शक्ति से बाहर था कि वह अपना मुँह माता के स्तनों तक पहुँचाकर दूध पीकर अपनी भूख शान्त करे। अब वह सहायता के लिए आशा भरी दृष्टि से माता की ओर देखता है। माता के हृदय में दया के भाव जागृत होते हैं और वह बच्चे को गोद में उठाकर, दूध पिलाकर उसकी भूख शान्त कर देती है। इसी प्रकार जब मुमुक्षु अपहतपाप्मादि साधनों की पूर्ति करके हृदय-ग्रन्थि को काट देता है तब वह ईश्वर की दया का पात्र बनकर उसके प्राप्त होने का सौभाग्य प्राप्त कर लिया करता है। एक उर्दू के कवि ने इस भाव को इस प्रकार प्रकट किया है—

"मिलने न मिलने का तो वह मुख्तार आप है।
पर तुझको चाहिए कि तप्रो दौ[@] लगी रहे"।। २३ ।।

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्।। २४ ।।

@ तप्र + दौ = दौड़ धूप, पुरुषार्थ

अर्थ–(दुश्चरितात्) दुश्चरित्र से (अविरतः) अस्थिर मन वाले, (एनम्) इस ब्रह्म को (न) प्राप्त नहीं होते (अशान्तः) चंचल चित्त भी (न) नहीं पाता (असमाहितः) संशयात्मा भी (न) नहीं प्राप्त करता (अशान्तमानसः) तृष्णा में फंसे हुए मन वाला (अपि) भी (न) नहीं प्राप्त होता (प्रज्ञानेन) प्रेरिता बुद्धि से (आप्नुयात्) प्राप्त होवे ।। २४ ।।

व्याख्या–दुश्चरित्रता, मन की चंचलता, संशय, अशान्ति तथा तृष्णा में फंसावट, ये सब या इनमें से कोई भी जिस व्यक्ति में होती है, स्पष्ट है कि उसका मन मलीन होता है। मन की मलीनता मनुष्य के भीतर सात्त्विक भावों की जागृति नहीं होने देती, वह सदैव तमोगुण के अन्धकार और रजोगुण के दलदल में फंसा रहता है। यह अवस्था ब्रह्म के समीप होने की नहीं है अपितु ब्रह्म से दूर करने का कारण है। इन विघ्न-बाधाओं को दूर करने को मनुष्य के लिए आवश्यक है कि उसकी बुद्धि, प्रेरिता बुद्धि बने, जो विघ्नों से दूर रहा करती है। जब उसकी बुद्धि सुधरने लगती है तो क्रमशः वह उस अवस्था को भी प्राप्त कर लेता है जिसमें उसका मन और बुद्धि सभी स्थिर हो जाती हैं। यही ईश्वर प्राप्ति के मार्ग की ओर मुँह फिर जाना कहा जाता है ।। २४ ।।

यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनम्।
मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः ।। २५ ।।

अर्थ–(यस्य) जिसके (ब्रह्म) ब्राह्मण (ज्ञानवाला) (च) और (क्षत्रम्, च) क्षत्रिय (बलवान् भी) (उभे) दोनों (ओदनम्) भक्ष्य (भवतः) होते हैं (यस्य) जिसका (उपसेचनम्) उपसेचन (जल) (मृत्युः) मौत है (सः) वह ब्रह्म (यत्र) जहाँ है और (इत्था) ऐसा है (कः) कौन (वेद) जान सकता है ।। २५ ।।

व्याख्या–वह महान् ईश्वर जो ब्रह्माण्ड को प्रलयावस्था में पहुँचाकर सबको अपने भीतर जज्ब कर लेता है और मृत्यु को भी तेज रहित कर देता है, किसकी सामर्थ्य है कि उसे इन आँखों से देखकर बतला सके कि वह ऐसा है और यहाँ है।

वह तो आत्मा का विषय है इसलिए वेद ने उसको आत्मा के भीतर घुसकर ही प्राप्त करने का आदेश दिया है।

आत्मनाऽऽत्मानमभिसंविवेश ॥ (यजुर्वेद ३२/२१)

अर्थात् आत्मा के द्वारा ब्रह्म में प्रवेश करे।

वेनस्तत्पश्यन् निहितं गुहासत् ॥ (यजुर्वेद ३२/८)

अर्थात् विद्वान् उसको गुहा (हृदयाकाश) में देखता है। एक उर्दू के कवि ने लौकिक प्रेम में इसी भाव को बड़ी उत्तम रीति से प्रकट किया है–

वह दिन खुदा करे कि खुदा भी वहाँ न हो।
मैं हूँ, सनम❖ हो, और कोई दरमियां न हो ॥ २५ ॥

॥ **द्वितीया वल्ली समाप्त** ॥

❖ सनम – प्रेष्ठ, प्रियतम्।

तृतीया वल्ली

ऋतं पिबन्तौ स्वकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्द्धे।
छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये त्रिणाचिकेताः ॥ १ ॥

अर्थ–(परमे) सर्वोत्तम (परार्द्धे) अन्तःशरीरस्थ (गुहां) हृदयाकाश में (प्रविष्टौ) स्थित (लोके) लोक में (स्वकृतस्य) अपने किये कर्मों के (ऋतम्) फल को (पिबन्तौ) भोगते हुए (छायातपौ) छाया और प्रकाश के तुल्य (ब्रह्मविदः)ब्रह्म के जानने वाले (वदन्ति) कहते हैं (च) और (ये) जो (त्रिणाचिकेताः) तीन बार नाचिकेत अग्नि का सेवन किये हुए (पञ्चाग्नयः) पञ्चयज्ञों के करने वाले (कर्मकाण्डी) हैं वे भी ऐसा ही कहते हैं ॥ १ ॥

व्याख्या–उपनिषद् के इस वाक्य में जीव और ईश्वर दोनों के लिए द्विवचनान्त क्रिया आदि का प्रयोग हुआ है जिसका तात्पर्य यह है कि वे दोनों स्वतन्त्र सत्ता रखने वाले और पृथक्-पृथक् हैं। उनको हृदयाकाश में प्रकाश और छाया की तरह स्थित बतलाते हुए दोनों का सम्बन्ध कर्म से जोड़ा गया है। अर्थात् एक (जीव) कर्म करके फल का भुगतने वाला और दूसरा (ईश्वर) साक्षी रहकर फल का देने वाला है। जैसा कि ऋग्वेद में कहा गया है–

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ॥

अर्थात्–अपने जैसे नित्य (प्रकृति रूप) वृक्ष पर स्थित दो पक्षी रूप (जीव और ईश्वर) हैं जिनमें से एक (जीव) वृक्ष के स्वादिष्ट फलों को चखता है और दूसरा (ईश्वर) भोग न करता हुआ साक्षी मात्र है।

उपनिषद्वाक्य में 'पिबन्तौ' क्रिया का प्रयोग कर्म से दोनों (ईश्वर और जीव) का सम्बन्ध प्रकट कर देने और द्विवचन रूप में दोनों को पृथक्-पृथक् कर देने मात्र से है ॥ १ ॥

यः सेतुरीजानानामक्षरं ब्रह्म यत्परम्।
अभयं तितीर्षतां पारं नाचिकेत ँ शकेमहि ॥ २ ॥

अर्थ–(यः) जो (ईजानानाम्) यज्ञशीलों का (सेतुः) पुल (के समान है) (नाचिकेतम्) नाचिकेत अग्नि को (शकेमहि) हम जान सकते हैं और (यम्) जो (तितीर्षताम्) तरने की इच्छा करने वालों का (अभयम्) भयरहित (पारम्) (भवसिन्धु का) पार है, उस (परम्) सर्वोत्कृष्ट (अक्षरम्) अविनाशी (ब्रह्म) ब्रह्म को भी (शकेमहि) जान सकते हैं ॥ २ ॥

व्याख्या–ईश्वर जो कर्म और ज्ञान सेवन करने वाले दोनों को पार लगाने वाला है, उसको योगी आत्मस्थ होकर जान लिया करते हैं–तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीराः ॥ कठ० ५/१२ ॥

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिन्तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥ ३ ॥

अर्थ–(आत्मानम्) आत्मा को (रथिनम्) रथी-सवार (विद्धि) जान (तु) और (शरीरम्, एव) शरीर को ही (रथम्) रथ (जान) (तु) और (बुद्धिम्) बुद्धि को (सारथिम्) सारथि (विद्धि) जान (च) और (मनः, एव) मन को ही (प्रग्रहम्) लगाम (जान) ॥ ३ ॥

इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयाꣳस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥ ४ ॥

अर्थ–(इन्द्रियाणि) इन्द्रियों को (हयान्) घोड़े (आहुः) कहते हैं (तेषु) उन (इन्द्रियों) में (विषयान्) शब्द स्पर्शादि को (गोचरान्) मार्ग (कहते हैं) (मनीषिणः) विचारशील पुरुष (आत्मा, इन्द्रिय, मनोयुक्तम्) इन्द्रिय और मन से युक्त आत्मा को (भोक्ता) भोगने वाला (इति, आहुः) ऐसा कहते हैं ॥ ४ ॥

यस्त्वविज्ञानवान् भवत्ययुक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः ॥ ५ ॥

अर्थ–(यः तु) जो (अविज्ञानवान्) अज्ञानी (अयुक्तेन, मनसा) अनवस्थित मन से (सदा) हमेशा (युक्त) (भवति) होता है (तस्य) उसकी (इन्द्रियाणि) इन्द्रियां (सारथेः) रथवान् के (दुष्टाः, अश्वाः, इव) दुष्ट घोड़ों के समान (अवश्यानि) वश में नहीं होतीं ॥ ५ ॥

यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः ॥ ६ ॥

अर्थ–(तु) और (यः) जो (विज्ञानवान्) ज्ञानी (युक्तेन, मनसा) वश में रहने वाले मन से (सदा) सर्वदा युक्त (भवति) होता है (तस्य) उसकी (इन्द्रियाणि) इन्द्रियाँ (सारथेः) रथवान् के (सद् अश्वाः, इव) सुधरे हुए घोड़ों की तरह (वश्यानि) वश में होती हैं ॥ ६ ॥

यस्त्वविज्ञानवान् भवत्यमनस्कः सदाऽशुचिः।
न स तत्पदमाप्नोति संसारं चाधिगच्छति ॥ ७ ॥

अर्थ–(यः तु) जो (अविज्ञानवान्) विवेक रहित (अमनस्कः) मन के पीछे चलने वाला (सदा) हमेशा (अशुचिः) अपवित्र (भवति) होता है (सः) वह (तत्) उस (पदम्) पद को (न, आप्नोति) नहीं प्राप्त होता (च) बल्कि (संसारम्) जन्म मरण के प्रवाह रूपी संसार को (अधि गच्छति) प्राप्त होता है ॥ ७ ॥

यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद्भूयो न जायते ॥ ८ ॥

अर्थ–(तु) और (यः) जो (विज्ञानवान्) विवेक सम्पन्न, (समनस्कः) मन को वश में करने वाला, (सदा) निरन्तर (शुचिः) शुद्ध (भवति) होता है (सः) वह (तु) तो (तत्, पदम्) उस पद को (आप्नोति) प्राप्त होता है (यस्मात्) जिससे (भूयः) फिर (न, जायते) उत्पन्न नहीं होता। ॥ ८ ॥

विज्ञानसारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवान्नरः।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥ ९ ॥

अर्थ–(यः तु) जो तो (नरः) मनुष्य (विज्ञानसारथिः) विवेक रूपी सारथि वाला और (मनः प्रग्रहवान्) मन की लगाम को अधि कार में रखने वाला (सः) वह (अध्वनः) मार्ग के (पारम्) पार (विष्णोः) व्यापक ब्रह्म के (परमम्) सर्वश्रेष्ठ (तत्) उस (पदम्) पद को (आप्नोति) प्राप्त होता है ॥ ९ ॥

व्याख्या–इन श्लोकों में एक उत्तम अलंकार से बतलाया है कि ब्रह्मविद्या के विद्यार्थी को किस प्रकार अपने मन, बुद्धि और इन्द्रियों को अपने अधिकार में रखना चाहिए जिससे वह अपने उद्देश्य को प्राप्त कर सके।

कोई रथ जिसमें घोड़े जुते हों किस प्रकार अच्छा काम दे सकता है ? जब सवार का आज्ञानुवर्ती रथवान् हो और रथवान् के कब्जे में लगाम और घोड़े लगाम के इशारे से चलने वाले हों और घोड़े जिस सड़क पर चलते हैं वह अच्छी और निर्दिष्ट स्थान को ले जाने वाली हो।

ठीक ऐसा ही एक रथ मनुष्य का शरीर भी है। इस रथ को भी ऐसा ही होना चाहिए कि आत्मा के अधीन बुद्धि, बुद्धि के अधीन मन और मन के अधिकार में इन्द्रियाँ हों। तभी यह रथ अभ्युदय और निःश्रेयस रूप धर्म मार्ग पर चलकर सवार को निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचा देने का कारण बन सकता है। यह शरीररूपी रथ उपर्युक्त भाँति काम दे सके इसके लिए आवश्यक है कि आत्मारूपी सवार (मनुष्य) सावधान हो। यदि वह ज्ञानी है तो स्वयं न तो मन के पीछे चलेगा और न इन्द्रियों को दुष्ट घोड़ों की तरह बेकाबू होने देगा।

(२) चौथे उपनिषद् वाक्य में कर्मों का कर्त्ता और भोक्ता कौन है इसका बड़ा उत्तम निर्णय किया है। उपनिषद् ने स्थिर किया है कि आत्मा, मन और इन्द्रियाँ ये तीनों ही मिलकर कर्त्ता और भोक्ता हैं।

सांख्यदर्शन में कहा गया है कि–

अहङ्कारः कर्त्ता न पुरुषः।

अर्थात् कर्तृत्व आत्मा में नहीं है किन्तु अहंकार[⊗] में है। फिर गीता में कहा है–

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते॥ गीता ३/२७

अर्थात् कर्म को प्रकृति के गुण (सत्त्व, रज और तम) करते हैं परन्तु अहंकार से मूढ़ हुआ जीव अपने को कर्त्ता मानता है। सांख्य और गीता के इन दोनों वाक्यों से स्पष्ट है कि दोनों ने कर्तृत्व प्रकृति में माना है परन्तु विचारणीय बात यह है कि किस प्रकृति में इन्होंने कर्तृत्व का आरोप किया है? उत्तर साफ है कि प्रकृति के उसी भाग में चाहे वह अहंकार के रूप में हो, चाहे प्रकृति के गुणों, सत्व, रज और तम के रूप में हों, जो मनुष्य के शरीर के रूप में है, और जिसका सम्बन्ध किसी जीवात्मा से है, कर्तृत्व माना गया है। यदि कर्तृत्व प्रकृति मात्र में होता तो मकानों के खम्भे आदि भी प्राणियों की तरह से चलते-फिरते और हमसे बातचीत करते परन्तु ऐसा नहीं देखा जाता। इसलिए कर्तृत्व आत्मा से सम्बन्धित शरीर ही में मानने के लिए विवश होना पड़ता है। उपनिषद् के उपर्युक्त वाक्य में शरीर के स्थान में मन और इन्द्रिय कहा गया है। चाहे आत्मा से सम्बन्धित शरीर (मन + इन्द्रिय) कह लिया जावे या आत्मा और मन, इन्द्रिय कह लिया जावे, बात दोनों अवस्थाओं में एक ही है, कर्तृत्व वहीं हो सकता है जहाँ तीनों आत्मा, मन और इन्द्रिय इकट्ठे हों। इस प्रकार उपनिषद् गीता तथा सांख्य के वाक्यों में संगतिकरण हो जाता है और उनमें किसी प्रकार का विरोध नहीं रहता।

⊗ सूक्ष्म भूत जिसकी उत्पत्ति महत्तत्व के बाद होती है और जिस की उत्पत्ति के बाद ही से व्यक्तित्व (Individuality) की सत्ता स्थिर होती है। मैं और मेरेपन के भाव भी इसी अहंकार की उपज हैं।

(३) शरीर को रथ कहे जाने का अलंकार अथर्ववेद में भी आया है। वहाँ कहा गया है–

आरोह इमम् अमृतं सुखं रथम्॥ (अथर्व० ८/९/१६)

अर्थात् इस शरीर रूपी रथ पर जो अमृत और सुख है, चढ़ो। शरीर (मनुष्य योनि) प्रवाह से नित्य है इसलिए उसे अमृत कहना ठीक ही है। दूसरा विशेषण जो "सुख" है, बड़े महत्त्व का है। सुख शब्द के अर्थ सु = अच्छी + खम् = इन्द्रियाँ, अर्थात् शरीर रूपी रथ कैसा होना चाहिए इसको वेद ने कह दिया है कि अच्छी इन्द्रियों वाला, तभी उससे मुमुक्षु अमरता = मोक्ष और सुख (आनन्द) प्राप्त कर सकता है। सुख और दुःख का कारण स्वयं इन्हीं शब्दों "सुख" के अन्दर मौजूद है अर्थात् यदि अच्छी इन्द्रियाँ हैं तो मनुष्य सुखी है यदि बुरी इन्द्रियाँ हैं तो दुःखी ॥ ३–९ ॥

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसश्च परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः ॥ १० ॥

अर्थ–(इन्द्रियेभ्यः) इन्द्रियों से (हि) निश्चय (अर्थाः) शब्दादि विषय (पराः) सूक्ष्म हैं (च) और (अर्थेभ्यः) विषयों से (मनः) मन (परम) सूक्ष्म है (च) और (मनसः) मन से (बुद्धिः) बुद्धि (परा) सूक्ष्म है (बुद्धेः) बुद्धि से (महानात्मा) महत्तत्व बुद्धि का कारण (परः) सूक्ष्म है ॥ १० ॥

महतः परमव्यक्तम् अव्यक्तात्पुरुषः परः।
पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः ॥ ११ ॥

(महतः) महत्तत्व से (अव्यक्तम्) कारण रूप अप्रकट प्रकृति (सूक्ष्म है) (अव्यक्तात्) अप्रकट प्रकृति से (पुरुषः) सर्वत्र परिपूर्ण ब्रह्म (परः) सूक्ष्म है (पुरुषात्) पुरुष से (परम्) सूक्ष्म (किञ्चित्, न) कुछ नहीं (सा) वही (काष्ठा) स्थिति की शोभा है (सा) वहीं (परा, गतिः) अन्तिम अवधि है ॥ ११ ॥

व्याख्या–उपनिषद् के इन वाक्यों में, मनुष्य के ध्येय ब्रह्मविद्या की उपलब्धि के लिए, ब्रह्म का पता देते हुए उसकी ओर चलने का निर्देश किया गया है– आत्मा के बाहर स्थूल

प्रकृति और अन्दर सूक्ष्म ब्रह्म है। इसलिए स्थूल को क्रमशः छोड़ते हुए सूक्ष्मता की ओर चलने ही से उसकी प्राप्ति हो सकती है। इन्द्रिय, उसके विषय, मन, बुद्धि, महत्तत्व और अव्यक्त–अप्रकट प्रकृति एक–दूसरे से क्रमशः सूक्ष्म हैं। स्थूल जगत् में सबसे अधिक सूक्ष्म प्रकृति है। प्रकृति तक मनुष्य के शरीर में जिसका नाम कारण शरीर है पहुँचकर ब्रह्मविद्या का पथिक, अपनी आधी मंजिल (बहिर्मुखी वृत्ति की समाप्ति द्वारा) समाप्त कर लेता है। अब उसको उस कारण शरीर रूपी प्रकृति से भी अधिक सूक्ष्म पुरुष (ब्रह्म) की ओर जीव की अन्तर्मुखी वृत्ति की जागृति के द्वारा, चलना पड़ता है। यही मनुष्य के पुरुषार्थों की चरम सीमा है, इससे आगे अथवा इससे सूक्ष्म और कुछ नहीं है ।। १०–११ ।।

एष सर्वेषु भूतेषु गूढात्मा न प्रकाशते।
दृश्यते त्वग्रयया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ।। १२ ।।

अर्थ–(सर्वेषु) सब (भूतेषु) पदार्थों में (एषः) यह (गूढात्मा) सूक्ष्म आत्मा (न, प्रकाशते) नहीं प्रकाशित होता (तु) किन्तु (अग्रयया) तीव्र (सूक्ष्मया) सूक्ष्म (बुद्ध्या) बुद्धि से (सूक्ष्मदर्शिभिः) सूक्ष्मदर्शियों से (दृश्यते) देखा जाता है ।। १२ ।।

यच्छेद्वाङ् मनसि प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि।। १३ ।।

(प्राज्ञः) ज्ञानी पुरुष (मनसि) मन में (वाक्) वाणी को (यच्छेत्) जोड़े (तत्) उस मन को (ज्ञाने, आत्मनि) ज्ञान के साधन बुद्धि में (यच्छेत्) ठहराये (ज्ञानम्) बुद्धि को (महति आत्मनि) महत्तत्व में (नियच्छेत्) युक्त करे (तत्) उस महत्तत्व को (शान्ते, आत्मनि) प्रशान्त आत्मा में (यच्छेत्) ठहरा देवे ।। १३ ।।

व्याख्या–इस सूक्ष्म पुरुष को, जिसका उपनिषद्वाक्य संख्या १०, ११ में वर्णन हुआ है, कोई भी व्यक्ति जगत् के स्थूल पदार्थों में इन्द्रियों द्वारा नहीं देख सकता। इसको कोई

सूक्ष्मदर्शी जिज्ञासु अपनी बुद्धि को अत्यन्त सूक्ष्म निर्मल बना कर (अन्तर्मुखी वृत्ति की जागृति द्वारा) ही साक्षात् कर सकता है, उसकी ओर चलने अर्थात् अन्तर्मुखी वृत्ति के जागृत करने का मार्ग बाहर से भीतर की ओर चलना है जिसका क्रम यह है कि वाणी (आदि समस्त इन्द्रियों) को जिज्ञासु मन में लगा देवे जिससे इस प्रकार भीतर चलने से वे बाहर अपने विषयों की ओर न जा सकें, मन को अपने से सूक्ष्म बुद्धि में लगाये, बुद्धि को अपने कारण महत्तत्व में लगा देवे और इस बुद्धि के कारण महत्तत्व को आत्मा में लगा देवे। आत्मा में उसके लगाने का अभिप्राय यह है कि अब अन्तर्मुखी वृत्ति जागृत हुई और आत्मा बाहर का काम बन्द करके आत्मसाक्षात्कार में लग गया ।। १२-१३ ।।

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति ।। १४ ।।

अर्थ–(उत्तिष्ठत) उठो (जाग्रत) जागो (वरान्) इष्ट इच्छाओं को (प्राप्य) प्राप्त होकर (निबोधत) जानो (निशिता) तेज (दुरत्यया) अति कठिन (क्षुरस्य, धारा) छुरे की धार के समान (कवयः) सूक्ष्मदर्शी लोग (तत्) उस (पथः) मार्ग को (दुर्गम्) कठिनता से प्राप्त होने योग्य (वदन्ति) कहते हैं ।। १४ ।।

व्याख्या–यह आत्म-साक्षात्कार का मार्ग अत्यन्त कठिन है इसीलिए आत्मदर्शी लोग इस मार्ग को छुरे की धार पर चलने के सदृश बतलाते हैं। इसी उद्देश्य से इस उपनिषद्वाक्य में जिज्ञासु को सावधान होकर कार्य करने की चेतावनी दी गई है ।। १४ ।।

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते ।। १५ ।।

अर्थ–(यत्) जो (ब्रह्म) (अशब्दम्) शब्द नहीं, जो कान से जाना जावे, (अस्पर्शम्) स्पर्श नहीं, जो त्वचा से ग्रहण

किया जाये, (अरूपम्) रूप नहीं, जो आँख से देखा जा सके, (तथा) इसी प्रकार (अरसम्) रस नहीं, जो जिह्वा से चखा जा सके (च) और (अगन्धवद्) गन्ध वाला नहीं, जो नाक से सूंघा जा सके। (अव्ययम्) अविनाशी (नित्यम्) सदा एकरस (अनादि) अनुत्पन्न (अनन्तम्) सीमा रहित (महतः परम्) महत्तत्व से भी सूक्ष्म (ध्रुवम्) अचल है (तम्) उसको (निचाय्य) निश्चयात्मक रीति से जानकर (मृत्यु) मौत के (मुखात्) मुख से (प्रमुच्यते) छूट जाता है ॥ १५ ॥

व्याख्या—ईश्वर की उपासना दो प्रकार की है— **(१) सगुणोपासना, (२) निर्गुणोपासना।** इनमें से **सगुणोपासना** वह है जिसमें प्रभु के सत्तात्मक दिव्य गुणों को धारण करके मुमुक्षु (मोक्ष का इच्छुक) ईश्वर के समीप होकर⊗ आनन्द प्राप्त करता है और **निर्गुणोपासना** वह है जिसके द्वारा मनुष्य ईश्वर के निषेधात्मक गुणों को, अपने भीतर से निकालकर मौत के बन्धन से छूटा करता है। यह उपनिषद्वाक्य निर्गुणोपासनापरक है। इसीलिए इसमें ईश्वर के शब्द रहित, स्पर्शरहित, रूप रहित अविनाशी, रसना रहित, गन्धरहित, अनादि अनन्तादि निषेधात्मक गुणों का वर्णन करते हुए शिक्षा दी गई है कि इनका निश्चयात्मक ज्ञान प्राप्त करके मुमुक्षु अपने को मृत्यु के मुख से बचा लेवे। यदि ईश्वर को केवल निर्गुण माना जावे तो उपासक के पास से कुछ जा तो सकता है परन्तु उसके पल्ले कुछ नहीं पड़ सकता। एक कवि ने क्या अच्छा कहा है—

गर हुस्न न हो इश्क भी पैदा नहीं होता।
बुलबुल गुले तसवीर पै शैदा नहीं होता ॥ १५ ॥

नाचिकेतमुपाख्यानं मृत्युप्रोक्तं सनातनम्।
उक्त्वा श्रुत्वा च मेधावी ब्रह्मलोके महीयते ॥ १६ ॥

⊗ सगुणोपासना का अभिप्राय जानने के लिए देखो इसी उपनिषद् की पाँचवीं वल्ली का वाक्य ११ व्याख्या सहित।

अर्थ–(नाचिकेतम्) नचिकेता से ग्रहण किये गये (मृत्युप्रोक्तम्) मृत्यु से उपदेश किये गये (सनातनम्) पुराने (उपाख्यानम्) आख्यान को (उक्त्वा)कहकर (च) और (श्रुत्वा) सुनकर (मेधावी) विवेकी पुरुष (ब्रह्मलोके) ब्रह्म के पद में (महीयते) बड़ाई पाता है ।। १६ ।।

य इमं परमं गुह्यं श्रावयेद् ब्रह्मसंसदि।
प्रयतः श्राद्धकाले वा तदानन्त्याय कल्पते तदानन्त्याय कल्पते ॥ १७ ॥

अर्थ–(यः) जो कोई (प्रयतः) सावधान होकर (इमम्) इस (परमम्) अत्यन्त (गुह्यम्) गुप्त शिक्षा को (ब्रह्मसंसदि) विद्वानों की सभा में (वा) या (श्राद्धकाले) श्रद्धा से किये जाने वाले कार्यों के समय में (श्रावयेत्) सुनाये (तत्) वह (आनन्त्याय) असीम फल की प्राप्ति के लिए (कल्पते) समर्थ होता है ।। १७ ।।

व्याख्या–ये वाक्य, ग्रन्थ की समाप्ति पर फलश्रुति के सदृश प्रयुक्त हुए वाक्यों की तरह के प्रतीत होते हैं। 'प्रयतः' को 'प्रेत्य' अथवा 'प्रेत' जिस धातु से बने हैं उसी धातु से बना बतलाकर कुछ विद्वान् उसके अर्थ 'मरते समय' करते हैं। उनका कहना है कि यह समय छल और दम्भ से रहित होने का समय होता है। इसमें मनुष्य के मुख से वही बातें निकलती हैं जो उसने इससे पूर्व के जीवन में की होती हैं। इसलिए यह मरने का समय श्रद्धा = सच्चाई के धारण करने से श्रद्धाकाल भी कहा जाता है। भाव यह है कि जब मरने वाले की यह अवस्था आ जाये तब उसे यम का उपदेश किया हुआ नचिकेता का उपाख्यान सुनाना चाहिये जिससे मृत्यु की वास्तविकता का ज्ञान प्राप्त करके वह उसके भय से स्वतन्त्र हो जावे। कुछ इसी प्रकार की ध्वनि पारस्कर गृह्यसूत्र के इस वचन से निकलती है–"यमगाथां मान्यतो यमसूक्तञ्च जपन्त इत्येके ।।" (का० कण्डिका १०, सूत्र ९) अर्थात् कुछ विद्वान् अन्त समय यम की गाथा गायन करते और यमसूक्त को जपते हैं। यह कथन भी स्वीकार किया जा सकता है ।। १६, १७ ।।

॥ तृतीया वल्ली समाप्त ॥

चतुर्थी वल्ली

पराञ्चिखानि व्यतृणत्स्वयम्भूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥ १ ॥

अर्थ–(स्वयम्भूः) अपनी ही सत्ता से स्थित रहने वाले (परमात्मा) ने (खानि) इन्द्रियों को (पराञ्चि) बाह्य विषयों पर गिरने वाला (व्यतृणत्) किया है (तस्मात्) इसलिए मनुष्य (पराङ्) बाह्य विषयों को (पश्यति) देखता है (न, अन्तरात्मन्) अन्तरात्मा को नहीं (कश्चित्) कोई (आवृत्तचक्षुः) ध्यानशील (धीरः) विवेकी पुरुष (अमृतत्वम्) मोक्ष की (इच्छन्) इच्छा करता हुआ (प्रत्यगात्मानम्) हृदयाकाशस्थ आत्मा को (ऐक्षत्) देखता (साक्षात् करता) है ॥ १ ॥

व्याख्या–इन्द्रियों का स्वभाव ही बाहर की ओर चलने का है। फिर इनके पीछे चलकर स्पष्ट है कि कोई भी आत्मद्रष्टा नहीं बन सकता। आत्मदर्शन भीतर घुसे बिना नहीं प्राप्त हो सकता ॥ १ ॥

पराचः कामाननुयन्ति बालास्ते मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम्।
अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते ॥ २ ॥

अर्थ–जो (बालाः) अज्ञानी पुरुष (पराचः) बाह्य (कामान्) विषयों के (अनुयन्ति) पीछे दौड़ते हैं (ते) वे (विततस्य) फैले हुए (मृत्योः) मृत्यु के (पाशम्) बन्धन को (यन्ति) प्राप्त होते हैं (अथ) और (धीराः) ज्ञानी पुरुष (ध्रुवम्) निश्चल (अमृतत्वम्) मोक्ष को (विदित्वा) जान कर (इह) संसार में (अध्रुवेषु) अनित्य पदार्थों में (न, प्रार्थयन्ते) (सुख को) नहीं चाहते ॥ २ ॥

येन रूपं रसं गन्धं शब्दान् स्पर्शांश्च मैथुनान्।
एतेनैव विजानाति किमत्र परिशिष्यते एतद्वैतत् ॥ ३ ॥

(येन) जिस (एतेन, एव) इस ही (आत्मा की सत्ता) से मनुष्य (रूपम्) रूप, (रसम्) रस, (गन्धम्), गन्धः, (शब्दान्) शब्द, (स्पर्शान्) स्पर्श (च) और (मैथुनान्) विषय-भोगों को भी (विजानाति) जानता है, फिर (अत्र) यहाँ (किम्) क्या (परिशिष्यते) बाकी रह जाता है (एतद्, वै, तद्) यही आत्मा है ।। ३ ।।

व्याख्या—अज्ञानी पुरुष बाह्य विषयों की ओर चलकर मृत्यु के फैले हुए जाल में फंसते हैं, परन्तु जो ज्ञानी हैं वे इन विषय-वासनाओं से अमरता की आशा नहीं करते ।। २ ।। जिससे संसार में मनुष्य इन्द्रियों के विषय शब्दादि का ज्ञान प्राप्त किया करता है वह आत्मा है ।। ३ ।।

स्वप्नान्तं जागरितान्तं चोभौ येनानुपश्यति।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ।। ४ ।।

अर्थ—(येन) जिससे (स्वप्नान्तम्) स्वप्नावस्था के अन्त (च) और (जागरितान्तम्) जागृत के अन्त (उभौ) इन दोनों को (अनुपश्यति) देखता है उस (महान्तम्) सबसे बड़े (विभुम्) व्यापक (आत्मानम्) आत्मा को (मत्वा) जानकर (धीरः) विवेकशील (न, शोचति) शोक से शोकित नहीं होता ।। ४ ।।

य इमं मध्वदं वेद आत्मानं जीवमन्तिकात्।
ईशानं भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते ।। एतद्वै तत् ।। ५ ।।

अर्थ—(यः) जो कोई (इमम्) इस (मध्वदम्), कर्मफलभोक्ता (जीवम्) जीव के (अन्तिकात्) समीपवर्ती (भूतभव्यस्य) हुए और होने वाले जगत् के (ईशानम्) स्वामी (आत्मानम्) परमात्मा को (वेद) जानता है (ततः) उससे (न, विजुगुप्सते) भय को प्राप्त नहीं होता (एतद्, वै तत्) यही वह (ब्रह्म) है ।। ५ ।।

यः पूर्वं तपसो जातमद्भ्यः पूर्वमजायत।
गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तं यो भूतेभिर्व्यपश्यत् ।। एतद्वै तत् ।। ६ ।।

अर्थ–जीवात्मा (यः) जो (अद्भ्यः) पञ्चभूतों से (पूर्वम्) पहले (अजायत) प्रकट हुआ (तपसः) प्रकाश = ज्ञान से भी (पूर्वम्) पहले (जातम्) उत्पन्न (गुहाम्) हृदयाकाश में (प्रविश्य) प्रवेश कर (भूतेभिः) पञ्चभूतों के साथ (तिष्ठन्तम्) स्थित परमात्मा को (व्यपश्यत्) देखता है (एतद्, वै, तत्) यही वह जीव है ॥ ६ ॥

या प्राणेन सम्भवत्यदितिर्देवतामयी।
गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तीं या भूतेभिर्व्यजायत ॥ एतद्वै तत् ॥ ७ ॥

अर्थ–(या) जो (देवतामयी) प्रकाशयुक्ता (अदितिः) अखण्डिता = बुद्धि (प्राणेन) प्राण के साथ (सम्भवति) उत्पन्न होती है और (या) जो (तिष्ठन्तीम्) ठहरे हुए (गुहाम्) अन्तःकरण में (प्रविश्य) प्रवेश कर (भूतेभिः) ५ भूतों = शरीरादि के साथ (व्यजायत) प्रकट होती है (एतत्, वै, तत्) यही वह (ब्रह्मज्ञान का साधन बुद्धि) है ॥ ७ ॥

अरण्योर्निहितो जातवेदा गर्भ इव सुभृतो गर्भिणीभिः।
दिवे दिवे ईड्यो जागृवद्भिर्हविष्मद्भिर्मनुष्येभिरग्निः ॥ एतद्वै तत् ॥ ८ ॥

अर्थ–(जागृवद्भिः) ज्ञानियों (हविष्मद्भिः) कर्मकाण्डी (मनुष्येभिः) मनुष्यों से भी (अग्नि) परमात्मा (गर्भिणीभिः) गर्भिणी स्त्रियों से (सुभृतः) अच्छे प्रकार रक्षित (गर्भः, इव) गर्भ के समान अथवा (अरण्योः) दोनों अरणियों में (निहितः) व्याप्त (जातवेदाः) अग्निः के (इव) समान (दिवे दिवे) प्रतिदिन (ईड्यः) स्तुति करने के योग्य है (एतद्, वै, तत्) यही वह (ब्रह्म) है ॥ ८ ॥

यतश्चोदेति सूर्योऽस्तं यत्र च गच्छति।
तं देवाः सर्वे अर्पितास्तदु नात्येति कश्चन ॥ एतद्वै तत् ॥ ९ ॥

अर्थ–(यतः) जहाँ से (सूर्यः) सूर्य (उदेति) उदय होता है (च) और (यत्र, च) जहाँ (अस्तम्) अस्त (गच्छति) होता है (तम्) उस (परमात्मा) को (सर्वे, देवाः) सारे

(सूर्यचन्द्रादि) देव (अर्पिताः) प्राप्त हैं (तत्, उ) उस ब्रह्म का (कश्चन) कोई भी (न, अत्येति) उल्लंघन नहीं कर सकता (एतद्, वै, तत्) यही वह (ब्रह्म) है ॥ ९ ॥

यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥ १० ॥

अर्थ–(यत्) जो ब्रह्म (इह) यहाँ है (तत्, एव) वह ही (अमुत्र) वहाँ = परलोक में है (यत्) जो (अमुत्र) वहाँ परलोक में) है (तत्) वही (अनु, इह) यहाँ है (यः) जो (इह) इस ब्रह्म में (नाना इव) भिन्नता की सी (पश्यति) दृष्टि करता है (सः) वह (मृत्योः) मृत्यु से (मृत्युम्) मृत्यु को (आप्नोति) प्राप्त होता है ॥ १० ॥

मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किञ्चन।
मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति ॥ ११ ॥

अर्थ–(इदम्) यह ब्रह्म (मनसा, एव) मन (आन्तरिक साधनों) से ही (आप्तव्यम्) प्राप्त होने योग्य है, (इह) (ब्रह्म) में (नाना) भेदभाव (किञ्चन) कुछ भी (न अस्ति) नहीं है (यः) जो कोई (इह) इस ब्रह्म में (नाना, इव) भिन्नता की सी (पश्यति) दृष्टि करता है (सः) वह (मृत्योः) मृत्यु से (मृत्युम्) मृत्यु को (गच्छति) प्राप्त होता है ॥ ११ ॥

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति।
ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते ॥ एतद्वै तत् ॥ १२ ॥

अर्थ–(भूत, भव्यस्य) हुए और होने वाले (जगत्) का (ईशानः) अध्यक्ष (पुरुषः) पूर्ण परमात्मा (अङ्गुष्ठमात्रः) अंगूठे के बराबर हृदयाकाश में रहने वाला (आत्मनि) जीवात्मा के (मध्ये) मध्य में (तिष्ठति) रहता है (ततः) उस (के ज्ञान) से (न, विजुगुप्सते) कोई ग्लानि को नहीं पाता (एतद्, वै, तत्) यही वह ब्रह्म है ॥ १२ ॥

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाऽधूमकः।
ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उ श्वः ॥ एतद्वै तत् ॥ १३ ॥

अर्थ–(अङ्गुष्ठमात्रः) अंगुष्ठ मात्रा वाले हृदयाकाश में रहने वाला (पुरुषः) परिपूर्ण (ब्रह्म) (अधूमकः) धूम्र (विकार) रहित (ज्योतिः इव) ज्योति के समान (भूतभव्यस्य) हुए और होने वाले (संसार) का (ईशानः) स्वामी है (सः, एव) वही (अद्य) आज (सः, उ) वही (श्वः) कल है (एतद्, वै तत्) यही वह ब्रह्म है ॥ १३ ॥

यथोदकं दुर्गे वृष्टं पर्वतेषु विधावति।
एवं धर्मान्पृथक् पश्यंस्तानेवानुविधावति ॥ १४ ॥

अर्थ–(यथा) जैसे (दुर्गे) विषम देश में (वृष्टम्) बरसा हुआ (उदकम्) जल (पर्वतेषु) नीची जगहों की ओर (विधावति) बहता है (एवम्) इसी प्रकार (धर्मान्) गुणों को (गुणी से) (पृथक्) पृथक् (पश्यन्) देखता हुआ (तान्, एव) उन्हीं गुणों के (अनु विधावति) पीछे दौड़ता है ॥ १४ ॥

यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति।
एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम ॥ १५ ॥

अर्थ–हे (गौतम) नचिकेता ! (यथा) जैसे (शुद्धे) स्वच्छ (सम) देश में (शुद्धम्) स्वच्छ (उदकम्) जल (आसिक्तम्) सींचा हुआ (तादृक् एव) वैसा ही (भवति) होता है (एवम्) इसी प्रकार (विजानतः) ज्ञानी (मुनेः) मननशील (मनुष्य) का (आत्मा) आत्मा (भवति) हो जाता है ॥ १५ ॥

व्याख्या–इन उपनिषद्वाक्यों में ब्रह्म का निरूपण किया गया है। जिनके भली-भाँति समझ लेने से ब्रह्म की कुछ महिमा समझी जा सकती है। उनका संक्षिप्त रीति से यहाँ वर्णन किया जाता है–

जिसकी महिमा से मनुष्य जागृत और स्वप्न अवस्थाओं को बार-बार प्राप्त करता है। उस महान् और व्यापक ब्रह्म को जानकर मनुष्य दुःखों से छूटता है ॥ ४ ॥

इस कर्म भोक्ता जीव के समीपवर्ती ब्रह्म को जो समस्त भूतों और भविष्यत् का स्वामी है, जानकर मनुष्य निर्भीक हो जाता है ॥ ५ ॥

जीवात्मा, जो भौतिक शरीर की उत्पत्ति से भी पहले से स्थित है, जब वह अन्तर्मुखी वृत्ति वाला होकर हृदयस्थित परमात्मा का साक्षात् कर लेता है तो उसे प्रकट हो जाता है कि यही वह प्रिय देव है जिसका प्राप्त करना इष्ट था ।। ६ ।।

जब योगी की ब्रह्म प्राप्ति की साधिका बुद्धि, प्रकाशमयी और एकरस रहने वाली होकर हृदय में प्रकट होने वाली हो जाती है तभी वह आत्मा की अन्तर्मुखी वृत्ति के जागृत करने का कारण बन जाती है ।। ७ ।।

अरणियों में अग्नि जिस प्रकार छिपी रहती है और जिस प्रकार माता के गर्भ की रक्षा करती है उसी प्रकार ब्रह्म को हृदय में स्थित समझ और उसे अपना प्रेमपात्र बनाकर ज्ञानकाण्डी और कर्मकाण्डी, कोई क्यों न हो, प्रत्येक को, प्रतिदिन स्तुति करनी चाहिए ।। ८ ।।

सूर्यादि का उदय व अस्त होना ईश्वर सत्ता के कारण है, ऐसे ब्रह्म का कोई उल्लंघन नहीं कर सकता ।। ९ ।।

लोक-परलोक सब जगह एक ही ब्रह्म का साम्राज्य है। जो कोई एक जगह के ब्रह्म को और, और जगह के ब्रह्म को दूसरा समझता है, ऐसा अज्ञानी पुरुष मृत्यु के बन्धन से मुक्त नहीं होता ।। १० ।।

वह ब्रह्म अन्तर्मुखी होने ही से प्राप्त होता है। उसमें किसी को भिन्नता (देखो श्लोक १०) नहीं देखनी चाहिए ।। ११ ।।

अंगूठे के बराबर मात्रा वाले हृदयाकाश में स्थित जीव के मध्य ब्रह्म का निवास है (अर्थात् यही स्थान है जहाँ ब्रह्म का साक्षात्कार हुआ करता है) उस ब्रह्मज्ञान को पाकर मनुष्य सदैव प्रसन्न रहता है ।। १२ ।।

उपर्युक्त अंगुष्ठ मात्रा वाले हृदय में रहने वाला विकाररहित ज्योति के सदृश ब्रह्म सबका स्वामी और सदैव एक रस रहने वाला है ।। १३ ।।

गुण और गुणी में समवाय (नित्य) सम्बन्ध होता है। **अर्थात्** गुणी से गुण और गुण से गुणी पृथक् नहीं हो सकता।

इसी नियम के अनुसार ईश्वर के जग रचना आदि गुण भी ईश्वर से पृथक् नहीं हो सकते। जहाँ जग रचना आदि गुण हों वहाँ ईश्वर की सत्ता मानना अनिवार्य है। परन्तु जो ईश्वर के गुण (धर्म) जग रचना आदि को तो मानते हैं और स्वीकार करते हैं किन्तु रचा हुआ जगत् मौजूद है परन्तु उसके रचयिता की सत्ता स्वीकार नहीं करते, उपनिषद् कहती है कि ऐसे लोग उन धर्मों के पीछे दौड़ते अर्थात् जगत् में ही भटकते रहते हैं॥ १४ ॥

जल जिस स्थान में होता है उसी के सदृश दिखाई दिया करता है। यदि गोल हौज में है तो गोल, यदि विषमकोण सरोवर में है तो वैसा ही होकर दिखाई दिया करता है। यम नचिकेता से कहता है कि इसी प्रकार समता प्राप्त कर ज्ञानी का आत्मा हो जाया करता है॥ १५ ॥

॥ चतुर्थी वल्ली समाप्त ॥

पञ्चम वल्ली

पुरमेकादशद्वारमजस्यावक्रचेतसः।
अनुष्ठाय न शोचति विमुक्तश्च विमुच्यते ॥ एतद्वै तत् ॥ १ ॥

अर्थ–(अवक्र-चेतसः) सरल चित्त वाले (अजस्य) अनुत्पन्न = जीवात्मा के (एकादश द्वारम्) ग्यारह द्वार वाले (पुरम्) नगर (शरीर) को (अनुष्ठाय) अनुष्ठान करके (न, शोचति) नहीं सोचता (च) और (विमुक्तः) मुक्त हुआ (विमुच्यते) छूट जाता है (एतद्, वै, तत्) यही वह जीव है ॥ १ ॥

व्याख्या–इस शरीर को कहीं नव द्वार वाला और कहीं ग्यारह (११) द्वार वाला कहा जाता है। यहाँ ११ द्वार वाला कहा गया है। (१ सिर + २ आँख + २ कान + २ नासिका छिद्र + १ मुख + १ नाभि + १ मल + १ मूत्र स्थान–ये ११ द्वार हैं)। जिस समय मनुष्य इस शरीर का सदुपयोग करता है, अर्थात् बुद्धि को सरल, मन को शुद्ध और चित्त को चंचलता रहित बनाकर समस्त इन्द्रियों पर अपना अधिकार रखता है तब यह शरीर मनुष्य के लिए सुख का साधन[⊗] बनता है और ऐसे शरीर को उपरोक्त प्रकार से अनुष्ठान करते हुए जब वह छोड़ता है तो समस्त दुःखों से छूटकर मुक्त हो जाता है। इस प्रकार यह शरीर भी मुक्ति का असाक्षात् साधन है ॥ १ ॥

हंसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत्।
नृषद्वरसदृतसद् व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतम्बृहत् ॥ २ ॥

⊗ "सुख" दो शब्द सु + ख से मिलकर बना है। सु = अच्छा + ख = इन्द्रिय अर्थात् "सुख" नाम ही अच्छी इन्द्रियों का है। इस प्रकार दुःख (दु = बुरी + ख = इन्द्रिय) बुरी इन्द्रियों को कहते हैं।

अर्थ–(हंसः) एक शरीर से दूसरे शरीर में जाने वाला जीव, (शुचिषद्) शुद्ध देश में स्थित, (वसुः) (योनियों में) वास करने वाला (अन्तरिक्षसद्) अन्तरिक्ष में रहने वाला (होता) यज्ञकर्ता (वेदिषत्) स्थलचारी, (अतिथिः) अतिथि के सदृश कुछ समय के लिए आने वाला, (दुरोणसत्) कुटी में रहने वाला, (नृषत्) मनुष्य शरीरधारी, (वरसत्) श्रेष्ठ शरीरधारी, (ऋतसत्) नियम में रहने वाला, (व्योमसत्) आकाश में रहने वाला (अब्जाः) जलचर, (गोजाः) पृथ्वी में उत्पन्न होने वाला (वृक्षादि), (ऋतजाः) नियम से उत्पन्न होने वाला (अद्रिजाः) पर्वतों में उत्पन्न होने वाला, (ऋतम्, बृहत्) मर्यादाशील है ॥ २ ॥

ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति।
मध्ये वामनमासीनं विश्वे देवा उपासते ॥ ३ ॥

अर्थ–(जो साधक) (प्राणम्) प्राण वायु को (ऊर्ध्वम्) ऊपर (उन्नयति) ले जाता है, (अपानम्) अपान वायु को (प्रत्यक्) नीचे (अस्यति) फेंकता है (मध्ये) बीच (हृदयाकाश) में (आसीनम्) स्थित (वामनम्) श्रेष्ठ जीव को (विश्वे) सम्पूर्ण (देवाः) इन्द्रियाँ और प्राण (उपासते) सेवन करते हैं ॥ ३ ॥

अस्य विस्रंसमानस्य शरीरस्थस्य देहिनः।
देहाद्विमुच्यमानस्य किमत्र परिशिष्यते ॥ एतद्वै तत् ॥ ४ ॥

अर्थ–(अस्य) इस (शरीरस्थस्य) शरीर में रहने वाले (देहिनः) आत्मा के (विस्रंसमानस्य) विध्वंस होते हुए (देहात्) शरीर से (विमुच्यमानस्य) पृथक् होते हुए (अत्र) यहाँ (किम्) क्या (परिशिष्यते) शेष रह जाता है (एतद्, वै, तत्) यही वह जीव है ॥ ४ ॥

न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन।
इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ ॥ ५ ॥

अर्थ–(कश्चन) कोई भी मनुष्य (न प्राणेन) न प्राण से और (न अपानेन) न अपान से (जीवति) जीता है (तु) किन्तु (इतरेण) इन दोनों से भिन्न जीव के कारण (जीवन्ति) जीते हैं (यस्मिन्) जिस जीव के (एतौ) ये दोनों (उपाश्रितौ) आश्रित हैं ॥ ५ ॥

व्याख्या–इन चार वाक्यों में जीवात्मा का वर्णन है। आवागमन में रहकर जीव अपने कर्मफलानुसार भिन्न-भिन्न योनियों में जाया करता है। जीव जहाँ-जहाँ रहा करता है उनमें से कुछेक के नाम इस वाक्य में गिनाए गए हैं।

यहाँ जीव हंस दो दृष्टि से कहा गया है–(१) जीव भी हंस की तरह एक जगह से दूसरी जगह जाया करता है, (२) हंस जिस प्रकार कवियों के कथनानुसार दुग्ध मिश्रित जल से दुग्ध पृथक् कर लिया करता है इसी प्रकार जीव भी प्रकृति रूपी जल से ब्रह्मरूपी दुग्ध को पृथक् करके हंस ही नहीं किन्तु परमहंस कहलाया करता है ॥ १ ॥

जीव प्राण और अपान से काम लेता हुआ शरीर के मध्य में रहता है। सम्पूर्ण इन्द्रियाँ उसकी आज्ञाओं का पालन करती हैं ॥ २ ॥

जीव के शरीर छोड़ देने के बाद वह शरीर निकम्मा रह जाता है ॥ ३ ॥

शरीर में जीव के आश्रित प्राण और अपान रहते हैं और शरीर में जीव के रहने ही से उनका (तथा अन्य इन्द्रियों का) जीवन रहता है ॥ ४, ५ ॥

नोट–यहाँ यद्यपि प्राण और अपान दो ही कहे गए हैं, परन्तु मुख्य प्राण १० हैं–(१) प्राण = रेचक, (२) अपान = पूरक, (३) समान = शरीर में रस पहुँचाना, (४) उदान = कण्ठ से

---

१. एक कवि ने कहा है–"सारं ततो ग्राह्यमपास्य फल्गु हंसैर्यथा क्षीरमिवाम्बुमध्यात् ॥ अर्थात् जैसे जल में से हंस दुग्ध निकाल लेता है इसी प्रकार बुद्धिमान् सार ग्रहण करके (फल्गु) सारहीन वस्तु को छोड़ देता है।

२. यह वाक्य यजुर्वेद का मन्त्र है और उस वेद में दो जगह १०/२४, १२/१४ में आया है।

३. जीव का २४ प्रकार का सामर्थ्य है–(१) बल, (२) पराक्रम, (३) आकर्षण, (४) प्रेरणा, (५) गति, (६) भीषण, (७) विवेचन, (८) क्रिया, (९) उत्साह, (१०) स्मरण, (११) निश्चय, (१२) इच्छा, (१३) प्रेम, (१४) द्वेष, (१५) संयोग, (१६) विभाग, (१७) संयोजक, (१८) विभाजक, (१९) भाषण, (२०) स्पर्शन, (२१) दर्शन, (२२) स्वादन, (२३) गन्धग्रहण, (२४) ज्ञान।

अन्नपान खींचना, (५) व्यान = समस्त शरीर में रक्त में संचारक, (६) नाग = अनिश्चित कै तथा दस्त का साधक, (७) कूर्म्म = पलक मारने आदि का कारण, (८) कृकल = भोजन तथा पान की इच्छा से सम्बन्धित, (९) देवदत्त जम्हाई आदि का हेतु, (१०) धनञ्जय = मूर्च्छा, बेसुध होना, सोना तथा खर्राटा लेने का कारण। एक जगह लिखा भी है–

नागकूर्मकृकलदेवदत्तधनञ्जयरूपाः पञ्च वायवः एतेषां कर्माणि च यथाक्रमं उद्गारोन्मीलनक्षुधाजननविजृम्भणमोहरूपाणि।

(संगीतदर्पण अध्याय १ श्लोक ४३-४८ Raja Surinder Mohan Tagore's Edition)

हन्त त इदं प्रवक्ष्यामि गुह्यं ब्रह्म सनातनम्।
यथा च मरणं प्राप्य आत्मा भवति गौतम॥ ६ ॥

अर्थ–(गौतम) नचिकेता! (हन्त) प्रसन्नतापूर्वक (ते) तेरे लिए (इदम्) इस (गुह्यम्) अप्रकट (सनातन) अनादि (ब्रह्म) विद्या को (प्रवक्ष्यामि) कहूँगा (च) और (यथा) जैसे (मरणम्) मृत्यु को (प्राप्य) प्राप्त होकर (आत्मा) जीवात्मा (भवति) होता है॥ ६ ॥

योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः।
स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम्॥ ७ ॥

अर्थ–(अन्ये) कोई (देहिनः) जीव (शरीरत्वाय) शरीर धारण करने के लिए (योनिम्) जंगम योनियों को (प्रपद्यन्ते) प्राप्त होते हैं (अन्ये) और कोई (स्थाणुम्) स्थावर योनियों को (अनुसंयन्ति) जाते हैं (यथाकर्म) अपने-अपने कर्म (यथाश्रुतम्) अपने-अपने ज्ञान के अनुसार॥ ७ ॥

व्याख्या–इतनी भूमिका के बाद यम अब नचिकेता के तीसरे प्रश्न का उत्तर देता है। नचिकेता का तीसरा प्रश्न यह था कि मरने के बाद जीव बाकी रहता है या शरीर के साथ वह भी नष्ट हो जाता है? इसका उत्तर यम ने दिया कि मरने के बाद जीव अपने कर्मानुसार जंगम और स्थावर योनियों को प्राप्त हुआ करता है, अर्थात् बाकी रहता है। शरीर के साथ नष्ट नहीं हो जाता॥ ६, ७ ॥

य एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते।
तस्मिंल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन॥ एतद्वै तत्॥८॥

अर्थ–(यः) जो (एषः) यह (पुरुषः) सबमें व्याप्त (परमेश्वर) (कामं कामं) यथेच्छ (निर्मिमाणः) (ब्रह्माण्ड को) रचता हुआ (सुप्तेषु) सोए हुए (जीवों में) (जागर्ति) जागता है (तद्, एव) वही (शुक्रम्) पवित्र (तद् ब्रह्म) वही सबमें बड़ा (तद्, एव) वही (अमृतम्) अमर (उच्यते) कहा जाता है (तस्मिन्) उसी (ब्रह्म) में (सर्वे लोकाः) सब लोक (श्रिताः) ठहरे हुए (तद्, उ) उसका (कश्चन) कोई भी (न अत्येति) उल्लंघन नहीं कर सकता (एतद्, वै, तत्) यही वह ब्रह्म है ॥८॥

व्याख्या–मनुष्य चाहे सो जाए या मूर्छित हो जाए अथवा किसी प्रकार से अपने होश में न रहे तब भी उसके शरीर में व्यापक ईश्वर जागता रहता है और यथेच्छ रचना करता रहता है। यही शुक्र, ब्रह्म और अमृत है, समस्त ब्रह्माण्ड उसी के आश्रित है। कोई भी प्राणी उसके नियमों का उल्लंघन नहीं कर सकता ॥८॥

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥९॥

अर्थ–(यथा) जैसे (एकः, अग्निः) एक अग्नि (भुवनम्) लोक-लोक में (प्रविष्टः) व्याप्त हुआ (रूपं रूपम्) प्रत्येक रूपवान् वस्तु के (प्रतिरूपः) तुल्य रूप वाला(बभूव) हो रहा है (तथा) वैसे ही (एकः) एक (सर्वभूतान्तरात्मा) सबका अन्तर्यामी परमात्मा (रूपम्, रूपम्) प्रत्येक रूप के (प्रतिरूपः) सदृश रूप वाला है (च) परन्तु (बहिः) वह इन सबसे पृथक् ही है ॥९॥

वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥१०॥

अर्थ–(यथा) जिस प्रकार (एकः वायुः) एक ही वायु (भुवनम्) लोक में (प्रविष्टः) फैला हुआ (रूपं रूपम्) प्रत्येक

रूप के (प्रतिरूपः) तुल्य रूप वाला (बभूव) हो रहा है (तथा) वैसे ही (एकः) एक (सर्वभूतान्तरात्मा) सब भूतों में व्याप्त ईश्वर (रूपम् रूपम्) प्रत्येक के (प्रतिरूपः) तुल्य रूप वाला है (च) किन्तु (बहिः) रहता वह सबसे पृथक् ही है ॥ १० ॥

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः ॥ ११ ॥

अर्थ–(यथा) जैसे (सूर्यः) सूर्य (सर्वलोकस्य) समग्र संसार की (चक्षुः) आँख है परन्तु (चाक्षुषैः) आँखों के (बाह्यदोषैः) बाह्य दोषों से (सर्वभूतान्तरात्मा) सब व्यापक परमात्मा (लोक–दुःखेन) संसार के दुःख से (न, लिप्यते) लिप्त नहीं होता किन्तु (बाह्यः) उनसे पृथक् ही रहता है ॥ ११ ॥

व्याख्या–उपनिषद् के इन तीन वाक्यों में ब्रह्म व्यापकत्व का बड़ा सुन्दर वर्णन है–अग्नि और वायु जगत् में परिपूर्ण हैं और ये जिस वस्तु के भीतर होते हैं उसी के आकार में दिखाई देते हैं। जैसे प्रकाश या वायु एक घर में हैं तो घर के आकारवत् ही दिखाई देते हैं यदि किसी पात्र घड़े आदि में हैं तो उसी की तरह नजर आने लगते हैं, इसी तरह से ब्रह्म जगत् में अपने व्यापकत्व से जिस वस्तु में रहता है उस–उस वस्तु के तुल्य रूप वाला होता है। परन्तु उस वस्तु से सदैव पृथक् रहता है। न ब्रह्म उसमें लिप्त होता है न वह वस्तु ब्रह्म में लिप्त हो सकती है। इसी लिप्त न होने की बात को स्पष्ट करने के लिए एक और उपमा दी गई है कि आँखों में देखने की योग्यता सूर्य से आती है। इसलिए कहा गया है कि समस्त लोक का चक्षु होते हुए भी जिस प्रकार सूर्य आँखों के बाह्य विकारों से पृथक् रहता है उसी प्रकार जगत् पिता संसार की निकृष्ट से निकृष्ट वस्तु में व्याप्त होते हुए भी, उसके समस्त विकारों से पृथक् रहता है ॥ ९, १०, ११ ॥

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥ १२ ॥

अर्थ–(एकः) एक (वशी) सबको वश में रखने वाला

(सर्वभूतान्तरात्मा) सबका अन्तर्यामी (य) जो (एकं रूपं) एक रूप वाली (प्रकृति) को (बहुधा) बहुत प्रकार का (करोति) करता है (ये) जो (धीराः) धीर पुरुष (तम्) उस (आत्मस्थम्) जीवात्मा में स्थित (परमात्मा) को (अनुपश्यन्ति) देखते हैं (तेषाम्) उनको (शाश्वतम्) चिरकाल तक रहने वाला (सुखम्) सुख (प्राप्त होता है) (इतरेषाम् न) अन्यों को नहीं ॥ १२ ॥

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् ॥ १३ ॥

अर्थ—(नित्यानाम्) नित्य (पदार्थों) में (नित्यः) नित्य (चेतनानाम्) चेतनों में (चेतनः) चेतन (बहूनाम्) बहुतों में (एकः) एक है (यः) जो [जीवों के प्रति] (कामान्) कर्मफलों को (विदधाति) विधान करता-देता है (तम्) उस (आत्मस्थम्) जीवात्मा में स्थित [परमात्मा] को (यें) जो (धीराः) ध्यानशील (अनुपश्यन्ति) देखते हैं (जान जाते हैं) (तेषाम्) उनको (शाश्वती) चिरस्थायिनी (दीर्घकालीन) (शान्तिः) शान्ति प्राप्त होती है (इतरेषाम् न) अन्यों (अज्ञानियों) को नहीं ॥ १३ ॥

व्याख्या—उपनिषद् के इन वाक्यों में ईश्वर की सगुणोपासना* वर्णित है। इन वाक्यों में ईश्वर के सत्तात्मक गुणों का वर्णन है। ईश्वर एक है, सब को वश में रखने वाला और समस्त भूतों में आत्मा के सदृश व्यापकत्व से मौजूद है और एक प्रकृति से जगत् की असंख्य रचनाएँ करता है, नित्यों का नित्य और चेतनों का चेतन है। ऐसे असंख्य गुणों से भूषित ईश्वर के गुणों को जब मुमुक्षु अपने हृदय में धारण कर लेता है और अन्तर्मुखी होकर आत्मसात् करता है जब उसे चिरकाल तक रहने वाला सुख और शान्ति प्राप्त होती है।

तदेतदिति मन्यन्तेऽनिर्देश्यं परमं सुखम्।
कथं नु तद्विजानीयां किमु भाति विभाति वा ॥ १४ ॥

---

* निर्गुणोपासना इसी उपनिषद् के ३-१५ में वर्णित है। वहाँ उस वाक्य की व्याख्या को देखो।

अर्थ–जिस (परमम्) महान (सुखम्) सुख रूप (परमात्मा) को (तत्) वह (एतत्) यह (इति) ऐसा है (अनिर्देश्यम्) अंगुली उठाकर बताने के अयोग्य (मन्यते) मानते हैं (तम्) उस को (कथम्, नु) कैसे (विजानीयाम्) जानूं कि (उ) वह (किम्) किस प्रकार (भाति) प्रकाशित होता (वा) या (विभाति) प्रकाशित करता है ।। १४ ।।

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ।। १५ ।।

अर्थ–(तत्र) उस (ब्रह्म) में (सूर्यः) सूर्य (न, भाति) नहीं प्रकाशित होता (न, चन्द्रतारकम्) न चन्द्रमा और तारे (इमाः) और ये (विद्युतः) बिजली भी (न, भान्ति) वहाँ नहीं चमकती फिर (अयम्) यह (अग्निः) अग्नि वहाँ (कुतः) कहाँ से (प्रकाशित हो सकती है) किन्तु (तम्) उस (एव) ही के (भान्तम्) प्रकाशित होने से (सर्वम्) ये सब (सूर्यादि) (अनुभाति) पीछे से प्रकाशित होते हैं (तस्य) उसके (भासा) प्रकाश से (इदम्) यह (सर्वम्) सब (विभाति) प्रकाशित होता है ।। १५ ।।

व्याख्या–ब्रह्म सम्बन्धी बहुत सा उपदेश सुनने के बाद नचिकेता को यह सन्देह उत्पन्न होता है कि जब ईश्वर को निर्देश करके बतलाने के अयोग्य कहा जाता है तब यह कैसे माना जाए कि वह प्रकाशित होकर सबको प्रकाशित करता है। इस सन्देह के निवारणार्थ उत्तर देता है कि वहाँ (जहाँ ब्रह्म साक्षात् हुआ करता है) सूर्य, चन्द्र, तारे, विद्युत् और अग्नि का प्रकाश निष्फल है, कुछ काम नहीं दे सकता। इसलिए इनमें से किसी के प्रकाश में इसे (ईश्वर को) देखने की इच्छा करना व्यर्थ है। हकीकत यह है कि उसी के प्रकाशित होने और उसी के दिये हुए थोड़े प्रकाश से किस प्रकार उस महान् और विलक्षण ज्योतिःपुञ्ज को कोई देख सकता है? किसी कवि ने बहुत अच्छा कहा है–

हम ससीम हैं सीमित साधन धर सकते हैं।
क्योंकर उनसे असीम की नाप तोल कर सकते हैं ।।

।। पञ्चमी वल्ली समाप्त ।।

षष्ठी वल्ली

ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते।
तस्मिंल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन ॥ एतद्वै तत् ॥ १ ॥

अर्थ–(ऊर्ध्वः) ऊपर (मूलः) जड़ और (अवाक्) नीचे को (शाखः) शाखाएँ हैं जिसकी, ऐसा (एषः) यह (अश्वत्थः) कल ही कल ठहरने वाला [मनुष्य शरीर रूप] वृक्ष (सनातनः) [प्रवाह से] नित्य है। (तद्) उस [इस वृक्ष के रचयिता] को (एव) ही (शुक्रम्) जगत् का चैतन्य कारण (तद्) उसको (ब्रह्म) सबसे बड़ा (तत्, एव) उसीको (अमृतम्) अमर (उच्यते) कहते हैं (तस्मिन्) उसी में (सर्वे) सब (लोकाः) लोक (श्रिताः) ठहरे हैं (कश्चन) कोई भी (तत्) उसका (न, अत्येति) उल्लंघन नहीं करता ॥ १ ॥

व्याख्या–मनुष्य के शरीर में सिर जड़ स्थानी है और हाथ, पांव आदि शाखाओं के सदृश हैं अर्थात् वृक्षों से मनुष्य शरीर की बनावट इस अंश में सर्वथा विपरीत है। इस वाक्य में शरीर को (अश्वत्थः) कल ही कल रहने वाला और साथ ही नित्य भी माना गया है। इसका अभिप्राय यह है कि वर्तमान मनुष्य शरीर तो स्पष्ट ही बहुत थोड़ी देर रहने वाला है परन्तु मनुष्य योनि जो कि सृष्टि काल में बराबर बनी रहती है और प्रलय के बाद फिर प्रकट हो जाती है, नित्य है। इसी का नाम प्रवाह से नित्य होता है ॥ १ ॥

यदिदं किञ्च जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम्।
महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ २ ॥

अर्थ–(यत्) जो (किञ्च) कुछ (जगत्) ब्रह्माण्ड है (इदम्) वह (सर्वम्) सब (प्राणे) परमात्मा में (एजति)

गतिमान् है और उसी से (निःसृतम्) उत्पन्न हुआ है, यह ब्रह्म (उद्यतम्, वज्रम्, इव) हाथ में लिये वज्र के सदृश (महद्) महान् (भयम्) भय वाला है (ये) जो मनुष्य (एतद्) इस (रहस्य) को (विदुः) जानते हैं (ते) वे (अमृताः) मृत्यु के पार (भवन्ति) हो जाते हैं ॥ २ ॥

भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ॥ ३ ॥

अर्थ–(अस्य) इस ब्रह्म के (भयात्) भय से (अग्निः) अग्नि (तपति) जलती है (भयात्) भय से (सूर्यः) सूर्य (तपति) प्रकाशित होता है (च) और (भयात्) भय से ही (इन्द्रः) बिजली (च) और (वायुः) वायु [अपना-अपना काम करते हैं] और (पञ्चमः) पांचवां (मृत्युः) मृत्यु (धावति) दौड़ता = अपना काम करता है ॥ ३ ॥

इह चेदशकद् बोद्धुं प्राक्शरीरस्य विस्रसः।
ततः सर्गेषु लोकेषु शरीरत्वाय कल्पते ॥ ४ ॥

अर्थ–(चेत्) यदि (इह) इस जन्म में (शरीरस्थ) शरीर के (विस्रसः) नाश होने से (प्राक्) पहले (बोद्धुम्) (ब्रह्म को) जानने को (अशकत्) समर्थ हो (तो ठीक है, अन्यथा) (ततः) उस (न जानने) से (सर्गेषु) रचे हुए (लोकेषु) लोकों में (शरीत्वाय) शरीर धारण करने (जन्म मरण के चक्र में आने) के लिए (कल्पते) समर्थ होता है ॥ ४ ॥

व्याख्या–प्रथम के दो श्लोकों में यह प्रकट किया गया है कि यह समस्त ब्रह्माण्ड, सर्वाधार होने से ब्रह्म के अन्तर्गत ही स्थित होता हुआ अपना कार्य कर रहा है और इस जगत् के प्रत्येक कार्य में जो नियम पाया जाता है वह नियम ईश्वर-प्रदत्त है और इस नियम को ठीक रीति से चलाने के लिए ईश्वर मानो वज्र हाथ में लिये सदैव (नियम भंग करने वालें को दण्ड देने के लिए) तैयार रहता है। तीसरे श्लोक में मनुष्य को चेतावनी दी गई है कि शरीर छूटने से पहले आत्मज्ञान प्राप्त करने में समर्थ न हुआ तो उस जन्म-मरण के चक्र में ही रहना पड़ेगा। ईश्वरीय आज्ञाएँ दो प्रकार

की होती हैं। एक वे जिन्हें ईश्वर माता, पिता तथा सखा के रूप में, कर्म-स्वातन्त्र्य के कारण और ईश्वर-प्रदत्त नियमानुसार मनुष्यों को अधिकार होता है कि चाहे उसका पालन करें या न करें। (२) दूसरी आज्ञा नियम रूप में होती है कि जो जगत् और जगत्-सम्बन्धी कार्यों को चलाने के लिए जगत् में प्रचलित की जाती हैं। इन्हीं का नाम प्राकृतिक नियम (Laws of Nature) है। ये नियम अटल होते हैं। इन्हें कोई तोड़ नहीं सकता और इन्हीं के लिए उपनिषद् के उपर्युक्त वाक्य में (देखो श्लोक २, ३) कहा गया है कि पालन कराने के लिए ईश्वर मानो हाथ में वज्र लिये हुए के सदृश है ॥ १-४ ॥

यथाऽऽदर्शे तथाऽऽत्मनि यथा स्वप्ने तथा पितृलोके।
यथाऽप्सु परीव ददृशे तथा गन्धर्वलोके छायातपयोरिव ब्रह्मलोके ॥ ५ ॥

अर्थ–(यथा) जैसे (आदर्शे) दर्पण में (तथा) वैसे (आत्मनि) शुद्ध अन्तःकरण में (यथा) जैसे (स्वप्ने) स्वप्न में (तथा) वैसे (पितृलोके) पितृलोक में (यथा) जैसे (अप्सु) जलों में (परीव) सब ओर से स्पष्ट (तथा) वैसे (गन्धर्वलोके) गन्धर्व लोक में (ददृशे) (आत्मा) देखा जाता है, (छायातपयोः) छाया और प्रकाश के (इव) समान (ब्रह्मलोके) ब्रह्मलोक में (देखा जाता है) ॥ ५ ॥

व्याख्या–आत्मज्ञानार्थ उत्तम कर्म करते हुए मनुष्य की प्रारम्भ से अन्त तक चार अवस्थाएँ होती हैं–

(१) श्रेष्ठ ज्ञान और कर्मों से उसने अन्तःकरण को ऐसे बना लिया है जिसमें आत्मदर्शन कर सके।

(२) सकाम कर्म करते हुए पितृलोक (चन्द्रलोक) अर्थात् दुःख रहित, मनुष्य योनि में जाना, जिसमें जाना स्वर्ग-प्राप्ति कहा जा सके।

(३) निष्काम कर्म करते हुए देवयान का पथिक बनकर सूर्य लोक को प्राप्त कर लेना।

(४) अन्त में सूर्यलोक के बाद ब्रह्मलोक को प्राप्त कर लेना।

इन चारों अवस्थाओं में मुमुक्षु परमात्म-दर्शन किस प्रकार करता है इसी का विवरण इस उपनिषद् वाक्य में दिया गया है-

(१) शुद्ध अन्तःकरण में आईने में शक्ल देखने के सदृश।

(२) पितृलोक में स्वप्न की वस्तु देखने के सदृश।

(३) सूर्यलोक में जल के रूप में देखने की तरह और

(४) ब्रह्मलोक में स्पष्ट प्रकार से प्रकृति से पृथक् ब्रह्म को देखता है जिस प्रकार छाया से पृथक् प्रकाश हुआ करता है ब्रह्मलोक अर्थात् ईश्वर-प्राप्ति की विशेषता है ।। ५ ।।

इन्द्रियाणां पृथग्भावमुदयास्तमयौ च यत्।
पृथगुत्पद्यमानानां मत्वा धीरो न शोचति ।। ६ ।।

अर्थ-(पृथक्, उत्पद्यमानानाम्) पृथक्-पृथक् उत्पन्न किए हुए (इन्द्रियाणाम्) इन्द्रियों के (पृथक् भावम्) पृथक् भाव को (च) और (यत्) जो उनके (उदय-अस्तमयौ) उदय (प्रारम्भ) और अस्त (अन्त) हैं इनको (मत्वा) जानकर (धीरः) विवेकी पुरुष (न, शोचति) शोक नहीं करता ।। ६ ।।

व्याख्या-इन्द्रियाँ बहिर्मुखीवृत्ति के साधन हैं। इनके द्वारा इनके विषय की ओर मनुष्य जा सकता है। इसलिए कहा गया है कि जो मनुष्य इन्द्रियों के आत्मा से पृथक्त्व और इन्द्रियों के उदय और अस्त अर्थात् इनके नाशवान् और उनके द्वारा प्राप्त विषय सुख के क्षणिक होने की हकीकत को समझ लेता है तब वह दुःखों से छूट जाता है ।। ६ ।।

इन्द्रियेभ्यः परं मनो मनसः सत्त्वमुत्तमम्।
सत्त्वादधि महानात्मा महतोऽव्यक्तमुत्तमम् ।। ७ ।।

अर्थ-(इन्द्रियेभ्यः) इन्द्रियों से (मनः) मन (परम्) सूक्ष्म है, (मनसः) मन से (सत्त्वम्) बुद्धि (उत्तमम्) श्रेष्ठ है (सत्त्वात् अधि) बुद्धि से सूक्ष्म (उसका कारण) (महानात्मा) महत्तत्व (महतः) महत्तत्व से (अव्यक्तम्) अप्रकट (प्रकृति) (उत्तमम्) उत्तम है ।। ७ ।।

अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापकोऽलिङ्ग एव च।
यज्ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छति ॥ ८ ॥

अर्थ–(अव्यक्तात्) अप्रकट प्रकृति से (तु) निश्चय (व्यापकः) व्यापक (च) और (अलिङ्ग) चिह्न रहित = निराकार (पुरुषः) (एकमात्र) ईश्वर (एव) ही (परः) सूक्ष्म है (यत्) जिसको (ज्ञात्वा) जानकर (जन्तुः) प्राणी (दुःखों से) (मुच्यते) छूट जाता है (च) और (अमृतत्वम्) मोक्ष को (गच्छति) प्राप्त होता है ॥ ८ ॥

व्याख्या–ये उपनिषद्वाक्य इससे पहले ३/१०/११ में आये हुए भावों को ही प्रकट करते हैं। इनमें कहा गया है कि मनुष्य को अपने अन्तिम ध्येय ब्रह्म की प्राप्ति के लिए अपने अन्दर आत्मा की ओर चलना चाहिए–इन्द्रियों से सूक्ष्म मन, मन से सूक्ष्म बुद्धि, बुद्धि से सूक्ष्म उसका कारण महत्तत्व, महत्तत्व से सूक्ष्म अव्यक्त प्रकृति (कारण शरीर) और प्रकृति से सूक्ष्म व्यापक और निराकार ईश्वर है। जब मनुष्य क्रमशः उपर्युक्त भाँति भीतर चलते हुए अन्त में जाकर ईश्वर को साक्षात् कर लेता है तब आवागमन के बन्धन से छूटकर मुक्त हो जाता है ॥ ७, ८ ॥

न सन्दृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्।
हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ ९ ॥

अर्थ–(अस्य) इस (ब्रह्म) के (सन्दृशे) समक्ष में (रूपम्) कोई रूप (न तिष्ठति) नहीं ठहरता (एनम्) इसको (कश्चन) कोई भी (चक्षुषा) आँख से (न, पश्यति) नहीं देखता (हृदा) हृदयस्थ (मनीषा) मनन करने वाली (मनसा) बुद्धि से (अभिक्लृप्तः) प्रकाशित होता है। (ये) जो कोई (एतत्) इस (रहस्य) को (विदुः) जानते हैं (ते) वे (अमृताः) अमर (भवन्ति) होते हैं ॥ ९ ॥

व्याख्या–प्रभु के दर्शन के लिए हृदय के पटल खुलने चाहिएं–इन बाह्य आँखों से उसका रूप नहीं देखा जा सकता। वह प्रत्येक जगह मौजूद है। जहाँ भी मनुष्य उसे हृदय की

आँखों से देखना चाहता है, देखकर तृप्त हो जाता है। बाह्य आँखों का वह विषय नहीं है इसलिए उनसे देखने की इच्छा व्यर्थ है। एक कवि ने बहुत अच्छा कहा है–

नकाब[⊗] दूर है हर चन्द रूप[❖] लैला से।
कहाँ से लाए मगर कोई दीदए मजनूं ।।

अर्थात् यद्यपि लैला के मुँह पर परदा नहीं है परन्तु देखने के लिए तो मजनूं की आँखें चाहिएं ।। ९ ।।

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम् ।। १० ।।

अर्थ–(यदा) जब (पञ्च, ज्ञानानि) पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ (मनसा) मन के (सह) साथ (अवतिष्ठन्ते) ठहर जाती हैं (च) और (बुद्धिः) बुद्धि भी (न, विचेष्टते) चेष्टा नहीं करती (ताम्) उसको (परमां गतिम्) परम गति = जीवनमुक्तावस्था (आहुः) कहते हैं ।। १० ।।

व्याख्या–इन्द्रियों का मन के साथ, अपना-अपना काम छोड़कर ठहर जाना बहिर्मुखी वृत्ति का बन्द हो जाना और अन्तर्मुखी वृत्ति का जागृत हो जाना है। इसी अवस्था का नाम उपनिषद् के शब्दों में परमगति है। परन्तु जब तक बहिर्मुखता बन्द नहीं होती, जिज्ञासु अन्तर्मुखी नहीं हो सकता। कबीर ने इसी उच्चभाव को अपने मोटे शब्दों में इस प्रकार प्रकट किया है–

"भीतर के पट जब खुलें बाहर के हों बन्द" ।। १० ।।

तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगी ही प्रभवाप्ययौ ।। ११ ।।

अर्थ–(स्थिराम्) स्थिरता से (ताम्) उस (इन्द्रियधारणाम्) इन्द्रियों को रोकने को (योगम्, इति) योग (मन्यन्ते) मानते हैं (तदा) तब योगी (अप्रमत्तः) प्रमाद रहित (भवति) होता हैं (हि)

⊗ परदा, घूंघट
❖ रूप, मुँह

निश्चय (योगः) योग (प्रभवाप्ययौ) [शुद्ध संस्कारों का] उत्पन्न और [अशुभ संस्कारों का] अन्त करने वाला है ॥ ११ ॥

व्याख्या—योग की कार्य-प्रणाली यह है कि प्रथम अभ्यासी इन्द्रियों को उनके विषयों से रोककर चित्त को एकाग्र करे। इस एकाग्रता की उपलब्धि से योगी चुस्त और आलस्य से रहित हो जाता है। इस चित्त की एकाग्रता के बाद जब योगी चित्त के निरोध का यत्न करता है तो अभ्यास करने से उसके अन्दर 'ऋतम्भरा' बुद्धि की उत्पत्ति होती है।❋ इस बुद्धि से जो संस्कार उत्पन्न होता है वह अन्य संस्कारों का नाश कर देता है परन्तु स्वयं बना रहता है❖ जब अन्त में यह संस्कार भी नष्ट हो जाता है तब योग की अन्तिम (चित्त की निरुद्ध) अवस्था प्राप्त होकर योगी को कृतकृत्य कर देती है☹ उपनिषद् के इस वाक्य में (प्रभवाप्ययौ) शब्द से ऋतम्भरा की उत्पत्ति और उससे अन्य संस्कारों के नष्ट होने का संकेत किया गया है।

नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा।
अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते ॥ १२ ॥

अर्थ—(न, वाचा) न वाणी से (न, मनसा) न मन से (न, एव) न ही (चक्षुषा) आँख से (प्राप्तुम्) प्राप्त होने (शक्यः) योग्य है (अस्ति, इति) है, ऐसा (ब्रुवतः) कहते हुए (अन्यत्र) और कहाँ (तत्) वह (कथम्) क्योंकर (उपलभ्यते) प्राप्त हो सकता है ॥ १२ ॥

अस्तीत्येवोलपलब्धव्यस्तत्त्वभावेन चोभयोः।
अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदति ॥ १३ ॥

अर्थ—(उभयोः) (अस्ति, नास्ति) इन दोनों में (तत्त्वभावेन) तत्त्व की भावना से (अस्ति) है (इति) ऐसा (एव) ही (उपलब्धव्यः) जानने वाले का (तत्त्व-भावः) तत्त्वभाव❖ (प्रसीदति) प्रसन्न होता है ॥ १३ ॥

❋ योगदर्शन १/४८
❖ योगदर्शन १/५०
☹ योगदर्शन १/५१
❖ शरीर इन्द्रिय और आत्मा का समूह 'तत्त्वभाव' शब्द से अभिप्रेत है।

व्याख्या–यहाँ तक पहुँचने के बाद नचिकेता को फिर एक सन्देह उत्पन्न होता है और यमाचार्य उसको निवृत्त करते हैं।

शंका–जब ईश्वर वाणी, मन, चक्षु (आदि किसी भी इन्द्रिय) से प्राप्त नहीं हो सकता है तो फिर उसकी सत्ता स्वीकार करके उसे किस प्रकार प्राप्त कर सकते हैं?

समाधान–अस्ति और नास्ति इन दोनों में से ईश्वर की सत्ता के सम्बन्ध में अस्ति कहने वाले ही की बुद्धि आदि निर्मल होकर उसकी प्राप्ति का साधन बन जाती है ॥ १२, १३ ॥

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥ १४ ॥

अर्थ–(यदा) जब (सर्वे) सब (कामाः) वासनाएँ (ये) जो (अस्य) इस पुरुष के (हृदि) हृदय में (श्रिताः) रहती हैं। (प्रमुच्यन्ते) छूट जाती हैं (अथ) तब (मर्त्यः) मनुष्य (अमृतः) मुक्त (भवति) होता है (अत्र) और (ब्रह्म) ब्रह्म को (समुश्नते) प्राप्त होता है ॥ १४ ॥

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावद्ध्यनुशासनम् ॥ १५ ॥

अर्थ–(यदा) जब (इह) यहाँ (हृदयस्य) हृदय की (सर्वे) सब (ग्रन्थयः) गांठें (प्रभिद्यन्ते) खुल जाती हैं (अथ) तब (मर्त्यः) मनुष्य (अमृतः) मुक्त (भवति) होता है (एतावत्) इतना ही अनुशासनम् (शास्त्र का) उपदेश है ॥ १५ ॥

व्याख्या–उपनिषद् को समाप्त करते हुए अन्त की बातें ही अन्त में कही जाती हैं–

जब चित्त के आश्रित वासनाएँ नष्ट हो जाती हैं और मनुष्य निष्काम हो जाता है तब मृत्यु के बन्धन से मुक्त होकर ईश्वर को प्राप्त कर लिया करता है। उपनिषद् कहती है कि शास्त्र इतना ही उपदेश कर सकता है अर्थात् यह शास्त्र का उपदेश किस प्रकार सार्थक हो सकता है इसके लिए जिज्ञासु को विशेषज्ञों का सहारा पकड़ना चाहिए। यह बतलाना शास्त्र की सीमा से बाहर की बात है ॥ १४, १५ ॥

शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्द्धानमभिनिःसृतैका।
तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति ॥ १६ ॥

अर्थ–(हृदयस्य) हृदय की (शतम्, एका च) एक सौ एक (नाड्यः) नाड़ियाँ हैं (तासाम्) उनमें से (एका) एक (मूर्द्धानम्) मस्तिष्क में (अभिनिःसृता) जा निकली है (तया) उस नाड़ी के साथ (ऊर्ध्वम्) ऊपर से (आयन्) निकलता हुआ (जीवात्मा) (अमृतत्वम्) मोक्ष को (एति) प्राप्त होता है (अन्याः) अन्य (१०० नाड़ियों द्वारा प्राण के साथ) (उत्क्रमणे) निकलने पर (विष्वङ्) विविध (गति) (भवन्ति) होती हैं ॥ १६ ॥

व्याख्या–जब मनुष्य उपनिषद् में दी हुई शिक्षाओं के अनुकूल आचरण करके जीवनमुक्त हो जाता है तब उसका आत्मा इस शरीर से किस प्रकार निकलता है यह बताया जाता है–

हृदय से निकलकर जो १०१ नाड़ियाँ समस्त शरीर में फैलती हैं उनमें से एक सुषुम्णा नाम वाली नाड़ी, जो शरीर में इडा और पिंगला के मध्य रहती है, मूर्धा में जा निकली है। मुक्त जीव का आत्मा इसी नाड़ी के द्वारा शरीर से निकल कर देवयान (मोक्षमार्ग) का पथिक बन जाता है और जो प्राणी ऐसे हैं कि उन्हें मुक्ति से भिन्न फल प्राप्त होने वाले हैं उनका जीव इस सुषुम्णा नाड़ी से नहीं निकलता किन्तु शरीर के दूसरे छिद्रों से निकल जाया करता है ॥ १६ ॥

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः।
तं स्वाच्छरीरात्प्रवृहेन्मुञ्जादिवेषीकां धैर्येण।
तं विद्याच्छुक्रममृतं तं विद्याच्छुक्रममृतमिति ॥ १७ ॥

अर्थ–(अन्तरात्मा) शरीर के भीतर (पुरुषः) जीव (अङ्गुष्ठमात्रः) अंगूठे के बराबर हृदयाकाश में रहने वाला (सदा) सदैव (जनानाम्) मनुष्यों के (हृदये) हृदय में (सन्निविष्टः) प्रविष्ट है (तम्) उस का (धैर्येण) धैर्य से (मुञ्जात्) मुञ्ज से (ईषीकाम्) सींक की (इव) तरह (स्वात्) अपने (शरीरात्) शरीर से (प्रवृहेत्) निकाले (तम्) उस को (अमृतम्) न मरने वाला (शुक्रम्) पवित्र (विद्यात्) जाने ॥ १७ ॥

व्याख्या–मुक्त जीव के लिए यह शिक्षा दी गई है कि जीवात्मा को, जो सदैव अंगूठे की मात्रा वाले हृदयाकाश में रहा करता है, इस शरीर से जिस प्रकार मूंज की तीली (सींक) निकाली जाती है उसी प्रकार धैर्य के साथ इस शरीर से निकाले और उस जीव को पवित्र और अमर समझे क्योंकि यह कहा गया है कि यह उपदेश केवल मुक्त जीवों के लिए है। इसका कारण यह है कि केवल मुक्त जीव ही का अधिकार है जो अपने आत्मा को अधिकार के साथ शरीर से निकाल सके। अन्य गतियों को प्राप्त प्राणियों के जीव को सूक्ष्म शरीर के बन्धन में होकर उसी के साथ निकलना पड़ता है। अस्तु उपनिषद् वाक्य के अन्तिम वाक्य का दुबारा पाठ ग्रन्थ की समाप्ति का सूचक है।। १७ ।।

मृत्युप्रोक्तां नचिकेताऽथ लब्ध्वा विद्यामेतां योगविधिञ्च कृत्स्नम्।
ब्रह्मप्राप्तो विरजोऽभूद्विमृत्युरन्योऽप्येवं यो विदध्यात्ममेव ।। १८ ।।

अर्थ–(अथ) यह (मृत्युप्रोक्ताम्) मृत्यु से कही गई (एतां) इस (विद्याम्) विद्या को (च) और (कृत्स्नम्) समस्त (योगविधिम्) योगविधि को (लब्ध्वा) प्राप्त होकर (नचिकेतः) नचिकेता (ब्रह्म प्राप्त) ब्रह्म को प्राप्त हुआ और (विरजः) निर्मल (विमृत्युः) मृत्यु भय से रहित (अभूत्) हुआ। (अन्यः) अन्य (अपि) भी (यः) जो (अध्यात्मम्, एव) आत्मा सम्बन्धी विद्या को (एवं, विद्) इस प्रकार जानता है (मुक्त हो जाता है) ।। १८ ।।

व्याख्या–उपनिषद् को समाप्त करने के बाद फलश्रुति के तौर पर उपनिषद्कार लिखते हैं कि यम के उपदेश को नचिकेता ने ग्रहण कर और उसके अनुकूल आचरण कर पाप रहित होकर ब्रह्म को प्राप्त किया। अन्य नर-नारी भी जो इस उपदेश के अनुकूल आचरण करेंगे ब्रह्म को प्राप्त कर सकेंगे।। १८ ।।

।। षष्ठी वल्ली तथा ग्रन्थ समाप्ता ।।

ओ३म्

उपनिषद् रहस्य

एकादशोपनिषद्

(मूल, शब्दार्थ, व्याख्या और श्लोक-मन्त्र शब्दानुक्रमणिका सहित)

भारतीय मनीषा का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण उपनिषद् हैं, ये आध्यात्मिक चिन्तन के सर्वोत्कृष्ट नवनीत हैं।

उपनिषद् शब्द का एक अर्थ 'रहस्य' भी है। उपनिषद् अथवा ब्रह्म-विद्या अत्यन्त गूढ़ होने के कारण साधारण विद्याओं की भाँति हस्तगत नहीं हो सकती, इन्हें 'रहस्य' कहा जाता है। इन रहस्यों को उजागर करने वालों में महात्मा नारायण स्वामीजी का नाम उल्लेखनीय है।

व्याख्याकार

महात्मा नारायण स्वामी
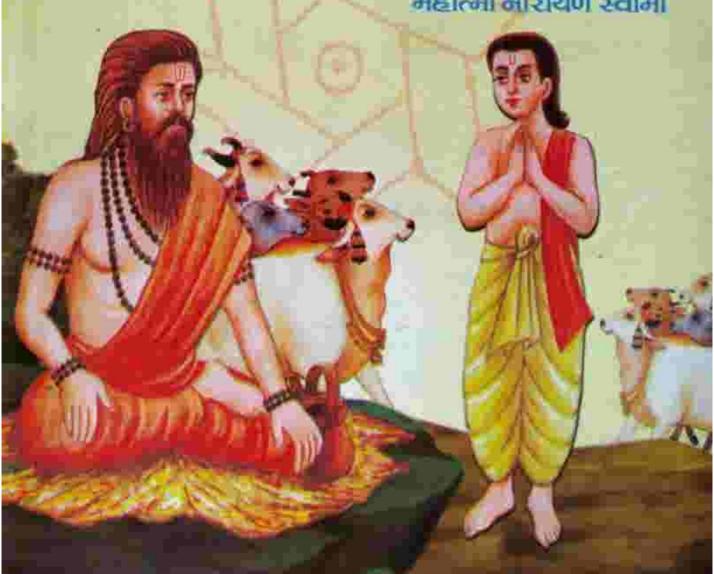
प्रश्न उपनिषद्

।। ओ३म् ।।

भूमिका

ईश, केन और कठोपनिषद् की व्याख्याओं के प्रकाशित होने के बाद अनेक स्वाध्यायशील नर-नारियों ने आगे की उपनिषदों की टीकाओं के शीघ्र प्रकाशित करने की इच्छा प्रकट की और आग्रह भी किया, परन्तु अनेकों झंझटों में फंसे रहने के कारण, इच्छा रखते हुए भी, इससे पहले मैं कुछ न कर सका। अब यह चौथी अथर्ववेदीय प्रश्नोपनिषद् की टीका और व्याख्या प्रकाशित की जाती है। आशा है स्वाध्यायशील और ब्रह्मविद्या का मर्म जानने के इच्छुक इससे लाभ उठावेंगे।

—नारायण स्वामी

बलिदान भवन, देहली
फा० बदी ९ सं० १९९१ वि०

॥ ओ३म् ॥

प्रश्नोपनिषद्

सुकेशा च भारद्वाजः शैब्यश्च सत्यकामः सौर्य्यायणी च गार्ग्यः कौशल्यश्चाश्वलायनो भार्गवो वैदर्भिः कबन्धी कात्यायनस्ते हैते ब्रह्मपरा ब्रह्मनिष्ठाः परं ब्रह्मान्वेषमाणा एष ह वै तत्सर्वं वक्ष्यतीति ते ह समित्पाणयो भगवन्तं पिप्पलादमुपसन्नाः ॥ १ ॥

अर्थ–(सुकेशा च, भारद्वाजः) भारद्वाज का पुत्र सुकेशा, (शैब्यः च, सत्यकामः) शिवि का पुत्र सत्यकाम, (सौर्य्यायणी, च गार्ग्यः) सौर्य का पुत्र गार्ग्य, (कौशल्यः च, आश्वलायनः) अश्वल का पुत्र कौशल्य, (भार्गवः वैदर्भिः) भृगु का पुत्र वैदर्भि (कबन्धी, कात्यायनः) और कात्य का पुत्र कबन्धी (ते, ह, एते, ब्रह्मपरा ब्रह्मनिष्ठाः) वे प्रसिद्ध ये ब्रह्म में तत्पर और ब्रह्मनिष्ठ (परं ब्रह्म अन्वेषमाणाः) परमब्रह्म का अन्वेषण करते हुए (ह, वै) निश्चय (एषः) यह (तत्, सर्वम् वक्ष्यति, इति) वह सब कहेगा, ऐसा सोचकर ते, ह, (समित्पाणयः) वे प्रसिद्ध (छओं विद्वान्) समिधा हाथ में लेकर (भगवन्तं पिप्पलादम्) भगवान् पिप्पलाद के (उपसन्नाः) समीप गये ॥ १ ॥

तान् ह स ऋषिरुवाच भूय एव तपसा ब्रह्मचर्य्येण श्रद्धया संवत्सरं संवत्स्यथ, यथाकामं प्रश्नान् पृच्छथ यदि विज्ञास्यामः सर्वं ह वो वक्ष्याम इति ॥ २ ॥

अर्थ–(तान्) उनको (ह) प्रसिद्ध (सः, ऋषिः) वह ऋषि (उवाच) बोला कि (भूयः एव) फिर भी (तपसा, ब्रह्मचर्य्येण) तप, ब्रह्मचर्य और (श्रद्धया) श्रद्धा से (संवत्सरम्) एक वर्ष तक (संवत्स्यथ) यहाँ रहो (उसके बाद) (यथाकामम्) जैसी रुचि हो (प्रश्नान् पृच्छथ) प्रश्नों को पूछो (यदि) जो (विज्ञास्यामः) हम जानते होंगे तो (सर्वम्) सब (ह) स्पष्ट रीति से (वः) तुम्हारे लिए (वक्ष्यामः इति) वर्णन करेंगे ॥ २ ॥

व्याख्या–उपर्युक्त प्रश्नोत्तर से ३ बातें प्रकट होती हैं–

(१) जिज्ञासु श्रद्धा के साथ, आचार्य की सेवा में जिज्ञासा की पूर्ति के लिए, समित्पाणि होकर जाता था– समित्पाणि का अर्थ है–हाथ में (यज्ञ के लिए) समिधा लेकर जाना। भाव इसका यह है कि जिज्ञासु को आचार्य के प्रति अपनी श्रद्धा क्रियात्मक रूप से प्रकट करनी चाहिए।

(२) आचार्य किसी जिज्ञासु को जब तक वे उसे अधिकारी नहीं समझ लेते थे ब्रह्मविद्या का उपदेश नहीं देते थे। इन छः जिज्ञासुओं को भी, वर्ष भर आश्रम में रहने का विधान इसी जाँच के लिए, पिप्पलाद ऋषि ने किया था।

(३) यदि सचमुच ये उत्कृष्ट जिज्ञासु हों तो उनका समय नष्ट न हो। इसलिए ब्रह्म की प्राप्ति के साधन ऋषि ने उन्हें प्रारम्भ ही में बतला दिये थे कि वे साधन ब्रह्मचर्य, तप और श्रद्धा हैं परन्तु उन जिज्ञासुओं को इतने मूल मन्त्र से तृप्ति नहीं हुई, इसलिए उन्होंने एक वर्ष रहना स्वीकार किया ॥ १, २ ॥

अथ प्रथमः प्रश्नः

अथ कबन्धी कात्यायन उपेत्य पप्रच्छ। भगवन्! कुतो ह वा इमाः प्रजायन्त इति ॥ ३ ॥

अर्थ–(अथ) एक वर्ष के बाद (कबन्धी, कात्यायनः) कात्या के पुत्र कबन्धी ने (उपेत्य) पास जाकर (पप्रच्छ) पूछा कि (भगवन्) हे भगवन् (ह, वा) निश्चय (कुतः) किससे (इमाः प्रजाः) ये प्रजाएँ (प्रजायन्ते इति) उत्पन्न होती हैं ? ॥ ३ ॥

तस्मै स होवाच प्रजाकामो वै प्रजापतिः स तपोऽतप्यत, स तपस्तप्त्वा स मिथुनमुत्पादयते। रयिञ्च प्राणञ्चेत्येतौ मे बहुधा प्रजाः करिष्यतः इति ॥ ४ ॥

अर्थ–(तस्मै) उस (प्रश्नकर्त्ता) के लिए (सः) वह (ह) प्रसिद्ध (पिप्पलाद) ऋषि (उवाच) बोला कि (वै) निश्चय (प्रजाकामः) जगदुत्पत्ति की इच्छा करता हुआ (सः

प्रजापतिः) वह प्रजापति = ईश्वर (तपः अतप्यत) तप करता है, (तपः तप्त्वा) तप को तप कर (सः) वह (रयिं, च प्राणं, च) रयि और प्राण रूप (मिथुनम्) जोड़े को (उत्पादयते) उत्पन्न करता है कि (एतौ) ये दोनों (मे, बहुधा, प्रजाः) अनेक प्रकार की सृष्टि को (करिष्यतः इति) उत्पन्न करेंगे ॥ ४ ॥

व्याख्या–उत्तर में दो बातें समझने योग्य हैं :–

(१) प्रजा की कामना से प्रजापति ने तप को तपा, इस तप का दूसरा नाम ईक्षण है। महाप्रलय के बाद जगदुत्पत्ति के लिए जगत्कर्त्ता में स्वभावतः एक इच्छा उत्पन्न होती है कि प्रलयान्त हो चुका अब सृष्टि का आरम्भ होना चाहिये। इसी इच्छा को उपनिषद् के शब्दों में ईक्षण कहते हैं और पिप्पलाद ने इसी ईक्षण को यहाँ तप कहा है। यह इच्छा प्रकार की दृष्टि से स्वाभाविक ही होती है परन्तु इससे एक गति उत्पन्न होती है जो जड़ प्रकृति में प्रविष्ट होकर उसे गतिमान् बना देती है और प्रकृति में इस प्रकार गति आ जाने से विकृत होकर जगदुत्पत्ति के कार्य में आने लगती है। वेद और उपनिषद् में इसीलिए ईश्वर को गतिदाता कहा गया है कि वह गति देता है परन्तु स्वयं गति में नहीं आता (यजुर्वेद अध्याय ४० मन्त्र ५)। अरस्तु ने भी इसीलिए ईश्वर को गति में न आने वाला गतिदाता (Unmoved Mover) कहा है।

(२) प्राण और रयि क्या वस्तु हैं जिनसे यह जगत् बन जाया करता है? प्राण को यद्यपि भोक्ता, अग्नि और अत्ता (खाने वाला) आदि कहा जाता है और इसी प्रकार रयि भोग्य अन्न और खाद्य आदि कहा जाता है परन्तु यहाँ प्राण उसी ईश्वर प्रदत्त गति को कहते हैं, जिसका नाम विज्ञानवेत्ताओं ने शक्ति (Energy) रखा हुआ है, और उसी गति से विकृत हुई प्रकृति रयि कहलाती है इसी रयि को विज्ञान में प्रकृति (Matter) कहा जाता है। वैज्ञानिक परिभाषा में प्राण नाम जिस गति शक्ति (Energy) का है और रयि जिस प्रकृति (Matter) को कहते हैं, उन्हीं के मेल से विकृत प्रकृति या विकृति की,

सूक्ष्म से स्थूल होती हुई अवस्थाओं के नाम, महत्त्व अहंकार, पञ्च तन्मात्रा, दशेन्द्रिय तथा मन (सूक्ष्मभूत) और आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी [स्थूल भूत] हैं। ये सूक्ष्म और स्थूल भूत केवल प्रकृति के, गतिशून्य विकार नहीं हैं किन्तु प्रकृति और गतिशक्ति दोनों का संघात है (Matter combined with energy) असल में जब तक ईश्वरप्रदत्त गतिशक्ति प्रकृति के महाप्रलयावस्था में प्राप्त, सत्त्व, रज और तम की समता को, विषमता में परिवर्तित नहीं कर देती, तब तक प्रकृति विकृत अवस्था को प्राप्त ही नहीं होती और विकृत अवस्था को प्राप्त न होने से उससे जगत् बन ही नहीं सकता ।। ४ ।।

आदित्यो ह वै प्राणो रयिरेव चन्द्रमाः रयिर्वा एतत्सर्वं यन्मूर्त्तञ्चामूर्त्तञ्च । तस्मान्मूर्तिरेव रयिः ।। ५ ।।

अर्थ–(ह, वै) निश्चय (आदित्यः) सूर्य ही (प्राणः) प्राण है और (चन्द्रमाः एव) चन्द्रमा ही (रयिः) रयि है। (यत्) जो (मूर्त्तं च) स्थूल और (अमूर्त्तं, च) सूक्ष्म जगत् है (एतत् सर्वम्) ये सब (रयिः) (मूर्तिः रयि एव) स्थूल (प्रकृति) ही है।

व्याख्या–इस वाक्य में प्राण को सूर्य और चन्द्रमा को रयि कहा गया है। सूर्य में सूर्यत्व (प्रकाश तथा गर्मी) उसी ईश्वर प्रदत्त गति और विकृत-प्रकृति के मेल का फल है। चन्द्रमा भी इन्हीं दोनों वस्तुओं के संघात का नाम है। इन दोनों में अन्तर केवल सूक्ष्मत्व, स्थूलत्व, गति की मात्रा की अधिकता, न्यूनता और स्वयं प्रकाशक होने न होने के कारण से है। सूर्य चन्द्रमा की अपेक्षा अधिक महान् और गतिमान् है इसलिए उसे प्राण [सूक्ष्म शक्ति] और चन्द्रमा को रयि (स्थूल शक्ति कहा गया है। इन्हीं को भोक्ता और भोग्य भी कहते हैं ।। ५ ।।

अथादित्य उदयन्यत्प्राचीं दिशं प्रविशति, तेन प्राच्यान्प्राणान् रश्मिषु सन्निधत्ते । यद्दक्षिणां यत्प्रतीचीं

यदुदीचीं यदधो यदूर्ध्वं यदन्तरा दिशो यत्सर्वं प्रकाशयति, तेन सर्वान्प्राणान् रश्मिषु सन्निधत्ते ॥६॥

अर्थ–(अथ) अब (आदित्यः) सूर्य (उदयन्) उदय होता हुआ (यत्) जो (प्राचीं दिशम्) पूर्व दिशा में (प्रविशति) प्रवेश करता है (तेन) उससे (प्राच्यान्) पूर्व दिशा में रहने वाले (प्राणान्) वायुओं को (रश्मिषु) किरणों में (सन्निधत्ते) रखता है (यत् दक्षिणाम्) जो दक्षिण दिशा (यत् प्रतीचीम्) जो पश्चिम (यत् उदीचीम्) जो उत्तर (यत्, अधः) जो नीचे (यत्, ऊर्ध्वम्) जो ऊपर (यत्, अन्तरा, दिशः) जो बीच की दिशाओं को (यत् सर्वम्) जो सबको (प्रकाशयति) प्रकाशित करता है (तेन) उस [प्रकाश] से (सर्वान् प्राणान्) समस्त वायुओं को (रश्मिषु) किरणों में (सन्निधत्ते) रखता है ॥६॥

व्याख्या–सूर्य के उदय होने से समस्त दिशायें प्रकाशित हो उठती हैं और समस्त प्राण उसकी किरणों में समाविष्ट हो जाते हैं। प्राणों के किरणों में समाविष्ट होने के अभिप्राय दो हैं–

(१) ईश्वर प्रदत्त गतिशक्ति (प्राण) सबसे अधिक मात्रा में सूर्य में रहा करती है। (२) और यह कि पृथ्वी के चारों ओर का स्थित वायु, किरणों के मेल से, शक्तिमय होकर उपयोगी हो जाया करता है ॥६॥

स एष वैश्वानरो विश्वरूपः प्राणोऽग्निरुदयते। तदेतदृचाभ्युक्तम् ॥७॥

अर्थ–(सः एषः) वह यह (वैश्वानरः) सब जीवों में (विश्वरूपः) अनेक प्रकार का (प्राणः) प्राण (वायु) है, वही (अग्निः) अग्नि–आदित्य (रूप से) (उदयते) उदय होता है (तत्, एतत्) वह यह (ऋचा) मन्त्र द्वारा भी (अभि, उक्तम्) कहा गया है ॥७॥

विश्वरूपं हरिणं जातवेदसं परायणं ज्योतिरेकं तपन्तम्। सहस्त्ररश्मिः शतधा वर्तमानः प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्य्यः ॥८॥

अर्थ–(विश्वरूपम्) सब रूप वाला (हरिणम्) किरणों वाला (जातवेदसम्) प्रकाश वाला (परायणम्) सबका आश्रय (एक ज्योतिः) एकमात्र ज्योति (तपन्तम्) प्रकाशमान (सहस्त्ररश्मिः) हजारों किरणों वाला (शतधा वर्त्तमानः) अनेक प्रकार से वर्त्तमान (प्रजानां प्राणः) प्रजाओं का प्राण (एषः सूर्य्यः) यह सूर्य (उदयति) उदय होता है।

व्याख्या–(१) प्राण का अनेक प्रकार प्राण, अपानादि भेदों से प्राणियों में रहना प्रत्यक्ष ही है उनके अग्नि (आदित्य) रूप से उदय होने का तात्पर्य यह है कि यह आदित्य के प्रकाश से तेजोमय हो जाता है।

(२) जो मन्त्र प्रमाण रूप में दिया गया है उसमें सूर्य का प्राण रूप से उदय होना कहा गया है। इन कथनों में विरोध कुछ नहीं है। पहले वाक्य में प्राण वायु के लिए और दूसरे में प्राण ईश्वरप्रदत्त गति के लिए प्रयुक्त हुआ है ।। ७, ८ ।।

संवत्सरो वै प्रजापतिस्तस्यायने दक्षिणञ्चोत्तरं च । तद्ये ह वै तदिष्टापूर्ते कृतमित्युपासते ते चन्द्रमसमेव लोकमभिजयन्ते। ते एव पुनरावर्त्तन्ते, तस्मादेत ऋषयः प्रजाकामा दक्षिणं प्रतिपद्यन्ते एष ह वै रयिर्यः पितृयाणः ।। ९ ।।

अर्थ–(वै) निश्चय (संवत्सरः) संवत्सर = वर्ष (प्रजापतिः) प्रजापति है (तस्य) उसके (दक्षिणं, च, उत्तरं, च) दक्षिण और उत्तर (अयने) दो अयन = भाग हैं (तद्) सो (ह, वै) निश्चय (ये) जो लोग (इष्ट, आपूर्तम्) सकाम यज्ञ और आपूर्त = स्मार्त कर्म = कुआं, तालाब आदि का बनाना (कृतम्, इति उपासते) इन कर्मों को करते हैं। (ते) वे (चान्द्रमसं एव लोकम्) चन्द्रलोक ही को (अभिजयन्ते) जीत लेते (प्राप्त होते) हैं (ते, एव) वे ही (पुनः) फिर (आवर्त्तन्ते) लौटते हैं (तस्मात्) इसलिए (प्रजाकामाः) प्रजा = सन्तान की इच्छा वाले (एत ऋषयः) ये पुरुष (दक्षिणम्) दक्षिणायन को (प्रतिपद्यन्ते) प्राप्त होते हैं (एष, पितृयाणः) यह पितृयाण और (ह, वै) निश्चय (यः रयिः) यही रयि है ।। ९ ।।

व्याख्या–वर्ष को समष्टि रूप से प्रजापति ठहरा कर उसके दो भाग किये हैं। १. दक्षिण २. उत्तर। सूर्य ६ मास तक जब ध्रुव रेखा के उत्तर हुआ करता है तो उत्तरायण और जब वर्ष के बाकी ६ मासों में दक्षिण की ओर रहा करता है तब उसे दक्षिणायन कहते हैं। अयन नाम भाग का है। इनमें से उत्तरायण दूसरे की अपेक्षा अच्छा समझा जाता है, इसलिए उसे देवयान (मोक्षमार्ग) से सम्बन्धित किया गया है और दक्षिणायन को पितृयाण (स्वर्ग प्राप्ति) के लिए उपयोगी बतलाया गया है।

उपनिषद् के इस तथा अगले वाक्य में पितृयाण और देवयान का जो वर्णन है वह छान्दोग्योपनिषद् में वर्णित पञ्चाग्नि विद्या का सूक्ष्म संकेत मात्र है। मरने के बाद की ३ गतियों में से एक गति वह है जिसमें मनुष्य पाप अथवा पाप पुण्य मिश्रित कर्मों के बदले में मनुष्य और पशु आदि योनियों में जाया करता है। दूसरी गति वह है जिसमें मनुष्य कर्म तो श्रेष्ठ करता है परन्तु उन्हें फल की इच्छा रखते हुए करता है इससे उन्हें मनुष्य योनियों में से, सर्वश्रेष्ठ योनि में, जिसे देवयोनि भी कहते हैं और जिसमें क्लेशों का प्रायः अभाव होता है और इसलिए उसका नाम स्वर्ग भी रखा गया है, जाना होता है। इसी दूसरी गति का वर्णन इस उपनिषद्वाक्य में किया गया है। पितृलोक, चन्द्रलोक अथवा स्वर्गलोक इसी देव (श्रेष्ठ मनुष्य) योनि का नाम है। स्मार्त कर्म (कुआं, तालाब आदि का बनाना) अथवा सकाम यज्ञ के फलरूप ही में यह योनि प्राप्त होती है। पितृलोक कहने का कारण यह है कि मनुष्य इस लोक (योनि) में पिता पुत्रादि के सम्बन्ध अथवा शरीरों के बन्धन से मुक्त नहीं होता। शतपथ ब्राह्मण में लिखा है–**स ह सर्वतनूरेष यजमानो अमुष्मिंल्लोके सम्भवति।** (शतपथ ४/६१/१)

अर्थात् वह यजमान शरीर के साथ ही स्वर्ग में जन्म लेता है।

चन्द्रलोक कहने का तात्पर्य यह है कि इस योनि में मनुष्य सुख ही सुख का उपभोग करता है। चन्द्रमा 'चदि आह्लादे' धातु से बनता है, इसलिए चन्द्रमा का अर्थ ही सुख विशेष है। इस योनि में मनुष्य सांसारिक ऐश्वर्य ही का उपभोग करता है। इसलिए इस (वर्ष के भाग) दक्षिणायन को "रयि" कहा गया है और आवागमन के भीतर रहने का विधान भी, इसीलिए इस लोक [योनि] में उत्पन्न होने वाले मनुष्यों के लिए है ॥ ९ ॥

अथोत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्ययात्मानमन्विष्या-दित्यमभिजयन्ते। एतद्वै प्राणानामायतनमेतदमृतमभयमेतत्। परायणमेत-स्मान्न पुनरावर्त्तन्त इत्येष निरोधस्तदेष श्लोकः ॥ १० ॥

अर्थ–(अथ) और (उत्तरेण) उत्तरायण = देवयान के द्वारा (तपसा) तप से (ब्रह्मचर्येण) इन्द्रियसंयम से (श्रद्धया) श्रद्धा से (विद्यया) ज्ञान से (आत्मानम्) आत्मा को (अन्विष्य) खोजकर (आदित्यम्) सूर्यलोक को (अभिजयन्ते) जीत लेते = प्राप्त होते हैं (एतत् वै) निश्चय वही (प्राणानाम्) प्राणों का (आयतनम्) स्थान है (एतत्) यह (अमृतम्) अविनाशी (अभयम्) भय रहित (एतत्) यह (परायणम्) परमाश्रय है (एतस्मात्) इससे (न पुनरावर्त्तन्ते) फिर नहीं लौटते (इति एषः) इस प्रकार यह (निरोधः) निवृत्ति [मार्ग] है। (तत् एषः श्लोकः) सो यह श्लोक [प्रमाण रूप] है ॥ १० ॥

व्याख्या–तीसरी गति [देवयान] मोक्षमार्गगामी होकर मोक्ष को प्राप्त करता है जिसका वर्णन इस वाक्य में है। मोक्ष प्राप्ति के साधन ब्रह्मचर्य, तप, श्रद्धा और उत्तमज्ञान बतलाते हुए आदित्य लोक के विजय की बात कहने का अभिप्राय यह है कि आदित्य असीम प्रकाश का पुञ्ज है और मुमुक्षु भी असीम ज्ञान का प्रकाश प्राप्त करके ही ब्रह्मलोक अथवा ईश्वर को प्राप्त हुआ करता है। इस लोक से न लौटने का वर्णन अन्य गतियों की अपेक्षा से है, जिनका पहले वर्णन हो चुका है और जिनमें मनुष्य बार-बार लौटा (जन्म लिया) करता है ॥ १० ॥

पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिं दिव आहुः परे अर्द्धे पुरीषिणम्।
अथेमे अन्ये उ परे विचक्षणं सप्तचक्रे षडर आहुरर्पितमिति ॥ ११ ॥

अर्थ–(परे) कोई विद्वान् (संवत्सर = वर्ष की) (पञ्चपादम्) पांच-पांव = पांच ऋतु वाला (पितर) पितर (द्वादश) बाहर (आकृति) आकृति = मास (लिंग) वाला (दिवः) द्युलोक के (अर्द्धे) बीच में (पुरीषिणम्) जलवाला (आहुः) कहते हैं (अथ) और (उ) इससे भिन्न (परे इमे, अन्ये) कोई अन्य विद्वान् (सप्त चक्र) सात चक्र (षडरे) छः अरे (विचक्षणम्) विविध प्रकार से लक्षित (अर्पितम्) जुड़ा हुआ (इति) ऐसा (आहुः) कहते हैं ॥ ११ ॥

व्याख्या–यह मन्त्र अथर्ववेद ९/५/९ का है। इसमें वर्ष को पितर कहा गया है और उसके पैर (ऋतु) वर्णन किये गये हैं। हेमन्त और शिशिर इन दो ऋतुओं को एक मान लेने ही से ६ की जगह वर्ष की पांच ऋतु अनेक जगह वर्णित हैं। ऋतुओं को अन्यत्र वेद में पितर कहा गया है इसलिए इस वेदमन्त्र में वर्ष को भी पितर कहा गया है। द्युलोक के मध्य में बादलों के रूप में जल का होना स्पष्ट है। सप्तचक्र का तात्पर्य सात लोकों से है जो भूः, भुवः, स्वः आदि के नाम से प्रसिद्ध हैं, छः अरे का तात्पर्य ६ ऋतुओं से है, दोनों पक्षों में वर्ष [समय] का व्यापकत्व सिद्ध है ॥ ११ ॥

मासो वै प्रजापतिस्तस्तस्य कृष्णपक्ष एवं रयिः शुक्लः प्राणस्तस्मादेते ऋषयः शुक्ल इष्टिं कुर्वन्तीतर इतरस्मिन् ॥ १२ ॥

अर्थ–(मासः, वै) मास ही (प्रजापतिः) प्रजापति है (तस्य) उसका (कृष्णः पक्षः, एव) कृष्ण पक्ष ही (रयिः) रयि है (शुक्लः) और शुक्ल पक्ष (प्राणः) प्राण है। (तस्मात्) इसलिए (एते ऋषयः) ये विद्वान् (शुक्ले) शुक्ल पक्ष में (इष्टिम्) यज्ञ को (कुर्वन्ति) करते हैं (इतरे) अन्य विद्वान् (इतरस्मिन्) दूसरे (कृष्ण) पक्ष में (करते हैं) ॥ १२ ॥

व्याख्या–जिस तरह वर्ष अपनी अनेक प्रजाओं–ऋतु, मासादि का स्वामी होने से प्रजापति नाम वाला है। इसी प्रकार मास भी अपनी अनेक प्रजाओं–पक्ष, दिन आदि का स्वामी होने से प्रजापति होता है। उसके अन्तर्गत दो पक्ष होते हैं जिनमें शुक्ल को प्राण कृष्ण को रयि कहा जाता है। शुक्ल पक्ष में निष्काम या ज्ञानयज्ञ और कृष्ण पक्ष में सकाम यज्ञादि कर्म किये जाते हैं। परन्तु यह कोई सार्वजनिक नियम नहीं, इनका अपवाद भी होता है ॥ १२ ॥

अहोरात्रो वै प्रजापतिस्तस्याहरेव प्राणो रात्रिरेव रयिः प्राणं वा एते प्रस्कन्दन्ति ये दिवा रत्या संयुज्यन्ते ब्रह्मचर्य्यमेवै-तद्यद्रात्रौ रत्या संयुज्यन्ते ॥ १३ ॥

अर्थ–(अहोरात्रः) दिन रात (वै) ही (प्रजापतिः) प्रजापति है। (तस्य) उसका (अहः, एव) दिन ही (प्राणः) प्राण है। (रात्रिः एव) रात ही (रयिः) रयि है (एते) वे लोग (प्राणम्) प्राण को (प्रस्कन्दन्ति) क्षीण करते हैं (ये) जो (दिवा) दिन में (रत्या) (रति–कारणभूत = स्त्री के साथ संयुज्यन्ते) संयोग करते हैं और (यत्) जो (रात्री) रात में (रत्या) स्त्री के साथ (संयुज्यन्ते) संयोग करते हैं (तत्) वह (ब्रह्मचर्य्यम्, एव) ब्रह्मचर्य ही है ॥ १३ ॥

व्याख्या–इसी प्रकार दिन रात को भी, अपने विभाग फल मुहूर्त्तादि का स्वामी होने से प्रजापति कहा जाता है। दिन में प्रकाश की मात्रा अधिक होने से उसे प्राण और इसके विरुद्ध होने से रात को रयि कहा गया है, सन्तानोत्पत्ति का आरम्भिक कृत्य रात्रि में ही होना चाहिये, इसकी इस वाक्य में उचित रीति से शिक्षा दी गई है। रात्रि में भोग्य शक्ति के प्रबल होने से रज में वीर्य ग्रहण करके उसे गर्भ का रूप देने की अधिक योग्यता होती है। दिन में इसकी कमी से वीर्य व्यर्थ नष्ट होने से पुरुष की शक्ति (प्राण) का क्षीण होना स्पष्ट है ॥ १३ ॥

अन्नं वै प्रजापतिस्ततो ह वै तद्रेतस्तस्मादिमाः प्रजाः प्रजायन्त इति ॥ १४ ॥

अर्थ–(अन्नम् वै) अन्न ही (प्रजापतिः) प्रजापति है (ततः) उससे (ह, वै) निश्चय (तद्, रेतः) वह रेत वीर्य है (तस्मात्) उससे (इमाः प्रजाः) ये प्रजाएँ (प्रजायन्ते इति) उत्पन्न होती हैं ।। १४ ।।

व्याख्या–अन्न से वीर्य की उत्पत्ति होती है। उस वीर्य से मनुष्यादि प्राणियों की उत्पत्ति होती है। इसलिए अन्न को यहाँ प्रजापति कहा गया है। कबन्धी कात्यायन का यह प्रश्न था कि प्रजा क्योंकर और किससे उत्पन्न होती है उसी के उत्तर देने के लिए निम्न उत्तर में कही गई हैं–

सं०, प्राणस्थानी	रयिस्थानी	विशेष
(१) प्राण	रयि	सन्तान पैदा होने के लिए भोक्ता और भोग्य होने चाहियें इसलिए उत्तर का प्रारम्भ यहाँ से किया गया है।
(२) आदित्य	चन्द्रमा	वीर्य के कारण, अन्न की उत्पत्ति के लिए इन दोनों की आवश्यकता स्पष्ट है।
(३) उत्तरायण	दक्षिणायन	इन दोनों की समष्टिवर्ष अर्थात् समय का होना उत्पत्ति के लिए अनिवार्य है।
(४) शुक्लपक्ष	कृष्णपक्ष	वर्ष के बाद मास का होना भी आवश्यक है।
(५) दिन	रात	यहाँ परिमित रूप से दिन को निषिद्ध ठहराते हुए रात्रि की उपयोगिता उत्पत्ति के कार्य के लिए बतलाई गई है।
(६) अन्न	वीर्य	अन्न और वीर्य साक्षात् सन्तानोत्पत्ति के कारण हैं ही, इसलिए इनके वर्ण के साथ ही कबन्धी के प्रश्न का उत्तर ऋषि ने दे दिया ।। १४ ।।

तद्ये ह वै तत्प्रजापतिव्रतं चरन्ति ते मिथुनमुत्पादयन्ते तेषामेवैष ब्रह्मलोको येषां तपो ब्रह्मचर्यं येषु सत्यं प्रतिष्ठितम् ॥ १५ ॥

तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोको न येषु जिह्ममनृतं न माया चेति ॥ १६ ॥

अर्थ–(तत्) सो (वै) निश्चय है (ह) प्रसिद्ध (ये) जो गृहस्थ (प्रजापति, व्रतम्) प्रजापति व्रत को (चरन्ति) पालन करते हैं। (ते) वे (मिथुनम्) पुत्र-पुत्री रूप दोनों प्रकार की सन्तान को (उत्पादयन्ते) उत्पन्न करते हैं और (येषाम्) जिनके (तपः) तप और (ब्रह्मचर्यम्) ब्रह्मचर्य (इन्द्रिय संयम) साधन हैं और (येषु) जिनमें (सत्यम्) सत्य (प्रतिष्ठितम्) प्रतिष्ठित है (तेषाम्, एव) उन्हीं का (एषः) यह (ब्रह्मलोकः) ब्रह्मलोक है ॥ १५ ॥

(तेषाम्) उनका (असौ) यह (विरजः) निर्मल (ब्रह्मलोकः) ब्रह्मलोक है (येषु) जिनमें (जिह्मम्) कुटिलता और (अनृतम्) झूठ (न) नहीं और (माया) छल कपट (च) भी (न इति) नहीं है ॥ १६ ॥

व्याख्या–उत्तर देने के बाद फलश्रुति के ढंग के ये दोनों अन्तिम वाक्य हैं। इनमें गृहस्थों को शिक्षा दी गई है कि यदि वे प्रजापति व्रत [सन्तानोत्पत्ति] का पालन तप, ब्रह्मचर्य और सत्य का पालन करते हुए करेंगे तो वे सन्तान पैदा करने के लिए अपने को इन गुणों से निर्मल करते हुए मोक्ष के भी अधिकारी बन सकेंगे ॥ १५, १६ ॥

इति प्रथमः प्रश्नः

अथ द्वितीयः प्रश्नः

अथ हैनं भार्गवो वैदर्भिः पप्रच्छ। भगवन् ! कत्येव देवाः प्रजां विधारयन्ते । कतर एतत्प्रकाशयन्ते, कः पुनरेषां वरिष्ठ इति ॥ १७ ॥

अर्थ–(अथ) इसके बाद (ह) प्रसिद्ध (एनं) इस [पिप्पलाद] से (भार्गवो वैदर्भिः) भृगु के पुत्र वैदर्भि ने (पप्रच्छ) पूछा कि (भगवन्) हे भगवन् ! (कति, एव देवाः) कितने देव (प्रजाम्) शरीर को (विधारयन्ते) धारण करते हैं और (कतरे, एतत्) कितने इसको (प्रकाशयन्ते) प्रकाशित करते हैं (पुनः) फिर (एषाम्) इनमें (कः) कौन (वरिष्ठः, इति) श्रेष्ठ है ॥ १७ ॥

व्याख्या–इन्द्रिय और प्राण का संवाद उपनिषदों में अनेक स्थानों पर वर्णित है यह प्रश्न भी उसी से सम्बन्धित है। जिन इन्द्रियों के कारण शरीर स्थिर रहता है उनमें कौन श्रेष्ठ है, यही विवरण इस प्रश्न में वैदर्भि ने पूछा है ॥ १७ ॥

तस्मै स होवाचाकाशो ह वा एष देवो वायुरग्निरापः पृथ्वी वाङ्मनश्चक्षुः श्रोत्रञ्च । ते प्रकाश्याभिवदन्ति वयमेतद् बाणमवष्टभ्य विधारयामः ॥ १८ ॥

तान् वरिष्ठः प्राण उवाच मामोह मापद्यथाऽहमेव तत्पञ्चधाऽऽत्मानं प्रविभज्यैतद्बाणमवष्टभ्य विधारयामीति ॥ १९ ॥

अर्थ–(तस्मै) उस (प्रश्नकर्त्ता) के लिए (ह) प्रसिद्ध (सः) वह [पिप्पलाद] (उवाच) बोला (ह, वै) निश्चय (एषः) यह (आकाशः) आकाश (वायुः) वायु (अग्निः) अग्नि (आपः) जल और (पृथ्वी) पृथ्वी [ये ५ महाभूत] और (वाक् मनः) वाणी तथा मन (चक्षुः) आँख (श्रोत्रं, च) और कान (देवाः) देव [इन्द्रियां हैं] (ते) वे (प्रकाश्य) प्रकाशित होकर (अभिवदन्ति), [परस्पर स्पर्द्धा करते हुए] कहते हैं कि (वयम्) हम (एतत्) इस (बाणम्) शरीर को (अवष्टभ्य) स्तम्भवत् होकर (विधारयामः) धारण करते हैं ॥ १८ ॥

(तान्) उनसे (वरिष्ठः) श्रेष्ठ (प्राणः) प्राण (उवाच) बोला (मा) मत (मोहम्) मोह को (आपद्यथ) प्राप्त होओ

(अहम्, एव) मैं ही (पञ्चधा) पांच भेदों से (आत्मानम्) अपने को (प्रविभज्य) विभक्त करके (तत्, एतत्) उस इस (बाणम्) शरीर को (अवष्टभ्य) खम्भा होकर (विधारयामि, इति) धारण करता हूं ॥ १९ ॥

व्याख्या–आकाशादि पञ्चभूतों से यह इन्द्रिय गोलकमय स्थूल शरीर बनता है और चक्षु आदि इन्द्रिय शक्ति अथवा असल इन्द्रियां सूक्ष्म भूतों से बनी होने के कारण सूक्ष्म शरीर का अंग हैं ये सब इन्द्रियां प्रकार की दृष्टि से एक पक्ष में हैं और प्राण दूसरे पक्ष में। इन्द्रियां समझती हैं कि जीवन का कारण वे हैं परन्तु प्राण इसका प्रतिवादी है, वह कहता है कि प्राण, अपान आदि पञ्च भेदों से वही समस्त शरीर में व्याप्त होकर शरीर की स्थिति का कारण है ॥ १८, १९ ॥

तेऽश्रद्दधाना बभूवुः सोऽभिमानादूर्ध्वमुत्क्रमत इव तस्मिन्नुत्क्रामत्यथेतरे सर्व एवोत्क्रामन्ते तस्मिंश्च प्रतिष्ठमाने सर्व एव प्रतिष्ठन्ते तद्यथा मक्षिका मधुकरराजानमुत्क्रामन्तं सर्वा एवोत्क्रामन्ते तस्मिंश्च प्रतिष्ठमाने सर्वा एव प्रतिष्ठन्ते एवं वाङ्मनश्चक्षुःश्रोत्रञ्च ते प्रीताः प्राणं स्तुन्वन्ति ॥ २० ॥

अर्थ–(ते) वे [इन्द्रियां] (अश्रद्दधानाः) [प्राण की बात पर] श्रद्धा न रखने वाली (बभूवुः) हुईं [तब] (सः) वह (प्राणः) प्राण (अभिमानात्) घमण्ड से (ऊर्ध्वम्) ऊपर (उत्क्रमते, इव) निकलने सा लगा (तस्मिन्, उत्क्रामति) उसके निकलने पर (इतरे सर्वे एव) अन्य सब ही (उत्क्रामन्ते) निकलने लगते हैं (च) और (तस्मिन्) उसके (प्रतिष्ठमाने) प्रतिष्ठित होने पर (सर्वे, एव) सब ही (प्रतिष्ठन्ते) प्रतिष्ठित होने [ठहरने] लगते हैं (तत्, यथा) सो जैसे (मधुकरराजानम्) शहद की मक्खियों के राजा के (उत्क्रामन्तम्) निकलने पर (सर्वाः एव) सब ही (मक्षिकाः) मक्खियां (उत्क्रामन्ते) निकल जाती हैं (च) और (तस्मिन्) उसके (प्रतिष्ठमाने) ठहरने पर (सर्वाः एव) सभी (प्रतिष्ठन्ते) ठहर जाती हैं (एवं) इसी प्रकार (वाङ्, मनः, चक्षुः, श्रोत्रम्,

च) वाणी, मन, आँख और कान [प्राण के निकलने पर निकल जाती हैं] (अथ) इसलिए (ते) वे [सब इन्द्रियां] (प्रीताः) प्रीति-सम्पन्न होकर (प्राणम्) प्राण की (स्तुन्वन्ति) स्तुति करती हैं ॥ २० ॥

व्याख्या–जब इन्द्रियों को प्राण के कथन पर श्रद्धा न हुई तब प्राण ने इन्द्रियों को श्रद्धावान् बनाने के उद्देश्य से शरीर से निकलना-सा चाहा। चूंकि प्राण के शरीर में रहने से ही अन्य सब इन्द्रियां आदि शरीर में रहती हैं और निकल जाने से निकल जाती हैं, जैसे शहद की मक्खियों के राजा के आने पर सब आतीं और निकलने पर निकल जाती हैं, इसी प्रकार जब वाणी आदि इन्द्रियों को अपनी निर्बलता और प्राण की महत्ता का ज्ञान हो गया तब उनमें, प्राण के प्रति प्रेम उत्पन्न हुआ। वे उसकी प्रशंसा करने लगीं ॥ २० ॥

एषोऽग्निस्तपत्येष सूर्य एष पर्जन्यो भगवानेष वायुरेष पृथिवी रयिर्देवः सदसच्चाऽमृतञ्च यत् ॥ २१ ॥

अर्थ–(एषः) यह [प्राण] (अग्निः) अग्नि रूप से (तपति) प्रकाशित होता है (एषः) यह [शरीर रूप ब्रह्माण्ड का] (सूर्यः) सूर्य है (एषः) (भगवान्) ऐश्वर्यमय (पर्जन्यः) मेघ है (एषः) यह (वायुः) वायु है (एषा) यह (पृथिवी) [पृथिवी रूप] शरीर का आश्रय स्थान और (रयिः) पोषण करने वाला (देवः) देव है और (सत्) कारण (असत्) कार्य (च) और (अमृतम्) अविनाशी है ॥ २१ ॥

व्याख्या–उपनिषद्वाक्य में जहाँ प्राण की अग्नि, सूर्य, पर्जन्य भगवान्, वायु, पृथिवी और रयि रूप में इन्द्रियों से स्तुति कराई गई है वहाँ उसे सत् [कारण] असत् [कार्य] और अमृत भी कहा है। प्राण के शरीर में आते ही शरीर में जीवन के चिह्न प्रकट होने लगते हैं इसलिए उसे कारण कहा गया है और वह चूंकि सूक्ष्म भूतों की रचना है इसलिए इस दृष्टि से वह कार्य भी है। मनुष्य की मृत्यु होने से, स्थूल शरीर जो चक्षु आदि इन्द्रियों का गोलक है, नष्ट हो जाता है परन्तु प्राण सूक्ष्म शरीर

का एक अंग होने से, एक स्थूल शरीर से निकल दूसरे में चला
जाता है। स्थूल शरीर के साथ नष्ट नहीं होता इसलिए उसे
अपेक्षाकृत अमृत = अविनाशी भी कहा गया है ॥ २१ ॥

अरा इव रथनाभौ प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्। ऋचो यजूंषि
सामानि यज्ञः क्षत्रं ब्रह्म च ॥ २२ ॥

अर्थ–(रथनाभौ) रथ के पहियों में (अरा इव) अरों की
तरह (प्राणे) प्राण में (सर्वम्) सब (ऋचः) ऋक् (यजूंषि)
यजुः और (सामानि) साम [तीनों प्रकार की ऋचायें, जो चारों
वेदों में हैं] (यज्ञ) यज्ञ, (क्षत्रम्) बल (च) और (ब्रह्म) ज्ञान
(प्रतिष्ठितम्) प्रतिष्ठित हैं ॥ २२ ॥

व्याख्या–जिस प्रकार रथ के पहियों में सब ओर अरे जुड़े
हुए होते हैं। इसी प्रकार प्राण में ऋचा, यजुः और साम अर्थात्
तीन प्रकार के मन्त्र वाले चारों वेद, वेदविहित यज्ञ, बल और
ज्ञान सभी प्राण ही से जुड़े हुए होते हैं। स्पष्ट है कि मनुष्य का
ज्ञान, बल और शुभाशुभ कर्म आदि सभी शरीर में प्राण के
रहते हुए ही रह सकते हैं, न रहने पर कुछ नहीं रहता ॥ २२ ॥

प्रजापतिश्चरसि गर्भे त्वमेव प्रतिजायसे तुभ्यं प्राण !
प्रजास्त्विमा बलिं हरन्ति यः प्राणैः प्रतितिष्ठसि ॥ २३ ॥

अर्थ–(प्राण) हे प्राण ! (यः) जो तू (प्राणैः) प्राणादि
[५ भेदों] के साथ (प्रतितिष्ठसि) शरीर में रहता है (प्रजापतिः)
प्राणियों का अध्यक्ष होकर (गर्भे) गर्भ में (चरसि) विचरता है
(त्वम्, एव) तू ही (प्रजायसे) फिर उत्पन्न होता है उस
(तुभ्यम्) तेरे लिए (इमाः, प्रजाः) ये सब प्रजाएं = इन्द्रियां
(बलिम्) बलि = भाग (हरन्ति) देती हैं ॥ २३ ॥

व्याख्या–शरीरान्तर्गत गर्भ में गर्भ की स्थापना का कारण
प्राण है, यदि रज और वीर्य के साथ प्राण न मिले तो गर्भ की
स्थापना नहीं हो सकती। प्राण के ही कारण गर्भ की वृद्धि होती
है और प्राण ही के आश्रय से बालक की उत्पत्ति होती है, इन्द्रियों
को जो पुष्टि भोजन करने से प्राप्त होती है वे सभी उसी पुष्टि का
वह भाग, जितना प्राण के लिए जरूरी है, प्राण को देती हैं। इसी
को वाक्य में बलि [कर] देना कहा गया है ॥ २३ ॥

देवानामसि वह्नितमः पितॄणां प्रथमा स्वधा। ऋषीणां चरितं सत्यमथर्वाङ्गिरसामसि ॥ २४ ॥

अर्थ–तू (देवानाम्) [सूर्यादि] देवों का [वह्नितमः] अग्नि [रूप से हव्यवाहक] (असि) है। (पितॄणाम्) पितरों का तू (प्रथमा) मुख्य (स्वधा) कव्य है (ऋषीणाम्) ऋषियों = इन्द्रियों का (सत्यम्) सत्य (चरितम्) चरित्र है (अङ्गिरसाम्) शरीर के अंगों का (अथर्वा) न सुखाने वाला (असि) है ॥ २४ ॥

व्याख्या–देवों का वह भाग जो यज्ञ द्वारा उन्हें पहुंचता है हव्य, पितरों का भाग जो पितृयज्ञ द्वारा उन्हें मिलता है कव्य कहलाता है।

सूर्यादि देवों का भाग अग्नि वायु द्वारा ही उन्हें पहुंचता है इसलिए प्राण को अग्नि = हव्यवाहक कहा गया है। पितरों के कव्य ग्रहण करने का कारण तो स्पष्ट रीति से प्राण होता ही है, समस्त इन्द्रियों की पुष्टि और उनके व्यापार प्राण ही के द्वारा हुआ करते हैं। इसीलिए उसे शरीर के भिन्न-भिन्न अवयवों की पुष्टि देने और न सुखाने वाला कहा गया है ॥ २४ ॥

इन्द्रस्त्वं प्राण ! तेजसा रुद्रोऽसि परिरक्षिता। त्वमन्तरिक्षे चरसि सूर्यस्त्वं ज्योतिषां पतिः ॥ २५ ॥

अर्थ–(प्राण) हे प्राण ! (त्वम्) तू (तेजसा) तेज से (रुद्रः) तेजस्वी है (परिरक्षिता) रक्षा करने वाला (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् (असि) है। (त्वम्) तू (अन्तरिक्षे) आकाश में (चरसि) विचरता है (त्वमू) तू (ज्योतिषाम्) नक्षत्रों का (पतिः) स्वामी (सूर्यः) सूर्य है ॥ २५ ॥

व्याख्या–फिर प्राण को तेजस्वी, रक्षक, इन्द्र और सूर्य कहा गया है। उसकी तेजस्विता, रक्षकता और इन्द्रत्व तो प्रकट ही हैं। परन्तु उसे सूर्य क्यों कहा गया है? जिस प्रकार प्राणी शरीर के अन्तर्गत प्राण रूप से वर्तमान है उसी प्रकार बाह्य संसार में वायु रूप से उपस्थित है। शरीर के अन्दर जिस प्रकार वह इन्द्रियों का स्वामी समझा जाता है क्योंकि बिना उसके वे जीवित नहीं रह सकतीं, न अपना व्यवहार करने में समर्थ हो

सकती हैं। उसी प्रकार बाह्य जगत् में बिना वायु के नक्षत्रों का काम भी नहीं चल सकता, उनमें जो प्राणी हैं वे भी बिना वायु के जिन्दा नहीं रह सकते, न वनस्पति ही बाकी रह सकती हैं और न उनके परिभ्रमण का काम पूरा हो सकता है इस दृष्टि से प्राण को उन नक्षत्रों का स्वामी सूर्य कहा गया है ।। २५ ।।

यदा त्वमभिवर्षस्यथेमाः प्राण ! ते प्रजाः ! आनन्दरूपास्तिष्ठन्ति कामायान्नं भविष्यतीति ।। २६ ।।

अर्थ–(प्राण) हे प्राण! (यदा) जब (त्वम्) तू (अभिवर्षसि) मेघ रूप में बरसता है (अथ) तब (ते) तेरी (इमाः, प्रजाः) ये प्रजाएँ (कामाय) यथेष्ठ (अन्नम्) अन्न (भविष्यति) होगा [इस आशा से] (आनन्दरूपाः) आनन्द रूप होकर (तिष्ठन्ति, इति) ठहरती हैं ।। २६ ।।

व्याख्या–यहाँ प्राण की मेघ से उपमा दी गई है। वर्षा के प्रारम्भिक कार्य भाप बनने से लेकर अन्तिम कार्य बरसने तक प्रत्येक कार्य में वायु की सहायता अपेक्षित होती है। इसी विचार से प्राण को इस वाक्य में वर्षा का कारण कहा गया है ।। २६ ।।

व्रात्यस्त्वं प्राणैक ऋषिरत्ता विश्वस्य सत्पतिः ।
वयमाद्यस्य दातारः पिता त्वं मातरिश्वनः ।। २७ ।।

अर्थ–(प्राण) हे प्राण ! (त्वम्) तू (व्रात्यः) संस्कार की अपेक्षारहित = स्वभाव ही से शुद्ध है (एकः ऋषिः) एक ऋषि=अग्नि रूप से (अत्ता) [सबका] भक्षण करने वाला है (विश्वस्य सत्पतिः) विश्व का पति है (वयम्) हम सब (आद्यस्य) तेरे खाने योग्य [अन्नादि के] (दातारः) देने वाले हैं (मातरिश्वा) हे वायु रूप प्राण ! (त्वम्) तू (नः) हमारा [पिता] रक्षक है ।। २७ ।।

व्याख्या–स्मृति ग्रन्थों में उसकी संज्ञा व्रात्य होती है जो संस्कार की अवधि के भीतर यज्ञोपवीत संस्कार नहीं करता। उसके बाद उसे उस संस्कार के करने का अधिकार बाकी नहीं रहता ! यहां प्राण को व्रात्य इससे भिन्न अभिप्राय के प्रकट करने के लिए प्रशंसा रूप में कहा गया है, अर्थात् वह

स्वभावतः संस्कृत है, उसके लिए किसी संस्कार की जरूरत ही नहीं है। सबका ग्रहणकर्त्ता होने से वह अत्ता है। विश्व से अभिप्राय शरीर के अन्दर का विश्व अर्थात् सब कुछ। उसी को यहां प्राण का पति कहा गया है ।। २७ ।।

या ते तनूर्वाचि प्रतिष्ठिता या श्रोत्रे या च चक्षुषि।
या च मनसि सन्तता शिवां तां कुरु मोत्क्रमः ॥ २८ ॥

अर्थ–(या) जो (ते) तेरी (तनूः) फैली हुई [शक्ति] (वाचि) वाणी में (या) जो (श्रोत्रे) कान में (च) और (या) जो (चक्षुषि) आँख में (प्रतिष्ठिता) प्रतिष्ठित है (च) और (या) जो (मनसि) मन में (सन्तता) फैली हुई है (ताम्) उसको (शिवम्) मंगलकारिणी (कुरु) कर (मा) मत (उत्क्रमः) निकल ।। २८ ।।

व्याख्या–प्राण की शक्ति समस्त इन्द्रियों के अन्दर है उसी के लिए इन्द्रियां प्राण से प्रार्थना करती हैं कि उन्हें, शरीर में रखते हुए मंगलकारिणी कर ।। २८ ।।

प्राणस्येदं वशे सर्वं त्रिदिवे यत्प्रतिष्ठितम्।
मातेव पुत्रान् रक्षस्व श्रीश्च प्रज्ञां च विधेहि न इति ॥ २९ ॥

अर्थ–(त्रिदिवे) तीनों लोकों में (यत, प्रतिष्ठितम्) जो कुछ वर्तमान है (इदम्, सर्वम्) यह सब (प्राणस्य) प्राण के (वशे) वश में है (माता, इव) माता के समान (पुत्रान्) पुत्रों की (रक्षस्व) रक्षा कर (च) और (श्रीः) ऐश्वर्य (प्रज्ञां, च) और बुद्धि (नः) हमें (विधेहि, इति)।। २९ ।।

व्याख्या–प्राण को शरीर के भीतर और शरीर से बाहर के समस्त वायु के व्यापक अर्थ में लेकर, उन सबका उसे रक्षक कहा गया है और उसी से रक्षा की प्रार्थना करते हुए ऐश्वर्य और बुद्धि की याचना की है।

प्राण बुद्धि किस प्रकार दे सकता है? इसका उत्तर स्पष्ट है कि मनुष्य प्राण की स्वार्थरहित सत्ता पर विचार और अनुकरण करने से ही अच्छी बुद्धि का मालिक बना करता है ।। २९ ।।

इति द्वितीयः प्रश्नः ॥ २ ॥

अथ तृतीयः प्रश्नः

अथ हैनं कौशल्यश्चाऽश्वलायनः पप्रच्छ। भगवन्! कुत एष प्राणो जायते कथमायात्यस्मिन् शरीरे आत्मानं वा प्रविभज्य कथं प्रतिष्ठते केनोत्क्रमते कथं बाह्यमभिधत्ते कथमध्यात्ममिति ॥ ३० ॥

अर्थ–(अथ) इसके बाद (ह) प्रसिद्ध (एनम्) इस [ऋषि से] (आश्वलायनः कौशल्यः) अश्वल के पुत्र कौशल्य ने (पप्रच्छ) पूछा कि (भगवन्) हे भगवन्! (एषः, प्राणः) यह प्राण (कुतः) कहां से (जायते) उत्पन्न होता है! (कथम्) कैसे (अस्मिन् शरीरे) इस शरीर में (आयाति) आता है। [आत्मानं वा] और अपने को (प्रविभज्य) विभक्त कर (कथम्) किस प्रकार (प्रतिष्ठते) ठहरता है? (केन) किस प्रकार (उत्क्रमते) निकलता है? और (कथम्) कैसे (बाह्यम्) बाह्य जगत् को (अभिधत्ते) धारण करता है? और (कथम्) क्यों कर (अध्यात्मम्) अध्यात्म जगत् को? ॥ ३० ॥

व्याख्या–प्राण के सम्बन्ध में कौशल्य ने ये ६ प्रश्न किये हैं–

१. प्राण कहां से उत्पन्न होता है?
२. इस शरीर में कैसे आता है?
३. किस प्रकार अपने को विभक्त कर शरीर में ठहरता है?
४. कैसे शरीर से निकलता है?
५. किस प्रकार बाह्य जगत् को धारण करता है?
६. किस प्रकार अध्यात्म जगत् को धारण करता है?

तस्मै स होवाचातिप्रश्नान्पृच्छसि ब्रह्मिष्ठोऽसीति तस्मात्तेऽहं ब्रवीमि ॥ ३१ ॥

आत्मन एष प्राणो जायते। यथैषा पुरुषे छायैतस्मिन्नेतदाततं मनोधिकृतेनाऽयात्यस्मिन् शरीरे ॥ ३२ ॥

अर्थ–(तस्मै) उस प्रश्नकर्त्ता के लिए (सः) वह [ऋषि] (ह) स्पष्ट रीति से (उवाच) बोला कि (अतिप्रश्नान्) तू बहुत गम्भीर प्रश्नों को (पृच्छसि) पूछता है (ब्रह्मिष्ठः) ब्रह्म में निष्ठा वाला (असि, इति) है (तस्मात्) इसलिए (ते तेरे लिए (अहम्) मैं (ब्रवीमि) कहता हूँ ।। ३१ ।।

(आत्मनः) आत्मा से (एषः, प्राणः) वह प्राण (जायते) उत्पन्न होता है (यथा) जैसे (पुरुषे) शरीर में (एषा, छाया) यह छाया [उसी प्रकार] (एतस्मिन्) इस शरीर में (एतत्) यह [प्राण] (आततम्) फैला हुआ है (मनोधिकृतेन) मन में [कर्म से उत्पन्न हुई वासना से] (अस्मिन् शरीरे) इस शरीर में (आयाति) आता है ।। ३२ ।।

व्याख्या–प्राण सूक्ष्म शरीर का एक अंग है। सूक्ष्म शरीर के साथ आत्मा स्थूल शरीर में प्रविष्ट हुआ करता है। इसीलिए इस स्थूल शरीर में प्राण की उत्पत्ति का निमित्त आत्मा को बतलाया गया है। प्राण शरीर के देश विशेष में नहीं रहता किन्तु सारे शरीर में, छायावत् फैला हुआ रहता है।

"मनोधिकृत" नाम वासना का है–कर्म से वासना की उत्पत्ति होती है। यह वासना ही जन्म का कारण हुआ करती है। यह वासना उत्पन्न उन्हीं कर्मों से होती है जो फल की इच्छा से [सकाम] किये जाते हैं। इसी वासना से जीव, सूक्ष्म शरीर के साथ स्थूल शरीर को जन्म के द्वारा प्राप्त किया करता है। पिप्पलाद ने इसीलिए दूसरे प्रश्न का दूसरा उत्तर यह दिया है कि वासना से प्राण, इस स्थूल शरीर में आया करता है ।। ३१, ३२ ।।

यथा सम्राडेवाधिकृतान् विनियुङ्क्ते । एतान् ग्रामानेतान ग्रामानधितिष्ठस्वेत्येवमेवैष प्राण इतरान्प्राणान् पृथक् पृथगेव सन्निधत्ते ।। ३३ ।।

को

अर्थ–(यथा) जैसे (सम्राट्, एव) राजा ही (अधिक् शुद्ध अधिकारियों को (विनियुङ्क्ते) नियुक्त करता है विशुद्ध रक्त ग्रामान्, एतान्, ग्रामान्) इन ग्रामों को (अधितिष्ठग्गणना करना में ले (एवम्, एव) इस ही प्रकार (एषः क प्राण परिभ्रमण

(इतरान्) अन्य (प्राणान्) प्राणों को (पृथक्-पृथक् एव) पृथक्-पृथक् ही (सन्निधत्ते) नियुक्त करता है ॥ ३३ ॥

व्याख्या–तीसरे प्रश्न का उत्तर इस वाक्य में दिया गया है अर्थात् जिस प्रकार राजा अपने अधिकारियों को काम बांटकर उन्हें पृथक्-पृथक् स्थानों पर नियुक्त कर देता है इसी प्रकार मुख्य प्राण अन्य प्राणों में से प्रत्येक को पृथक्-पृथक् काम बतलाकर उन्हें भिन्न-भिन्न स्थानों पर नियुक्त करता है ॥ ३३ ॥

पायूपस्थेऽपानं चक्षुःश्रोत्रे मुखनासिकाभ्यां प्राणः स्वयं प्रतिष्ठते मध्ये तु समानः । ह्येतद्धुतमन्नं समं नयति तस्मादेताः सप्तार्चिषो भवन्ति ॥ ३४ ॥

अर्थ–(पायूपस्थे) मल और मूत्रेन्द्रिय में (अपानम्) अपान (मुखनासिकाभ्याम्) मुख, नासिका (चक्षुः, श्रोत्रे) और आँख, कान में (प्राणः) प्राण (स्वयं) स्वयं (प्रतिष्ठते) ठहरता है (तु) और (मध्ये) शरीर के मध्य में (समानः) समान [रहता है] (हि) निश्चय (एषः) यह (समानः) (एतत्) इस (हुतम्) खाये हुए (अन्नम्) अन्न को समम्) परिपाक को (नयति) पहुँचाता है (तस्मात्) उससे (एताः) ये (सप्तार्चिषः) सात ज्वालायें [दो आँख, दो कान, दो नाक और एक मुख की] भवन्ति) होती हैं ॥ ३४ ॥

हृदि ह्येष आत्मा। अत्रैतदेकशतं नाडीनां तासां शतं शतमेकैकस्यां द्वासप्ततिर्द्वासप्ततिः प्रतिशाखानाडीसहस्राणि भवन्त्यासु व्यानश्चरति ॥ ३५ ॥

अर्थ–(हृदि) हृदय में (हि) निश्चय (एषः) यह (आत्मा) आत्मा रहता है। (अत्र) इसी (हृदय) में (एतत्) यह (एकशतम्) एक सौ एक (नाडीनाम्) नाड़ियाँ हैं (तासाम्) उनमें से (एकैकस्याम्) एक-एक में (शतम् शतम्) सौ-सौ (भेद हैं) फिर उनमें (प्रति, शाखा, नाड़ी) प्रत्येक शाखा रूप नाड़ी के (द्वासप्ततिः, द्वासप्ततिः, सहस्राणि) बहत्तर-बहत्तर हजार [भेद] (भवन्ति) होते हैं (आसु) इनमें (व्यानः) व्यान (चरति) विचरता है ॥ ३५ ॥

अथैकयोर्ध्वम् उदानः पुण्येन पुण्यं लोकं नयति पापेन पापमुभाभ्यामेव मनुष्यलोकम् ॥ ३६ ॥

अर्थ–(अथ) और (एकया) (उन १०० नाड़ियों में से) एक (ऊर्ध्वः) ऊपर जाने वाला (उदानः) उदान है। (पुण्येन) पुण्य कर्म से (पुण्यं लोकम्) पुण्य = स्वर्ग लोक (पापेन) और पाप से (पापम्) पाप = नरक लोक और (उभाभ्याम् एव) [पाप-पुण्य] दोनों ही से (मनुष्यलोकम्) मनुष्य लोक को (नयति) ले जाता है ॥ ३६ ॥

व्याख्या–कौन-कौन प्राण कहां-कहां नियुक्त होता है उसका विवरण इन वाक्यों में दिया गया है–

(१) अपान नामक प्राण मल और मूत्रेन्द्रिय विभाग में रहकर अपना काम करता है।

(२) मुख, नासिका, आँख और कान के क्षेत्र में प्राण स्वयं रहकर उनके कार्यों का साधन बनता है।

(३) शरीर के मध्य नाभि क्षेत्रादि में समान नामक प्राण रहता है और इसका काम यह कि खाये हुए अन्न को मेदे में पचावे। यहाँ से सात ज्वालाएँ आँख, कान आदि शरीरावयवों में जाने वाली निकलती हैं इन्हीं को जठराग्नि भी कहते हैं, इससे भोजन भलीभांति पच जाता है और शरीर की पुष्टि का कारण बनता है। जठर नाम ज्वाला है ॥ ३४ ॥

(४) हृदयस्थ आकाश आत्मा का निवास स्थान है। इसी हृदय से १०१ नाड़ियां निकल कर तमाम शरीर में फैली हुई हैं। फिर उनमें प्रत्येक के सौ-सौ भेद हुए और फिर उनमें से प्रत्येक के बहत्तर-बहत्तर हजार भेद हुए–

१०१ × १०० = १०१००

१०१०० × ७२००० = ७२७२०००००

यह बात नहीं है कि ठीक-ठीक यही संख्या नाड़ियों की है किन्तु तात्पर्य केवल यह दिखलाना है कि हृदय से शुद्ध रक्त ले जाने वाली और हृदय में तमाम शरीर से अशुद्ध रक्त लाने वाली नाड़ियां बहुसंख्या में हैं, जिनकी गणना करना कठिन है। इन समस्त नाड़ियों में व्यान नामक प्राण परिभ्रमण

करता है और उसका काम यह है कि रक्त को शुद्ध भी रखे तथा समस्त शरीर में उसे पहुँचावे भी ॥ ३५ ॥

(५) उन एक सौ एक नाड़ियों में से एक के द्वारा ऊपर जाने वाले प्राण का नाम उदान है। जो मृत्यु के समय शरीर से निकलने वाले सूक्ष्म शरीर सहित जीव को कर्मानुसार, भिन्न-भिन्न स्थानों को पहुंचाया करता है। इसके द्वारा चौथे प्रश्न का भी उत्तर दे दिया गया ॥ ३६ ॥

आदित्यो ह वै बाह्यः प्राण उदयत्येष ह्येनं चाक्षुषं प्राणमनुगृह्णानः। पृथिव्यां या देवता सैषा पुरुषस्यापानमवष्टभ्यान्तरा यदाकाशः स समानो वायुर्व्यानः ॥ ३७ ॥

अर्थ–(ह) प्रसिद्ध (आदित्यः, वै) सूर्य ही (बाह्यः) बाहरी (प्राणरूप से) (उदयति) प्रकाशित होता है (हि) निश्चय (एषः) यह (सूर्य) (एनम्) इस (चाक्षुषम्, प्राणम्) आँख में रहने वाले प्राण को (अनुगृह्णानः) अनुगृहीत करता हुआ स्थित है (पृथिव्याम्) पृथ्वी में (यः) जो (देवता) आकर्षण शक्ति है (सा, एषा) वह यह (शक्ति) (पुरुषस्य) पुरुष के (अपानम्) अपान को (अवष्टभ्य) खींच कर (धारण किये हुए है) (अन्तरा) बीच में (यद्) जो (आकाशः) आकाश के अन्तर्गत वायु है (सः) वह (समानः) समान है (वायुः) वायु [जो बाहर है] (सः) वह (व्यानः) व्यान है ॥ ३७ ॥

तेजो ह वा उदानस्तस्मादुपशान्ततेजाः पुनर्भवमिन्द्रियैर्मनसि सम्पद्यमानैः ॥ ३८ ॥

अर्थ–(ह) प्रसिद्ध (तेजः वै) तेज ही (उदानः) उदान है (तस्मात्) इसलिए (उपशान्ततेजाः) चेतनाहीन प्राणी (मनसि) मन में (सम्पद्यमानैः) लीन हुए (इन्द्रियैः) इन्द्रियों के साथ (पुनर्भवम्) पुनर्जन्म को प्राप्त होता है ॥ ३८ ॥

व्याख्या–अब पांचवें प्रश्न का उत्तर दिया जाता है अर्थात् किस प्रकार प्राण बाह्य जगत् को धारण करता है–

(१) सूर्य को बाह्य प्राण बतलाते हुए कहा गया है कि वह उदय होकर शरीर में चक्षुओं के भीतर रहने वाले प्राण पर अनुग्रह रखा करता है।

(२) पृथ्वी में जो आकर्षण है वह मनुष्य शरीर में रहने वाले अपान को खींचकर धारण किये हुए हैं।

(३) सूर्य और पृथ्वी के बीच का जो आकाश है वह समान और।

(४) वायु व्यान नामक प्राण है ।। ३७ ।।

(५) तेज ही उदान है। इसीलिए कहा जाता है कि जिनका तेज शान्त हो चुका है ऐसे प्राणी मन में लीन हुए इन्द्रियों के साथ पुनर्जन्म को प्राप्त होते हैं ।। ३८ ।।

यच्चित्तस्तेनैषः प्राणमायाति प्राणस्तेजसा युक्तः सहात्मना यथा सङ्कल्पितं लोकं नयति ।। ३९ ।।

अर्थ–(यत्, चित्तः) जो चित्त में वासना है (तेन) उसी से (एषः) यह जीव (प्राणम्) प्राण को (आयाति) प्राप्त होता है। (प्राणः) प्राण (तेजसा) तेज से (युक्त) मिलकर (आत्मना, सह) आत्मा के साथ (तम्) उस को (यथा सङ्कल्पितं) जैसा या जो संकल्प किये हुए (लोकम्) लोक हैं उनको (नयति) पहुँचाता है ।। ३९ ।।

व्याख्या–अब छठे प्रश्न का उत्तर दिया जाता है। उपनिषद् का यह उत्तर "अन्तमति सो गति" की कहावत को सच्चा सिद्ध करता है। मनुष्य मर कर कहां जाता है? उत्तर दिया गया है कि जैसी उसके चित्त में वासना होती है उसी के अनुकूल उसकी गति होती है। अर्थात् चित्त में स्थित वासना के अनुसार यह जीव प्राण को प्राप्त होता है और प्राण उसे संकल्पित (इच्छित) लोक प्राप्त करता है ।। ३९ ।।

य एवं विद्वान प्राणं वेद । न हास्य प्रजा हीयतेऽमृतो भवति तदेषः श्लोकः ।। ४० ।।

अर्थ–(यः) जो (विद्वान्) विद्वान् (एवम्) इस प्रकार (प्राणम्) प्राण को (वेद) जानता है (ह) निश्चय (अस्य)

इसकी (प्रजा) सन्तान (वंश) का (न, हीयते) नाश नहीं होता [अर्थात्] (अमृतः) अमर (भवति) होता है (तद्) इसकी [पुष्टि में] (एषः) यह (श्लोकः) श्लोक है ॥ ४० ॥

व्याख्या–इस प्राणविद्या के जानने का फल यह कहा गया है कि सन्तान नष्ट नहीं होती है और वह प्राणवित् अमरता प्राप्त करता है। जो मनुष्य के प्राण के व्यापार को जानकर उसके अनुकूल काम करता है उसकी सन्तान क्योंकर नष्ट हो सकती है। सन्तान तो प्राकृतिक नियमों के तोड़ने ही से नष्ट हुआ करती है। प्राणवित् स्वार्थ रहित हो जाने और नियमबद्ध जीवन रखने से जीवनमुक्त होकर अमरता प्राप्त कर लिया करता है ॥ ४० ॥

उत्पत्तिमायतिं स्थानं विभुत्वं चैव पञ्चधा । अध्यात्मं चैव प्राणस्य विज्ञायाऽमृतमश्नुते विज्ञायाऽमृतमश्नुत इति ॥ ४१ ॥

अर्थ–(प्राणस्य) प्राण की (उत्पत्तिम्) उत्पत्ति (आयतिम्) शरीर में आने, (पञ्चधा) पाँच प्रकार से अपने को विभक्त करने, (स्थानम्) स्थिति स्थान, (विभुत्वम्) व्यापकत्व (च) और (अध्यात्मम्) शरीरान्तर्गत स्थिति को, (विज्ञाय) जानकर (अमृतम्) अमरता को (अश्नुते) प्राप्त होता है ॥ ४१ ॥

व्याख्या–इस वाक्य से, पहले कही गई फलश्रुति की पुष्टि की गई है ॥ ४१ ॥

इति तृतीयः प्रश्नः ॥ ३ ॥

अथ चतुर्थः प्रश्नः

अथ हैनं सौर्यायणी गार्ग्यः पप्रच्छ । भगवन्नेतस्मिन् पुरुषे कानि स्वपन्ति कान्यस्मिन् जाग्रति कतर एष देवः स्वप्नान् पश्यति कस्यैतत् सुखं भवति कस्मिन्नु सर्वे सम्प्रतिष्ठिता भवन्तीति ॥ ४२ ॥

अर्थ–(अथ) इसके बाद (ह) निश्चय (एनम्) इस ऋषि से (सौर्यायणी गार्ग्यः) सौर्य के पुत्र गार्ग्य ने (पप्रच्छ) पूछा कि (भगवन्) हे भगवन् ! (एतस्मिन्) इस (पुरुषे) पुरुष में (कानि) कौन (स्वपन्ति) सोते हैं (कानि) कौन (अस्मिन्) इसमें (जाग्रति) जागते हैं (कतरः एषः) कौन वह (देवः) देव (स्वप्नान्) स्वप्नों को (पश्यति) देखता है (कस्य) किसको (एतत् सुखम्) यह सुख (भवति) होता है। (तु) और (कस्मिन्) किसमें (सर्वे) सब (सम्प्रतिष्ठिताः) स्थित (भवति, इति) होते हैं ॥ ४२ ॥

व्याख्या–इस प्रश्न में स्वप्नावस्था के सम्बन्ध में ये प्रश्न किये गये हैं–

१. इस स्वप्नावस्था में कौन सोते हैं ?
२. कौन जागता रहता है ?
३. कौन स्वप्नों को देखता है ?
४. किसको इस अवस्था में सुख होता है ?
५. किसमें सब स्थित होते हैं ? ॥ ४२ ॥

तस्मै स होवाच। यथा गार्ग्य ! मारीचयोऽर्कस्यास्तं गच्छतः सर्वा एतस्मिंस्तेजोमण्डल एकीभवन्ति । ताः पुनः पुनरुदयतः प्रचरन्त्येवं ह वै तत्सर्वं परे देवे मनस्येकीभवति तेन तर्ह्येष पुरुषो न शृणोति न पश्यति न जिघ्रति न रसयते न स्पृशते नाभिवदते नाऽऽदत्ते नानन्दयते न विसृजते नेयायते स्वपितीत्याचक्षते ॥ ४३ ॥

अर्थ–(तस्मै) उस प्रश्नकर्त्ता के लिए (ह) प्रसिद्ध (सः) वह ऋषि (उवाच) बोला–(गार्ग्य) हे गार्ग्य! (यथा) जैसे (अस्तं गच्छतः) अस्त होते हुए (अर्कस्य) सूर्य की (सर्वाः) सब (मरीचयः) किरणें (एतस्मिन्) इस (तेजोमण्डले) तेजोमण्डल [सूर्य] में (एकीभवन्ति) एकत्रित हो जाती हैं (पुनः पुनः उदयतः) फिर फिर उदय हुए (सूर्य) की (ताः) वे (किरणें) (प्रचरन्ति) फैल जाती हैं (ह, वै) निश्चय (एवम्) इसी प्रकार (तत् सर्वम्) वह सब (इन्द्रिय सामर्थ्य) (परे, देवे मनसि) सूक्ष्म प्रकाशमय मन में [एकीभवति] एकत्रित हो जाता है (तेन) इससे (तर्हि) उस (स्वप्नावस्था) में (एषः, पुरुषः) यह (पुरुष (न, शृणोति), नहीं सुनता (न, पश्यति) नहीं देखता (न जिघ्रति) नहीं सूंघता (न, रसयते) नहीं चखता, (न, स्पृशते) नहीं छूता (न, अभिवदते) नहीं बोलता (न, आदत्ते) नहीं पकड़ता (न, आनन्दयते) नहीं आनन्द का अनुभव करता (न, विसृजते) नहीं छोड़ता और (न, इयायते) नहीं चलता (स्वपिति) सोता है (इति आचक्षते) ऐसा कहते हैं ।। ४३ ।।

व्याख्या–पहली बात का उत्तर एक उदाहरण देकर दिया गया है। ऋषि पिप्पलाद कहते हैं कि जिस प्रकार अस्त होते हुए सूर्य की समस्त किरणें सूर्य में आकर एकत्रित हो जाती हैं और जब सूर्य उदय होता है वे किरणें फिर फैल जाती हैं। इसी प्रकार जब मनुष्य सोता है तब समस्त इन्द्रियों की शक्ति मन में एकत्रित हो जाती है इसलिए स्वप्नावस्था में समस्त इन्द्रिय–व्यापार बन्द हो जाते हैं और इन्द्रियों के साथ मनुष्य सो जाता है ।। ४३ ।।

प्राणाग्नय एवैतस्मिन् पुरे जाग्रति गार्हपत्यो ह वा एषोऽपानो व्यानोऽन्वाहार्यपचनो यद्गार्हपत्यात्प्रणीयते प्रणयनादाहवनीयः प्राणः ।। ४४ ।।

अर्थ–(एतस्मिन्, पुरे) इस शरीर में (प्राणाग्नयः एव) अग्नि रूप प्राण ही (जाग्रति) जागता है। (एषः अपानः) यह अपान (ह, वै) निश्चय (गार्हपत्यः) गार्हपत्य अग्नि है

(व्यानः) व्यान (अन्वाहार्यपचनः) दक्षिणाग्नि है (यत्) जो (गार्हपत्यात्) गार्हपत्य अग्नि से (प्रणीयते) बनाया जाता है (प्रणयनात्) (गार्हपत्य अग्नि से) बनाये जाने से (प्राणः) प्राण (आहवनीय) आहवनीय अग्नि है ॥ ४४ ॥

यदुच्छ्वासनिःश्वासावेतावाहुती समं नयतीति स समानः मनो ह वाव यजमान इष्टफलमेवोदानः स एनं यजमानमहरहः ब्रह्म गमयति ॥ ४५ ॥

अर्थ–(यत्) जो (एतौ) इन (उच्छ्वासनिःश्वासौ) श्वास और निःश्वास [रूप] (आहुती) आहुतियों को (समं, नयति, इति) समता की ओर ले जाता है इससे (सः) वह (समानः) समान है (ह) (निश्चय) (मनः वाव) मन ही (यजमानः) यजमान है (इष्टफलम्) यज्ञ का फल (एव) ही (उदानः) उदान है (सः) वह (उदान) (एनं) इस (यजमानम्) यजमान को (अहरहः) प्रतिदिन (ब्रह्म) सुख को (गमयति) पहुंचाता है॥ ४५ ॥

व्याख्या–दूसरी बात का उत्तर यह है कि इस शरीर में स्वप्नावस्था में अग्नि रूप प्राण ही जागता है, प्राण को अग्नि की उपमा जागृति के कारण ही दी गई है। अब प्राणी के भेद को अग्नि की उपमा के साथ, इस प्रकार जागृत रहते बतलाया गया है।

(१) अपान गार्हपत्य (गृहस्थ-सम्बन्धी) अग्नि है।

(२) व्यान अन्वाहार्य पचन (वानप्रस्थ सेवित) अर्थात् दक्षिणाग्नि है जो गृहस्थ सम्बन्धी अग्नि से प्रज्ज्वलित होती है।

(३) प्राण, गृहस्थ सेवित अग्नि से प्रज्ज्वलित होने के कारण आहवनीय [ब्रह्मचारी सेवित] अग्नि है ॥ ४४ ॥

(४) इस श्वास और निःश्वासरूपी आहुतियों को समता की ओर ले जाने वाला वायु समान है।

(५) मन रूपी यजमान को प्राप्त होने वाला यज्ञफल ही, उदान है। इस [उदान] से यजमान को प्रतिदिन सुख प्राप्त होता रहता है ॥ ४५ ॥

अत्रैष देवः स्वप्ने महिमानमनुभवति यद् दृष्टं दृष्टमनुपश्यति श्रुतंश्रुतमेवार्थमनुशृणोति देशदिगन्तरैश्च प्रत्यनुभूतं पुनः पुनः प्रत्यनुभवति दृष्टं चादृष्टं च श्रुतं चाश्रुतंचानुभूतं चाननुभूतं च सच्चासच्च सर्वं पश्यति सर्वः पश्यति ॥ ४६ ॥

अर्थ–(अत्र) इस (स्वप्ने) स्वप्नावस्था में (एषः, देवः) यह देव [मन] अपनी (महिमानम्) महिमा को (अनुभवति) अनुभव करता है (यत्) जिसे (दृष्टम्) देखा है उस (दृष्टम्) देखे हुए को (अनुपश्यति) फिर देखता है (श्रुतम्) सुने हुए को (श्रुतम् एव अर्थम्) सुने हुए ही विषय की तरह (अनु शृणोति) फिर सुनता है (देशदिगन्तरैः च) देश और दिगन्तर में (प्रतिअनुभूतम्) अनुभव किये हुए को (पुनः, पुनः, प्रति अनुभवति) बार-बार फिर अनुभव करता है (च) और दृष्टम् देखे हुए (च) और (अदृष्टम्) न देखे हुए (च) और (श्रुतम्) सुने हुए (च) और (अश्रुतम्) न सुने हुए (च) और (अनुभूतम्) अनुभव किये हुए (च) और (अननुभूतम्) अनुभव न किये हुए (च) और (सत्) विद्यमान (च) और (असत्) अविद्यमान (सर्वम्) सब को (पश्यति) देखता है (सर्वः पश्यति) और सब देखता है ॥ ४६ ॥

व्याख्या–अब तीसरी बात का उत्तर दिया जाता है। मन इस स्वप्नावस्था में अपनी महिमा को अनुभव करता है अर्थात् देखे, सुने और देश-देशान्तर में अनुभव किये को फिर स्वप्न के रूप में देखता, सुनता और अनुभव करता है, न सिर्फ देखे सुने और अनुभव किये हुए बल्कि इस जन्म में न देखे, न सुने और न अनुभव किये हुए परन्तु पिछले जन्मों में देखे, सुने और अनुभव किये हुए को भी फिर-फिर देखता, सुनता और अनुभव करता है। इसी प्रकार जो विद्यमान है और जो इस समय या इस जन्म में विद्यमान नहीं, उन्हें भी देखता है। इस वाक्य में यह बात बतलाई गई है कि स्वप्न में मनुष्य क्या देखता है अर्थात् वह जो कुछ देखता, सुनता आदि है वह या तो इस जन्म का देखा, सुना या अनुभव किया हुआ होता है जो स्मृति आदि के रूप में चित्त

पर अंकित रहता है कोई ऐसी बात नहीं देखता जिसका इस जन्म या पिछले जन्मों के उपार्जित ज्ञान से सम्बन्ध न हो। पिछले जन्मों में देखी, सुनी आदि बातों को अदृष्ट और अश्रुत वर्तमान स्थूल शरीर को इन्द्रियों की अपेक्षा से, कहा गया है अर्थात् इन आँखों और कानों से न देखे, न सुने हुए होने के कारण से अदृष्ट और अश्रुत हैं ।। ४६ ।।

स यदा तेजसाऽभिभूतो भवति। अत्रैष देवः स्वप्नान्न पश्यत्यथ तदैतस्मिन् शरीरे एतत् सुखं भवति ।। ४७ ।।

अर्थ–(सः) वह [मन] (यदा) जब (तेजसा) तेज से (अभिभूतः) हीन (भवति) होता है (अत्र) इस [सुषुप्त] अवस्था में (एषः देवः) यह मन (स्वप्नान्) स्वप्नों को (न, पश्यति) नहीं देखता है (अथ) इसके बाद (तदा) तब (एतस्मिन् शरीरे) इस शरीर में (एतत्, सुखम्) यह सुख (भवति) होता है ।। ४७ ।।

व्याख्या–अब चौथे प्रश्नों का उत्तर देते हैं–

जब यह मन तेजहीन हो जाता है तब इस तीसरी सुषुप्त अवस्था को प्राप्त होने पर मन स्वप्नों को नहीं देखता तब इस शरीर में सुख की प्राप्ति होती है और उस समय इस सुख का अनुभवकर्त्ता आत्मा ही होता है ।। ४७ ।।

स यथा सोम्य वयांसि वासीवृक्षं संप्रतिष्ठन्ते । एवं ह वै तत्सर्वं पर आत्मनि संप्रतिष्ठन्ते ।। ४८ ।।

अर्थ–(सः) वह (यथा) जैसे (सोम्य) हे सौम्य ! (वयांसि) पक्षी (वासीवृक्षम्) वसेरे के वृक्ष पर (संप्रतिष्ठन्ते) ठहरते हैं (ह वै) निश्चय (एवम्) इसी प्रकार (तत्, सर्वम्) वह सब [मन, इन्द्रयादि] (परे आत्मनि) सूक्ष्म आत्मा में (सम्प्रतिष्ठन्ते) ठहरते हैं ।। ४८ ।।

पृथिवी च पृथिवीमात्रा चाऽऽपश्चाऽऽपोमात्रा च तेजश्च तेजोमात्रा च वायुश्च वायुमात्रा चाऽऽकाशश्चाकाशमात्रा च चक्षुश्च द्रष्टव्यं च श्रोत्रं च श्रोतव्यं च घ्राणं च घ्रातव्यं च रसश्च रसयितव्यं च त्वक् च स्पर्शयितव्यं च वाक् च वक्तव्यं च हस्तौ चाऽऽदातव्यं चोपस्थश्चाऽऽनन्दयितव्यं

च पायुश्च विसर्जयितव्यं च पादौ च गन्तव्यं च मनश्च मन्तव्यं च बुद्धिश्च बोद्धव्यं चाहङ्कारश्चाहङ्कर्त्तव्यञ्च चित्तं च चेतयितव्यं च तेजश्च विद्योतयितव्यं च प्राणश्च विधारयितव्यं च ॥ ४९ ॥

अर्थ–(पृथिवी, च, पृथिवी मात्रा, च) पृथिवी और उसकी तन्मात्रा (गन्ध) (आपः, च आपोमात्रा, च) पानी और उसकी तन्मात्रा (रस) (तेजः च, तेजोमात्रा, च) तेज और उसकी तन्मात्रा (रूप) (वायुः च वायुमात्रा च) वायु और उसकी तन्मात्रा (स्पर्श) (आकाशः, च, आकाशमात्रा च) आकाश और आकाश की मात्रा (शब्द) (चक्षुः, च द्रष्टव्यं च) आँख और देखने योग्य वस्तु (श्रोत्रं, च, श्रोतव्यं, च) कान और सुनने योग्य पदार्थ (घ्राणं च, घ्रातव्यं च) नाक और सूंघने योग्य वस्तु (रसः, च, रसयितव्यं, च) जीभ और चखने योग्य पदार्थ (त्वक्, च, स्पर्शयितव्यं, च) त्वचा और छूने योग्य वस्तु (वाक्, च, वक्तव्यं, च) वाणी और कहने योग्य वस्तु (हस्तौ, च, आदातव्यं, च) दो हाथ और ग्रहण करने योग्य पदार्थ (उपस्थः, च, आनन्दयितव्यं, च) उपस्थ और उसके द्वारा होने वाला सुख (पायुः च, विसर्जयितव्यं च) गुदा और उसका कार्य मल-त्याग (पादौ, च, गन्तव्यं च) दो पैर और उनका कार्य चलना (मनः, च, मन्तव्यं, च) मन और मनन करने योग्य पदार्थ (बुद्धिः, च, बोद्धव्यं, च) बुद्धि और जानने योग्य वस्तु (अहङ्कारः, च, अहङ्कर्त्तव्यं, च) अहंकार और ममता का नाता जोड़ने वाले पदार्थ (चित्तं, च, चेतयितव्यं, च) चित्त और चिन्तन करने योग्य वस्तु (तेजः, च, विद्योतयितव्यं, च) तेज और प्रकाश करने योग्य पदार्थ (प्राणः, च, विधारयतिव्यं, च) प्राण और प्राण के व्यापार योग्य वस्तु ॥ ४९ ॥

व्याख्या–अब अन्तिम प्रश्न का उत्तर देते हुए ऋषि प्रकट करते हैं कि उस [सुषुप्त] अवस्था में जिस प्रकार पक्षी बसेरा लेने योग्य वृक्ष पर रात्रि में बसेरा लेने के लिए ठहरते हैं इसी प्रकार मन, इन्द्रिय और उनके विषय रूप रसादि सभी आत्मा के आश्रय में ठहरते हैं और सभी निष्क्रिय रहते हैं ॥ ४८-४९ ॥

एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्त्ता विज्ञानात्मा पुरुषः। स परेऽक्षरे आत्मनि संप्रतिष्ठते ॥५०॥

अर्थ–(हि) निश्चय (एषः) यह (द्रष्टा) देखने वाला (स्प्रष्टा) स्पर्श करने वाला (श्रोता) सुनने वाला (घ्राता) सूंघने वाला (रसयिता) चखने वाला (मन्ता) मनन करने वाला (बोद्धा) जानने वाला (कर्त्ता) कर्म करने वाला (विज्ञानात्मा) ज्ञानस्वरूप (पुरुषः) जीवात्मा है (सः) वह (परे, अक्षरे, आत्मनि) अपने से भी सूक्ष्म, अविनाशी परमात्मा में (संप्रतिष्ठते) ठहरता है ॥५०॥

परमेवाक्षरं प्रतिपद्यते स यो ह वै तदच्छायमशरीरमलोहितं शुभ्रमक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य। स सर्वज्ञः सर्वो भवति तदेष श्लोकः ॥५१॥

अर्थ–(सोम्य) हे सौम्य! (यः) जो (ह, वै) निश्चय (यः तद्) उस (अच्छायम्) तम रहित (अशरीरम्) निराकार (अलोहितं) अप्राकृतिक (शुभ्रम्) निर्मल (अक्षरम्) अविनाशी (ब्रह्म) को (वेदयते) जानता है (सः) वह (परम् एव, अक्षरम्) परम अक्षर ब्रह्म को (प्रतिपद्यते) प्राप्त होता है (तु) और (सः) वह (सर्वज्ञः) सब जानने वाला (सर्वः भवति) और सब कुछ होता है (तद्) इसकी पुष्टि में (एषः) यह (श्लोकः) श्लोक है ॥५१॥

व्याख्या–अब प्रश्न के उत्तर को समाप्त करते हुए ऋषि फलश्रुति कहते हैं। जो जीव उस तम रहित, निराकार, अप्राकृतिक, निर्मल, अविनाशी ब्रह्म को जानता है वह उसे प्राप्त कर लेता है और अन्य अज्ञानग्रस्त प्राणियों की अपेक्षा सब कुछ जानने वाला तथा सब कुछ हो जाता है। इसकी पुष्टि में एक प्रमाण दिया गया है ॥५१॥

विज्ञानात्मा सह देवैश्च सह सर्वैः प्राणा भूतानि संप्रतिष्ठन्ते यत्र। तदक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य! स सर्वज्ञः सर्वमेवाऽऽविवेशेति ॥५२॥

अर्थ–(सोम्य) हे सौम्य ! (प्राणः) प्राण (भूतानि) पञ्चभूत (सर्वैः, देवैः, सह) समस्त इन्द्रियों के साथ (यत्र) जिस (ब्रह्म) में (संप्रतिष्ठन्ते) ठहरते हैं (तद् अक्षरम्) उस अविनाशी ब्रह्म को (यः, विज्ञानात्मा) जो जीवात्मा (वेदयते) जानता है (सः) वह (जीव) (सर्वज्ञः) सब जानने वाला (सर्वम्, एव) सब को ही (आविवेश, इति) प्रवेश करता है ॥५२॥

व्याख्या–जिन ब्रह्म में प्राण समस्त इन्द्रियों के साथ ठहरता है उस अविनाशी ब्रह्म को जीव जान लेता है वह सब कुछ जानने वाला होता है और सभी जगह उसका प्रवेश होता है ॥५२॥

इति चतुर्थः प्रश्नः ॥ ४ ॥

अथ पञ्चमः प्रश्नः

अथ हैनं शैव्यः सत्यकामः पप्रच्छ। स यो ह वै तद् भगवन्! मनुष्येषु प्रायणान्तमोङ्कारमभिध्यायीत । कतमं वाव स तेन लोकं जयतीति ॥५३॥

अर्थ–(अथ) इसके बाद (ह) प्रसिद्ध (एनम्) इस [ऋषि] से (शैव्यः, सत्यकामः) शिवि के पुत्र सत्यकाम ने [पप्रच्छ] पूछा कि (भगवन्) हे भगवन् ! (ह, वै) निश्चय (मनुष्येषु) मनुष्यों में (सः, यः) जो कोई (प्रायणान्तम्) मृत्यु के अन्त समय में (तद्) उस (ओङ्कारम्) ओंकार का (अभिध्यायीत) ध्यान करे (वाव) निश्चय (सः) वह [ध्याता] (तेन) उस [ध्यान] से (कतमम्) कौन से (लोकम्) लोक को (जयति, इति) जीतता है ॥५३॥

व्याख्या–वेद ने शिक्षा दी है कि जब किसी मनुष्य के शरीर और आत्मा के वियोग का समय हो तो ऐसे समय में उस पुरुष को ओ३म् का स्मरण करना चाहिए (देखो यजुर्वेद ४०/१७)। अब उसके सम्बन्ध में सत्यकाम पूछता है कि ऐसा पुरुष किस गति को प्राप्त होता है? ॥५३॥

तस्मै स होवाच। एतद्वै सत्यकाम! परं चापरं च ब्रह्म यदोङ्कारः तस्माद्विद्वानेतेनैवाऽऽयतनेनैकतरमन्वेति ॥५४॥

अर्थ–(तस्मै) उस प्रश्नकर्त्ता के लिए (ह) प्रसिद्ध (स) वह [ऋषि] (उवाच) बोला कि (सत्यकाम) हे सत्यकाम ! (यत्) जो (परं, च, अपरं च ब्रह्म) पर और अपर ब्रह्म है (एतद् वै) यही (ओङ्कारः) ओंकार है (तस्मात्) इसलिए (विद्वान्) विद्वान् (एतेन, एव) इस ही (आयतनेन) आश्रय से (एकतरम्) [पर और अपर इन] दोनों में से एक को (अन्वेति) प्राप्त होता है ॥५४॥

व्याख्या–ईश्वरोपासना के दो उद्देश्य होते हैं। (१) जप द्वारा जगत् में गुणगान्, श्रेष्ठ और निर्भीक बनकर, जगत् का

पूर्णतया उपभोग करते हुए, इस सांसारिक जीवन को परलोक का साधन बनाना (२) दूसरे परलोक की ओर चलते और आत्मा की अन्तर्मुखी वृत्ति को जाग्रत करते हुए परमात्म-साक्षात् करना इनमें से पहला प्रेय और दूसरा श्रेय मार्ग कहलाता है। प्रेय मार्ग में उपासक का सम्बन्ध वाचक [शब्द] ब्रह्म से रहता है और श्रेय मार्ग में वाच्य (अर्थ) ब्रह्म से होता है। पहले को अपर (ब्रह्म) और दूसरे को पर (ब्रह्म) कहते हैं। इसका विवरण इस प्रकार समझना चाहिए-

(१) वाचक = संज्ञा = शब्द = अपर = ओंकार।

(२) वाच्य = संज्ञी = अर्थ = पर = ओंकारपदवाच्य ब्रह्म।

उपनिषद् के इस वाक्य में ऋषि पिप्पलाद सत्यकाम से कहते हैं कि उपासक उपर्युक्त दोनों में से एक पथ का पथिक बना करता है, इन्हीं को अभ्युदय और निःश्रेयस भी कहते हैं ।। ५४ ।।

स यद्येकमात्रमभिध्यायीत स तेनैव संवेदितस्तूर्णमेव जगत्यामभिसंपद्यते। तमृचो मनुष्यलोकमुपनयन्ते स तत्र तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया सम्पन्नो महिमानमनुभवति ।। ५५ ।।

अर्थ-(सः) वह (ध्याता) (यदि) अगर (एकमात्रम्) [ओंकार की] एकमात्रा (अकार को (अभिध्यायीत) ध्यान करे (सः) वह [एकमात्रा का ध्यान करने वाला] (तेन, एव) उस ही (एकमात्रा के ध्यान से (संवेदितः) सावधान हुआ (तूर्णम् एव) शीघ्र ही (जगत्याम्) जगत् में (अभिसंपद्यते) सम्पन्न होता है (तम्) उसको (ऋचः) ऋचाएँ [ऋग्वेद के मन्त्र] (मनुष्य, लोकम्) मनुष्य लोक को (उपनयन्ते) प्राप्त कराती हैं (सः) वह (तत्र) वहाँ मनुष्य लोक में (तपसा) तप से (ब्रह्मचर्येण) इन्द्रिय संयम से और (श्रद्धया) श्रद्धा से (सम्पन्नः) सम्पन्न होकर (महिमानम्) [ईश्वर की] महिमा को (अनुभवति) अनुभव करता है ।। ५५ ।।

व्याख्या-जगत् में ब्रह्म के तीन रूप कल्पना किये जाते हैं-

(१) व्यक्त– जगत् की रचना जो मनुष्यलोक (पृथिवी आदि जहाँ मनुष्य रहते हैं) में देखी जाती है वे मानो अपने रचयिता (ब्रह्म) का उसकी रचना द्वारा मनुष्यों को साक्षात् कराती रहती है और इसीलिए इस लोक में ब्रह्म को व्यक्त समझा और कहा जाता है।

(२) व्यक्ताव्यक्त– अर्थात् कुछ प्रकट और कुछ अप्रकट ब्रह्म के इस रूप को अन्तरिक्ष (स्वर्गलोक) प्रकट किया करता है।

(३) अव्यक्त– ब्रह्म के इस रूप को उपासक द्यौ [प्रकाशक] लोक में मुक्त होकर देखा करता है।

उपनिषद् के इस वाक्य में इन तीनों रूपों को समष्टि रूप से ओंकार और पृथक्-पृथक् पहले को अकार, दूसरे को अकार + उकार और तीसरे को अकार, उकार और मकार (ओ३म्) कहा गया है। जब मनुष्य इस व्यक्त (मनुष्य) लोक में ब्रह्म को अकारवत् सब जगत् में मौजूद समझकर तप ब्रह्मचर्य और श्रद्धापूर्वक जीवन व्यतीत करता है तब वह इस व्यक्त ब्रह्म की जगत् में प्रत्यक्ष महिमा को अनुभव किया करता है और इस उद्देश्य की पूर्ति के साधन ऋग्वेद के मन्त्र होते हैं जिनके द्वारा मनुष्य को इस लोक में उपस्थित वस्तुओं का यथार्थ (तत्त्व) ज्ञान प्राप्त हुआ करता है।।५५।।

अथ यदि द्विमात्रेण मनसि संपद्यते सोऽन्तरिक्षं यजुर्भिरुन्नीयते स सोमलोकम् स सोमलोके विभूतिमनुभूय पुनरावर्त्तते।।५६।।

अर्थ–(अथ) और (यदि) जो (द्विमात्रेण) दो मात्राओं [अकार + उकार] से (मनसि) मन में (सम्पद्यते) प्राप्त होता = ध्यान करता है (सः) वह (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष में (सोमलोकम्) सोम = चन्द्रलोक को (यजुर्भिः) यजुर्वेद से (उन्नीयते) ले जाया जाता है (सः) वह (सोमलोक) चन्द्रलोक में (विभूतिम्) ऐश्वर्य को (अनुभूय) अनुभव करके (पुनः) फिर (आवर्त्तते) [इस पृथ्वी पर] आता है।।५६।।

व्याख्या–जब मनुष्य अकार और उकार दोनों मात्राओं से सम्बन्ध जोड़कर ऋग्वेद के मन्त्रों द्वारा यथार्थ ज्ञान प्राप्त करके यजुर्वेद के मन्त्रों द्वारा सकाम यज्ञादि कर्मों को आचरण में लाया करता है तो इस [कर्म] के फल रूप से वह अन्तरिक्ष [स्वर्ग] लोक को प्राप्त करता है अर्थात् ऐसे लोकों और ऐसी योनि से जन्म लेता है जहाँ उसे आवागमन के सिवा सुख ही सुख प्राप्त होता है और जहाँ ऐसा मनुष्य ईश्वर को कुछ देखता और कुछ नहीं देखता है और उसे उस [चन्द्र लोक] श्रेष्ठ (मनुष्य) योनि से उसे (उत्तम फल भोगने के बाद दुःख-सुख मिश्रित [मनुष्य] योनि में लौटना पड़ता है। इस वाक्य में मनुष्य को दोनों मात्राओं से मन को प्राप्त करने का उल्लेख किया गया है। इसका भी तात्पर्य यही है कि मनुष्य मन से आत्मा की ओर मुंह करके ब्रह्म की ओर चलता है और इसके विरुद्ध इन्द्रियों की ओर मुंह करके परमात्मा से दूर हुआ करता है। क्योंकि मन, आत्मा और इन्द्रियों के बीच की एक कड़ी है ॥५६॥

यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत, स तेजसि सूर्य्ये सम्पन्नः । यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यते एवं ह वै स पाप्मना विनिर्मुक्तः स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकं स एतस्माज्जीवघनात्परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते, तदेतौ श्लोकौ भवतः ॥५७॥

अर्थ–(पुनः) फिर (यः) जो (त्रिमात्रेण) तीन मात्रा से (ओ३म् इति एतेन, एव, अक्षरेण) ओ३म् इस ही अक्षर से (एतं परं, पुरुषम्) इस परम पुरुष [ईश्वर] को (अभिध्यायीत) ध्यान करे (सः) वह (तेजसि) तेजस्वी (सूर्य्ये) सूर्यलोक में (सम्पन्नः) प्राप्त होता है (यथा) जैसे (पादोदरः) साँप (त्वचा) कैंचुली से (विनिर्मुच्यते) पृथक् हो जाता है (ह वै) निश्चय (एवम्) इसी प्रकार (सः) वह (पाप्मना) पाप से (विनिर्मुक्तः) छूट जाता है (सः) वह (सामभिः) सामवेद के मन्त्रों से (ब्रह्मलोकम्) ब्रह्मलोक को (उन्नीयते) ले जाया

जाता है (सः) वह (एतस्मात्) इस (परात्) सूक्ष्म [जीवघनात्] जीव समूह से (परम्) सूक्ष्म (पुरिशयम्) व्यापक (पुरुषम्) ईश्वर को (ईक्षते) देखता है [तद्] इसकी पुष्टि में [एतौ श्लोक] ये दो श्लोक (भवतः) हैं ॥५७॥

व्याख्या–अब जब मनुष्य तीनों मात्रायुक्त पूर्ण ओ३म् का ध्यान करता है तो तेजयुक्त होकर, सूर्यलोक के मध्य में से साँप की कैंचुली छोड़ने के सदृश, समस्त पापों से मुक्त होकर ईश्वरोपासना सम्बन्धी सामवेद के मन्त्रों से, ब्रह्मलोक को प्राप्त करके ईश्वर को साक्षात् कर लिया करता है ॥५७॥

तिस्रो मात्रा मृत्युमत्यः प्रयुक्ता अन्योन्यसक्ता अनविप्रयुक्ताः। क्रियासु बाह्याभ्यन्तरमध्यमासु सम्यक् प्रयुक्तासु न कम्पते ज्ञः ॥५८॥

अर्थ–(अन्योन्यसक्ताः) एक दूसरे से सम्बन्धित (अनविप्रयुक्ताः) केवल शब्द ही में प्रयोग की गई (तिस्रः मात्राः) तीन मात्राएँ (मृत्युमत्यः) मरण धर्म वाली (प्रयुक्ताः) कही गई हैं (बाह्याभ्यन्तरमध्यमासु) जागृत, सुषुप्ति और स्वप्न [रूप] (क्रियासु) क्रियाओं में (सम्यक्) भली-भांति (प्रयुक्तासु) प्रयोग करने पर (ज्ञः) ज्ञानी पुरुष (न, कम्पते) विचलित नहीं होता ॥५८॥

व्याख्या–अब जब उपासक इन तीनों मात्राओं को केवल शब्द (वाचक) में प्रयुक्त करता है तब वह आवागमन से नहीं छूटा करता परन्तु जब जागृत् और स्वप्न के सदृश मनुष्य और अन्तर्मुखी वृत्ति (स्वर्ग) लोकों को छोड़कर सुषुप्ति के सदृश अन्तर्मुखी वृत्ति के द्वारा आत्मरत होता है तब उपासक समस्त दुःखों से छूट जाता है ॥५८॥

ऋग्भिरेतं यजुर्भिरन्तरिक्षं स सामभिर्यत्तत्कवयो वेदयन्ते। तमोङ्कारेणैवायतनेनान्वेति विद्वान् यत्तच्छान्तमजरममृतमभयं परं चेति ॥५९॥

अर्थ–(सः) वह (ऋग्भिः) ऋग्वेद से (एतम्) इस [मनुष्य लोक] को (यजुर्भिः) यजुर्वेद से (अन्तरिक्षम्)

अन्तरिक्ष को (सामभिः) सामवेद से (यत् तत्) उस जिसको (कवयः) विद्वान् लोग (वेदयन्ते) जानते हैं (तत्) उसको (विद्वान्) विद्वान् (ओङ्कारेण, एव) ओंकार ही के (आयतनेन) अवलम्ब से (अन्वेति) प्राप्त होता है (यत्) जो (शान्तम्) शान्त (अजरम्) जरा (परिवर्तन) रहित (अमृतम्) अमर (अभयम्) भय रहित (च) और (परम्) सर्वोत्कृष्ट है (तत्) उस [ब्रह्म] को (एति) प्राप्त होता है ॥५९॥

व्याख्या–जब मनुष्य ऋग्, यजुः और साम (ज्ञान, कर्म और उपासना) तीनों को काम में लाता हुआ इस लोक तथा स्वर्गलोक से ऊपर होकर ब्रह्मलोक को प्राप्त कर लिया करता है जो शान्त, जरा और मृत्यु रहित लोक है तभी उसे परमानन्द की प्राप्ति होती है ॥५९॥

इति पञ्चमः प्रश्नः ॥५॥
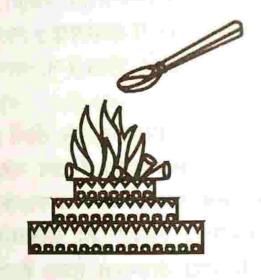
अथ षष्ठः प्रश्नः

अथ हैनं सुकेशा भारद्वाजः पप्रच्छ—भगवन्! हिरण्यनाभः कौशल्यो राजपुत्रो मामुपेत्यैतं प्रश्नमपृच्छत् षोडशकलं भारद्वाज! पुरुषं वेत्थ? तमहं कुमारमब्रुवं नाहमिमं वेद, यद्यहमिममवेदिषं, कथं ते नावक्ष्यमिति, समूलो वा एष परिशुष्यति योऽनृतमभिवदति, तस्मान्नार्हाम्यनृतं वक्तुं स तूष्णीं रथमारुह्य प्रवव्राज। तं त्वा पृच्छामि क्वासौ पुरुष इति॥६०॥

अर्थ–(अथ) इसके बाद (ह) प्रसिद्ध (एनम्) इस (ऋषि) से (सुकेशाः भारद्वाजः) भारद्वाज के पुत्र सुकेशा ने (पप्रच्छ) पूछा कि (भगवन्) हे भगवन्! (हिरण्यनाभः) हिरण्यनाभ (कौशल्यः राजपुत्रः) कौशल देश के राजपुत्र ने (माम्) मुझको (उपेत्य) आकर (एतं, प्रश्नम्) यह प्रश्न (अपृच्छत्) पूछा कि (भारद्वाज) हे भरद्वाज के पुत्र! (षोडशकलम्) सोलह कला वाले (पुरुषम्) पुरुष को (वेत्थ) जानता है? (अहम्) मैंने (तम् कुमारम्) उस राजकुमार को (अब्रुवम्) कहा कि (अहम्) मैं (इमम्) इसको (न, वेद) नहीं जानता (यदि) जो (अहम्) मैं (अवेदिषम्) जानता होता तो (कथम्) क्योंकर (ते) तेरे लिए (न, अवक्ष्यम् इति) न कहता (वै) निश्चय (एषः) यह (समूलः) मूल सहित (परिशुष्यति) सूख जाता है (यः) जो (अनृतम्) झूठ (अभिवदति) बोलता है (तस्मात्) इसलिए (अनृतम्) झूठ (वक्तुम्) कहने को, मैं (न, अर्हामि) समर्थ नहीं हूं (सः) वह (राजकुमार) (तूष्णीम्) चुपचाप (रथम्) रथ में (आरुह्य) सवार होकर (प्रवव्राज) चला गया (तं) उस सोलह कला वाले पुरुष को (त्वा) तुझसे (पृच्छामि) पूछता हूँ कि (असौ, पुरुषः) यह पुरुष (क्व, इति) कहाँ है॥६०॥

व्याख्या–इस प्रश्न के द्वारा भारद्वाज ने १६ कला वाले पुरुष के लिए पूछा है कि वह कौन है ? कहाँ है ? और ये १६ कलायें क्या वस्तु हैं ॥ ६० ॥

तस्मै स होवाच। इहैवान्तः शरीरे सोम्य ! स पुरुषो यस्मिन्नेताः षोडशकलाः प्रभवन्तीति ॥ ६१ ॥

अर्थ–(तस्मै) उस (भारद्वाज) के लिए (सः) वह (ऋषि) (ह) स्पष्ट (उवाच) बोला कि (सोम्य) हे सौम्य ! (इह) इस (एव) ही (अन्तःशरीरे) शरीर में (सः) वह (पुरुषः) पुरुष है (यस्मिन्) जिसमें (एताः) ये (षोडश, कलाः) सोलह कलायें (प्रभवन्ति, इति) उत्पन्न होती हैं ॥ ६१ ॥

व्याख्या–पिप्पलाद ऋषि ने भारद्वाज के प्रश्न का उत्तर यह दिया कि वह १६ कला वाला पुरुष (ईश्वर) इस (मनुष्य) शरीर ही में है अर्थात् मनुष्य जिस समय उसे जानना और प्रत्यक्ष करना चाहता है तो वह स्थान जहाँ वह देखा और प्रत्यक्ष किया जाता है मनुष्य के शरीर के अन्दर का हृदयाकाश ही है। उसी पुरुष में ये सोलह कलायें उत्पन्न होती हैं। ये १६ कलायें क्या हैं इसका विवरण आगे मिलेगा ॥ ६१ ॥

स ईक्षाञ्चक्रे। कस्मिन्नहमुत्क्रान्त उत्क्रान्तो भविष्यामि कस्मिन्वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठास्यामि ॥ ६२ ॥

अर्थ–(सः) उस (पुरुष) ने (ईक्षाञ्चक्रे) ईक्षण (चिन्तन) किया कि (अहम्) मैं (कस्मिन्) किसके (उत्क्रान्ते) निकल जाने पर (उत्क्रान्तः) निकला हुआ (भविष्यामि) हो जाऊंगा (वा) और (कस्मिन्) किसके (प्रतिष्ठिते) प्रतिष्ठित होने पर (प्रतिष्ठास्यामि) प्रतिष्ठित होऊंगा ॥ ६२ ॥

व्याख्या–मनुष्य का शरीर जब तक उसमें आत्मा (जीव) और प्राकृतिक शरीर का मेल रहता है, मनुष्य शरीर कहलाता है और जब तक वह मनुष्य शरीर (आत्मा और शरीर का संघात) रहता है तभी तक वह ईश्वर के साक्षात् करने का स्थान रहा करता है। इस दृष्टि से इस वाक्य में कहा गया है कि उस पुरुष (ईश्वर) ने चिन्तन किया कि किसके निकल

जाने से वह शरीर से निकला हुआ और किसके रहने से वह शरीर में प्रतिष्ठित समझा जायेगा। ईश्वर यद्यपि अपने सर्वव्यापकत्व से शरीर और आत्मा का वियोग होने पर भी दोनों में व्यापक रहता है परन्तु जहाँ तक उपासक द्वारा उसके साक्षात्कार करने का सम्बन्ध है उस सम्बन्ध की दृष्टि से वह निकले हुए होने ही के सदृश हो जाता है क्योंकि केवल शव या केवल जीव में कोई उपासक उसका साक्षात्कार नहीं कर सकता ।। ६२ ।।

स प्राणमसृजत् प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवीन्द्रियं मनः। अन्नमन्नाद्वीर्यं तपो मन्त्राः कर्मलोकाः लोकेषु नाम च ॥ ६३ ॥

अर्थ–(सः) उस (ईश्वर) ने (प्राणम्) प्राण को (असृजत्) उत्पन्न किया (प्राणात्) प्राण से (श्रद्धाम्) श्रद्धा (खम्) आकाश (वायुः) वायु (ज्योतिः) अग्नि (आपः) जल (पृथिवी) पृथिवी (इन्द्रियम्) इन्द्रिय (मनः) मन (अन्नम्) अन्न (उत्पन्न किये) (अन्नात्) अन्न से (वीर्यम्) वीर्य (तपः) तप (मन्त्राः) मन्त्र [कर्म] कर्म [लोकाः] लोक और लोकेषु लोकों में [नाम, च] नाम [उत्पन्न किया] ।। ६३ ।।

व्याख्या–इस वाक्य में ईश्वर द्वारा उत्पन्न की हुई सोलह कलाओं का विवरण इस प्रकार दिया हुआ है–

(१) प्राण–सं० ८ तथा ९ में सम्मिलित

(२) श्रद्धा–जिससे मनुष्य ईश्वर को प्राप्त किया करता है।

(३) आकाश |
(४) वायु | → अग्नि
(५) ज्योतिः अग्नि पञ्च-स्थूल भूत जिनसे स्थूल
(६) जल |
(७) पृथ्वी | → शरीर बना करता है।

(८) इन्द्रिय । सं० १ [प्राण] मन और इन्द्रिय तथा उनके
(९) मन । विषयों [रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श] से सूक्ष्म शरीर बना करता है।

(१०) अन्न–मनुष्य के जीवन का हेतु
(११) वीर्य–शक्ति
(१२) तप–नियमबद्धता
(१३) मन्त्र–वेदरूपी ईश्वरीय ज्ञान
(१४) कर्म–सकाम और निष्काम कर्म
(१५) लोक–समस्त नक्षत्र और मनुष्यादि योनियां
(१६) नाम–जगत्स्थ चराचर वस्तुओं की प्रसिद्धि का कारण

१६ कलाओं के उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि उनमें आत्मा परमात्मा और जीवात्मा को छोड़कर अन्य सभी बातों का समावेश है जिनसे मनुष्य संसार में अपने सभी प्रकार के व्यापारों की सिद्धि किया करता है, इन्हीं १६ कलाओं के प्राप्त हो जाने पर जीव भी 'षोडशकल' हो जाता और कहा भी जाता है और इन्हीं की उत्पत्ति का निमित्त कारण और उत्पत्ति के बाद इनका आधार होने से ईश्वर भी 'षोडशकल' कहा जाता है ।। ६३ ।।

स यथेमा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रायणाः समुद्रं प्राप्यास्तं गच्छन्ति, भिद्येते तासां नामरूपे, समुद्र इत्येवं प्रोच्यते, एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः षोडशकलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ति भिद्येते तासां नामरूपे, पुरुष इत्येवं प्रोच्यते स एषोऽकलोऽमृतो भवति, तदेष श्लोकः ॥ ६४ ॥

अर्थ–(सः) सो (यथा) जैसे (इमाः) ये (नद्यः) नदियां (स्यन्दमानाः) बहती हुई (समुद्रायणाः) समुद्र ही अयनस्थान है जिनका (समुद्रम्) समुद्र को (प्राप्य) पाकर (अस्तम्) अस्त (गच्छन्ति) हो जाती हैं (तासाम्) उनके (नाम, रूपे) नाम और रूप (भिद्येते) मिट जाते हैं। (समुद्र, इति) समुद्र ही (एवम्) ऐसा (प्रोच्यते) कहा जाता है (एवम्) ऐसे ही (अस्य) इस (परिद्रष्टुः) सर्वद्रष्टा (ईश्वर) की (इमाः, षोडश, कलाः) ये १६ कलायें (पुरुषायणाः) पुरुष (ईश्वर) ही अयन = स्थान है जिनका (पुरुषम्) पुरुष को (प्राप्य)

प्राप्त होकर (अस्तं, गच्छन्ति) अस्त हो जाती हैं (च) और (आसाम्) इनके (नामरूपे) नाम और रूप (भिद्येते) मिट जाते हैं (पुरुष, इति, एवम्) पुरुष है ऐसा (प्रोच्यते) कहा जाता है (सः एषः) वह यह (सर्वद्रष्टा) (अकलः) कलारहित (अमृतः) अमर (भवति) होता है। (तद्) इसकी (पुष्टि में) (एषः) यह (श्लोकः) श्लोक है ॥ ६४ ॥

व्याख्या–अब जगत् की समाप्ति प्रलयावस्था का वर्णन करते हुए उपनिषद्कार कहते हैं कि जब वे समस्त कलायें अपने प्रचलित रूप और अवस्था को छोड़कर अपने-अपने कारण में लीन हो जाती हैं। तब इनका नदियों के समुद्र में मिल जाने के सदृश, नाम और रूप कुछ नहीं रहता और सबका एक नाम पुरुष (ईश्वर) हो जाता है। प्रलयावस्था में सभी कुछ नाम रूप रहित होकर सर्व-व्यापकत्व और सर्व-आधारतत्त्व से ईश्वर ही में रहते हैं। रहते तो ये सब कुछ वर्तमान अवस्था में अब भी ईश्वर ही के अन्दर हैं परन्तु अब सबका नाम, रूप पृथक्-पृथक् होने से सबका नानात्व बना रहता है। अत्यन्त दहकते हुए लोहे के गर्म गोले को जिस प्रकार लोहे का गोला भी कहते हैं और अग्नि का गोला भी, इसी प्रकार प्रकृति कारण रूप जगत् को, जिसमें १६ कलायें (प्राकृतिक कलायें) प्रलय में जाकर लीन हो जाती हैं प्रकृति भी कहते हैं और ईश्वर भी। इसी दृष्टि से इस वाक्य में प्राकृतिक कलाओं को अपने में लीन करने वाले कारण को ईश्वर कहा गया है। अप्राकृतिक कलायें मन्त्रादि तो अपने कारण ईश्वर ही में लीन होते हैं इसलिए उनको अपने में लीन करने वाले कारण का नाम तो प्रत्येक प्रकार से ईश्वर ही होता है। उपनिषद् के इस वाक्य की पुष्टि में एक प्रमाण भी दिया गया है ॥ ६४ ॥

अरा इव रथनाभौ कला यस्मिन्प्रतिष्ठिताः। तं वेद्यं पुरुषं वेद यथा मा वो मृत्युः परिव्यथा इति ॥ ६५ ॥

अर्थ–(रथनाभौ) रथ के पहिये की धुरी में (अराः, इव) अरों की तरह (यस्मिन्) जिनमें (कलाः) (१६) कलायें

(प्रतिष्ठिताः) स्थित हैं (तम्) उस (वेद्यम्) जानने योग्य (पुरुषम्) पुरुष को (वेद) जानो (यथा) जिससे (वः) तुमको (मृत्युः) मौत (मा, परिव्यथाः इति) न सतावे ।। ६५ ।।

व्याख्या–जिस प्रकार पहिये की धुरी में अरे जुड़े हुए होते हैं इसी प्रकार उस पुरुष (ईश्वर) में ये १६ कलायें स्थित हैं। उसे जानने योग्य पुरुष के जानने का प्रयत्न प्रत्येक मनुष्य को करना चाहिये क्योंकि उसी के जानने से मनुष्य मौत के बन्धन से छूट जाता है ।। ६५ ।।

तान् होवाचैतावदेवाहमेतत्परं ब्रह्म वेद नातः परमस्तीति ।। ६६ ।।

अर्थ–(तान्) उन (छहों प्रश्नकर्त्ताओं से पिप्पलाद ऋषि) (ह) स्पष्ट (उवाच) बोला कि (एतावत्, एव) इतना ही (अहम्) मैं (एतत्) इस (परं, ब्रह्म) परमात्मा को (वेद) जानता हूं (अतः) इससे (परम्) सूक्ष्म (न, अस्ति, इति) कुछ नहीं है ।। ६६ ।।

ते तमर्चयन्तस्त्वं हि नः पिता योऽस्माकमविद्यायाः परं पारं तारयसीति। नमः परम ऋषिभ्यो नमः परम-ऋषिभ्यः ।। ६७ ।।

अर्थ–(ते) वे (छहों प्रश्नकर्त्ता) (तम्) उस (ऋषि) को (अर्चयन्तः) पूजा करते हुए (बोले) (त्वम् हि) तू ही (नः) हमारा (पिता) रक्षक है (यः) जो (अस्माकम्) हम को (अविद्यायाः) अविद्या के (परं, पारम्) परली पार (तारयसि, इति) तराता है (परम ऋषिभ्यः) महान् ऋषियों के लिए (नमः) नमस्कार है ।। ६७ ।।

व्याख्या–पिप्पलाद ऋषि के छहों प्रश्नों के उत्तर देने के बाद प्रश्नकर्त्तागण ऋषि के लिए, कृतज्ञता प्रकट करते हुए, आदर और सम्मान के साथ, नमस्कार करते हैं ।। ६७ ।।

इति षष्ठः प्रश्नः ।। ६ ।।

इति प्रश्नोपनिषद् समाप्तः

ओ३म्

उपनिषद् रहस्य

एकादशोपनिषद्

(मूल, शब्दार्थ, व्याख्या और श्लोक-मन्त्र शब्दानुक्रमणिका सहित)

भारतीय मनीषा का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण उपनिषद् हैं, ये आध्यात्मिक चिन्तन के सर्वोत्कृष्ट नवनीत हैं।

उपनिषद् शब्द का एक अर्थ 'रहस्य' भी है। उपनिषद् अथवा ब्रह्म-विद्या अत्यन्त गूढ़ होने के कारण साधारण विद्याओं की भाँति हस्तगत नहीं हो सकती, इन्हें 'रहस्य' कहा जाता है। इन रहस्यों को उजागर करने वालों में महात्मा नारायण स्वामीजी का नाम उल्लेखनीय है।

व्याख्याकार

महात्मा नारायण स्वामी
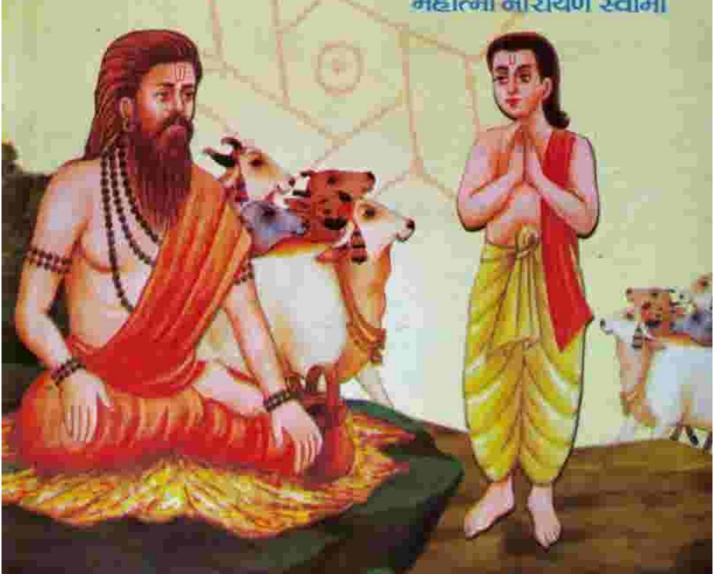
माण्डूक्य उपनिषद्

माण्डूक्योपनिषद्

ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानम्
भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव ।
यच्चान्यत्त्रिकालातीतं, तदप्योङ्कार एव ॥ १ ॥

अर्थ–(ओम् इति) 'ओम्' (एतद्) यह (अक्षरम्) अक्षर है (तस्य) उस ओम् का (इदम्) यह (सर्वम्) सब (उपव्याख्यानम्) फैलाव है। (भूतम्) भूत (भवत्) वर्तमान (भविष्यत्) और भविष्यत् (इति) यह (सर्वम्) सब (ओङ्कारः) ओंकार (एव) ही है। (च) और (यत्) जो (अन्यत्) इसके सिवा (त्रिकाल) तीन काल से (अतीतम्) बाहर है (तद् अपि) वह भी (ओङ्कार एव) ओंकार ही है ॥ १ ॥

व्याख्या–ओम् ईश्वर का सर्वश्रेष्ठ नाम है। वाचक (नाम) और वाच्य (नामी) में अभेद होता है इसलिए ओम् के इस सब में फैलाव होने का अर्थ यह है कि यह समस्त ब्रह्माण्ड ईश्वर ही का फैलाव है। दृश्य ब्रह्माण्ड वास्तव में ईश्वर के कतिपय गुणों का प्रदर्शनमात्र है। इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है। यदि हम किसी वस्तु को देखते हैं तो प्रश्न होता है कि हम क्या देखते हैं ? उदाहरण के लिए एक पुस्तक को लो–सभी कहते हैं कि वे उसे देखते हैं, अब विचार करो कि वे क्या देखते हैं ? पुस्तक के देखने का अर्थ दो दृश्यों का देखना है–

(१) पुस्तक का आकार–कि वह कितनी लम्बी, चौड़ी और मोटी है।

(२) पुस्तक का रूप–कि वह किस रंग की है।

स्पष्ट है कि ये दिखाई देने वाली दोनों चीजें पुस्तक के गुण हैं। पुस्तक इनसे भिन्न वजन वाली चीज इनसे पृथक् है और वही वस्तु तत्त्व है और अदृश्य है इसलिए कहा जाता है कि प्रत्यक्ष केवल गुणों का होता है गुणी का नहीं। जब हम सूर्य, चन्द्र तथा अन्य नक्षत्रादि, जगत् में उत्पन्न पदार्थों को

देखते हैं तो उन सबमें जहाँ उनके बाह्य दृश्य दिखलाई देते हैं वहाँ उनमें जो वस्तुतत्त्व (गुणी) हैं उसका ज्ञान होता है और उससे, स्पष्ट रीति से ईश्वर की रचना का भी, उसने इन पदार्थों को रचा यह ज्ञान भी होता है। जगत् का प्रत्येक पदार्थ उस ईश्वर की रचना है और असल में उसके रचना रूप गुण ही का यह विस्तार है जिसे हम ब्रह्माण्ड कहते हैं। प्रकृति तो विकृत होकर वस्तुओं के वस्तुत्त्व (Thing in itself) के रूप में रहती है और अदृश्य ही रहती है। दिखाई देने वाला संसार बाह्य दृश्य-मात्र है जिसने ईश्वर की रचना रूप गुण के फैलाव से वर्त्तमान गुण रूप धारण किया हुआ है। फिर उपनिषद्वाक्य में कहा गया है कि भूत, भवत् और भविष्यत् और तीनों कालों से जो कुछ बाहर है वह भी सब ओंकार ही है।

निरुक्त के परिशिष्ट में एक जगह❖ भूत, भविष्यत् और सर्वम् शब्दों की महत् के नामों में गणना की गई है परन्तु यहाँ वे शब्द कालवाचक ही हैं। प्रकृति संसार में दो रूप में रहा करती है—एक उसका शुद्ध (करण) रूप जिसे सांख्य के आचार्य कपिल ने सत्, रजः और तमः की साम्यावस्था कहा है और दूसरा उसका विकृत रूप। पहला रूप जिसे वेद में असम्भूति⊗ कहा गया है उसका कुछ अनुमान हम शरीर से कर सकते हैं। यह शरीर नाममंात्र के लिए शरीर कहा जाता है असल में मूल प्रकृति आकाशवत् समस्त ब्रह्माण्ड में और उससे बाहर भी फैली हुई है। जिस प्रकार घड़े के भीतर के आकाश को घटाकाश और मठ (घर) के भीतर के आकाश को मठाकाश कहते हैं। यद्यपि ये आकाशांश ब्रह्माण्ड में व्याप्त आकाश से पृथक् नहीं परन्तु घट और मठ की अपेक्षा से इन्हें घटाकाश और मठाकाश कहते हैं इसी प्रकार मूल प्रकृति का वह अंश जो किसी व्यक्ति के शरीर के भीतर हुआ करता है कारण शरीर कहलाता है यद्यपि यह प्रकृत्यंश सर्वत्र व्याप्त मूल

❖ निरुक्त परिशिष्ट अ० १४ खं० १०

⊗ यजुर्वेद ४०/९

प्रकृति से पृथक् नहीं परन्तु मनुष्यों के शरीरों की अपेक्षा से उसे कारण शरीर कहा करते हैं। जिसे ब्रह्माण्ड कहते हैं वह प्रकृति की विकृत अवस्था मात्र और त्रिकाल का प्रयोग भी उसी के लिए सीमित है। यहाँ एक बात याद रखनी चाहिए कि समय और काल में भेद है। समय सादि और सान्त होता है परन्तु काल अनादि और अनन्त होता है। समय की उत्पत्ति सूर्य की उत्पत्ति से प्रारम्भ होती है। वर्ष, महीने, दिन आदि ये विभाग भी समय ही के हैं और भूत, भविष्यत् तथा वर्त्तमान ये विभाग भी समय ही के हैं, परन्तु काल इससे पहले भी रहता है इसलिए ब्रह्माण्ड जो प्रकृति का दूसरा और विकृत रूप है, तीन काल के अन्दर समझा जाता है परन्तु मूल प्रकृति ब्रह्माण्ड से बाहर भी है इसलिए उसे उपनिषद् के इस वाक्य में त्रिकालातीत अर्थात् तीनों कालों से बाहर कहा गया है।

प्रकृति सूर्य-चन्द्र आदि की उत्पत्ति से पहले भी रहती है जो तीनों कालों से बाहर की अवस्था है इसलिए उसे उचित रीति से त्रिकालातीत कहा गया है।

उपनिषद्वाक्य में तीनों कालों के अन्तर्गत रहने वाली ब्रह्माण्ड रूप विकृति और इससे बाहर रहने वाली प्रकृति को ओंकार ही कहा गया है। इस प्रकार प्रकृति विकृति सबको ओंकार ही कहने का कारण ईश्वर का सर्वव्यापकत्व है। यह बात एक उदाहरण से भली भाँति समझी जा सकती है। कल्पना करो कि लोहे का गोला है जिसे अग्नि से इतना तपाया गया है कि वह लाल होकर अग्नि सा दहक रहा है, अब इस गोले को लोहे का गोला भी कह सकते हैं क्योंकि वह वास्तव में लोहे का है और यदि उसे अग्नि का गोला कहें तब भी ठीक है क्योंकि उसे छूते ही हाथ जलने लगता है इसी प्रकार ब्रह्माण्ड और उससे बाहर स्थित प्रकृति को गोलास्थानी समझ और उसमें व्यापकत्व से ओत-प्रोत ईश्वर को अग्निस्थानी-तो

---

* उपनिषद् के इस वाक्य में काल शब्द का प्रयोग समय ही के लिए किया गया है।

उसे भी चाहे प्रकृति का गोला कहें तो भी ठीक है और यदि यह कहें कि ईश्वर रूपी अग्नि का गोला है तब भी ठीक है। यही भाव इस ब्रह्माण्ड को ओंकार कहने का है ॥ १ ॥

सर्वं ह्येतद् ब्रह्म । अयमात्मा ब्रह्म । सोऽयमात्मा चतुष्पात् ॥ २ ॥

अर्थ–(हि) निश्चय (एतत्) यह (सर्वम्) सब (ब्रह्म) ब्रह्म ही है (अयम्) यह (आत्मा) आत्मा (ब्रह्म) ब्रह्म है (सः) वह (अयम्) यह (आत्मा) आत्मा (चतुष्पात्) चार पाद वाला है ॥ २ ॥

व्याख्या– इस वाक्य में ३ बाक्य वर्णित हैं–

(१) यह सब (ब्रह्माण्ड) ब्रह्म है।

(२) यह सब (ईश्वर) ब्रह्म (महान्) है।

(३) ब्रह्म के ४ पाद हैं।

पहली बात–ब्रह्माण्ड को ब्रह्म कहना लोहे के गोले को उसमें व्याप्त अग्नि कहने के सदृश है जैसा पहले वाक्य की व्याख्या में कहा जा चुका है।

दूसरी बात–आत्मा शब्द का जीव और ईश्वर दोनों के अर्थों में आना सर्वसम्मत सिद्धान्त है। यहाँ आत्मा शब्द ईश्वर के अर्थों में है और उसको ब्रह्म–बड़ा या महान् कहा गया है।

तीसरी बात–उस ईश्वर को चार पाद वाला कहा गया है। ४ पाद का तात्पर्य जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय इन चार अवस्थाओं से है। जिस प्रकार जीव इन चार अवस्थाओं में रहा करता है उसी प्रकार ईश्वर से भी इन चार अवस्थाओं का सम्बन्ध जोड़ा गया है। प्रकृति तीन अवस्थाओं में रहा करती है–

उसका पहला और असली रूप उसका कारण रूप में रहना है।

दूसरी अवस्था वह है जिसमें प्रकृति विकृत होकर सूक्ष्म भूतों के रूपों में रहा करती है जिसका प्रारम्भ महत्तत्व से होता है और जिनकी समाप्ति १० इन्द्रियों तक हो जाती है।

तीसरी अवस्था प्रकृति की विकृति स्थूल अवस्था है जिसमें पञ्चभूत और उनसे उत्पन्न समस्त ब्रह्माण्ड का समावेश है।

(१) जिस प्रकार ब्रह्म अपने व्यापकत्व से कारण रूप प्रकृति में व्याप्त रहता है उसकी वह सुषुप्तावस्था कही जाती है।

(२) जिस समय वह सूक्ष्म भूतों में व्याप्त रहता है तब यह उसकी स्वप्न अवस्था समझी जाती है।

(३) और जब स्थूल भूतों और ब्रह्माण्ड में ओत-प्रोत होता है तब उसकी यह जाग्रत् अवस्था बतलाई जाती है।

तब तीनों अवस्थाओं को ब्रह्म का शबल रूप कहते हैं। शबल के अर्थ हैं–रंग-बिरंग वाला अर्थात् व्यक्त। इन तीनों अवस्थाओं को इसीलिए शबल कहते हैं कि इनमें ब्रह्म प्रकृति की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के अनुसार अपने गुणों से व्यक्त हुआ करता है। इसी अवस्था के लिए कठोपनिषद् में कहा गया है कि जिस प्रकार अग्नि एक होते हुए भी भुवन में प्रविष्ट होकर प्रत्येक रूप में प्रतिरूप हो जाती है उसी प्रकार ब्रह्म भी एक होते हुए व्यापकत्व से प्रत्येक रूप के प्रतिरूप हो जाता है।❖

ब्रह्म के इस शबल रूप के सिवा चौथा तुरीयस्थानी उसका अपना शुद्ध रूप है⊗ और यही उसका यथार्थ रूप है। इसी रूप के लिए, जहाँ तक मनुष्यों द्वारा उसके ज्ञान के प्राप्त करने का सम्बन्ध है, उपनिषद् में 'नेति नेति' का आदेश किया गया है। ब्रह्म के चार पादों के सम्बन्ध में यह प्रारम्भिक ज्ञातव्य बात है विस्तार के साथ उनका वर्णन आगे के पृष्ठों में मिलेगा ।। २ ।।

जागरितस्थानो बहिःप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः
स्थूलभुग्वैश्वानरः प्रथमः पादः ।। ३।।

अर्थ–(जागरितस्थानः) जाग्रत स्थान वाला (बहिःप्रज्ञः) बाहर बुद्धि वाला (सप्ताङ्गः) सात अंग वाला (एकोनविंशतिमुखः) उन्नीस मुख वाला (स्थूलभुक्) स्थूल भोगी (वैश्वानरः) वैश्वानर (प्रथमः पादः) पहला पाद है ।। ३ ।।

❖ अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ।।
(कठोपनिषद् ५/९)

⊗ ब्रह्म के शबल रूप काल की सीमा में हैं उसका शुद्ध रूप कालातीत होता है।

व्याख्या—जाग्रत् अवस्था में जीवात्मा की प्रज्ञा स्थूल जगत् में काम करती है और उसके कार्य क्षेत्र पांच इन्द्रिय-विषय = शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, सूक्ष्म और कारण शरीर, कुल सात अंग होते हैं और इनमें कार्य करने के साधन पांच प्राण, १० इन्द्रिय और ४ अन्तःकरण, कुल १९ शरीरावयव होते हैं जिनसे स्थूल जगत् के विषयों को ग्रहण किया जाता है। इसी प्रकार ईश्वर से सम्बन्धित जाग्रत् अवस्था वह समझी जाती है जब यह अपने (आलंकारिक) विराट् शरीर में, जो स्थूल और सूक्ष्म भूतों तथा कारणरूप प्रकृति से पूरा हुआ करता है, काम किया करता है और उसके कार्य के साधन भी, मनुष्य शरीरवत् उसके विराट् शरीरस्थ इन्द्रिय और अन्तःकरण आदि हुआ करते हैं। यहाँ यह बात समझ लेने के योग्य है कि मनुष्य शरीर में वह सब कुछ होता है जो शरीर से बाहर ब्रह्माण्ड में हुआ करता है। इसको निम्न भांति समझ लेना चाहिए—

ब्रह्माण्ड में उपस्थित वस्तुएँ		शरीर में उनके नाम	
(१) कारणरूप प्रकृति		(१) कारण शरीर	
(२) महत्तत्व	सूक्ष्म भूत	(२) बुद्धि	सूक्ष्म शरीर
(३) अहंकार		(३) अहंकार	
(४) ५ तन्मात्रा शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध		(४) इन्द्रिय विषय (शब्द, स्पर्श) रूप, रस, गन्ध	
(५) मन		(५) मन	
(६) दशेन्द्रिय		(६) दशेन्द्रिय	
(७) आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी पञ्च स्थूल भूत।		(७) स्थूल शरीर	

ब्रह्माण्ड में जो महत्तत्वादि हैं वे सभी उन-उन प्रकार की प्रकृतियों के ढेर हैं जिनमें से कुछ शरीर में जाकर उसी-उसी प्रकार के इन्द्रिय का रूप हो जाते हैं। जैसे महतत्व रूपी प्रकृति के ढेर में से कुछ अंश मनुष्य के शरीर में जाता है तो उसका

नाम बुद्धि हो जाता है। इसी प्रकार अहंकार, मन और प्रत्येक इन्द्रिय रूपी प्रकृति के ढेर में से जितना जितना अंश मनुष्य के शरीर में जाता है उस उसका नाम वही मन, अहंकार और कान, नाक और आँख आदि इन्द्रिय हो जाता है। अस्तु, इस प्रकार ब्रह्माण्ड में जब ईश्वर के सर्वव्यापकत्व और सर्वशक्तिमान् से गतिपूर्ण ब्रह्माण्ड का काम जारी रहता है, तब यह ईश्वर की जाग्रत् अवस्था कही और समझी जाती है। इस अवस्था में उसे वैश्वानर इसलिए कहते हैं कि वह जगत् में विद्यमान होते हुए सबको गति देता और नियन्त्रण में रखता है। जगत् की प्रत्येक वस्तु अपना काम चलाने के लिए शक्ति उसी से प्राप्त करती है* यह ब्रह्म का पहला पाद है। पाद शब्द के अर्थ सत्ता की अवस्था के हैं और यह शब्द गत्यर्थक पद धातु से बनता है ॥ ३ ॥

स्वप्नस्थानोऽन्तःप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः प्रविविक्तभुक्, तैजसो द्वितीयः पादः ॥ ४ ॥

अर्थ–(स्वप्नस्थानः) स्वप्न स्थान वाला (अन्तःप्रज्ञः) भीतर बुद्धि वाला (सप्ताङ्गः) सात अंग वाला (एकोनविंशतिमुखः) १९ मुख वाला (प्रविविक्तभुक्) सूक्ष्म भोगी (तैजसः) तैजस (द्वितीयः पादः) दूसरा पाद है ॥ ४ ॥

व्याख्या–जिस प्रकार स्वप्न अवस्था में इन्द्रियों का काम बन्द रहता है उसी प्रकार ब्रह्म की स्वप्न अवस्था वह है जिसमें वह अपने सर्वव्यापकत्व और सर्वशक्तिमत्व से सूक्ष्म भूतों में व्याप्त होकर अपने स्वाभाविक ज्ञान और कर्म से उन्हें इस योग्य बनाता है कि वे स्थूल जगत्-के रूप में परिवर्तित होकर काम चलाने के ७ अंग और १९ मुख वे ही होते हैं जिनका उल्लेख इससे पूर्व जाग्रतावस्था के वर्णन में किया जा चुका है। इस अवस्था में, मनुष्यों की स्वप्नावस्था के सदृश, उसका

---

* निरुक्त में वैश्वानर की व्युत्पत्ति इस प्रकार की गई है–"वैश्वानरः कस्माद्विश्वान्नरान् नयति विश्व एनं नरा नयन्तीति चापि वा विश्वान् एव स्यात्प्रत्युतः सर्वाणि भूतानि।" (निरुक्त ७ । २१)

अर्थात्–वैश्वानर वह है जो सब जीवों का नियन्ता है वा जो सबमें व्यापक होकर सब को चला रहा है।

काम बाहर नहीं अपितु भीतर ही हुआ करता है, इसीलिए इस उपनिषद्वाक्य में उसे अन्तःप्रज्ञा वाला कहा गया है अर्थात् उस की प्रज्ञा भीतर ही काम करती हुई होती है और वह इस प्रकार अन्तःप्रज्ञ होने से सूक्ष्म का भोक्ता अर्थात् सूक्ष्म भूतों से काम लेने वाला कहा और समझा जाता है। इस अवस्था में उसे तैजस कहा जाता है। प्रज्ञा और तैजस ये दोनों शब्द निरुक्त में आत्म (भीतरी) गति के लिए प्रयुक्त हैं[⊗] अर्थात् आत्मा (परमेश्वर) अपनी गति को भीतर काम देने में प्रयोग कर रहा है। यह ईश्वर का दूसरा पाद कहा जाता है ॥ ४ ॥

यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते,
न कञ्चन स्वप्नं पश्यति तत्सुषुप्तम्।
सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयो,
ह्यानन्दभुक् चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयः पादः ॥ ५ ॥

अर्थ–(यत्र) जब (सुप्तः) सोया हुआ (मनुष्य) (कञ्चन) किसी (कामम्) कामना को (न, कामयते) नहीं चाहता (कञ्चन) किसी (स्वप्नम्) स्वप्न को (न, पश्यति) नहीं देखता (तत्) वह (सुषुप्तम्) सुषुप्त अवस्था है। (सुषुप्त-स्थानः) सुषुप्त स्थान वाला (एकीभूतः) अपने स्वरूप में स्थित (प्रज्ञान घनः) उत्कृष्ट ज्ञान स्वरूप (एव) ही (आनन्दमयः) आनन्दमय (हि) निश्चय (आनन्दभुक्) आनन्दभोक्ता (चेतोमुखः) चेतनारूप मुख वाला (प्राज्ञः) विशेष प्रज्ञा वाला (तृतीयः) तीसरा (पादः) पाद है ॥ ५ ॥

व्याख्या–मनुष्य की सुषुप्तावस्था में जिस प्रकार न इन्द्रिय-व्यापार होता है न मन का कुछ काम जारी रहता है केवल आत्मा काम करता है और वह इच्छा रहित अपने आप (कारण शरीर) में निमग्न होता है इसी प्रकार ब्रह्म की सुषुप्तावस्था वह है जिसमें न स्थूल जगत् होता है न सूक्ष्म भूत। इसलिए इनमें, उसका जो काम, सर्वव्यापकत्व से होता है, बन्द

⊗ प्राज्ञश्चात्मा तैजश्चेत्यात्मगतिमाचष्टे । (निरुक्त १/२/३७)
अर्थात्–प्राज्ञ और तैजस शब्द आत्मगति और उसकी सत्यता की दो अवस्थाओं को प्रकट करते हैं।

रहता है और उसका कार्यक्षेत्र केवल कारणरूप प्रकृति होती है और उसी में उसका काम जारी रहता है।

यहाँ यह बात समझ लेने के योग्य है कि महाप्रलयावस्था में यह नहीं होता है कि प्रकृति के भीतर कुछ काम न होता हो। जिस प्रकार कोई खेत करते पैदावार से आगे पैदावार करने के अयोग्य हो जाता है तब कृषक उसे कई वर्ष तक खाली पड़ा रहने देता है। इस खाली पड़े रहने के काल में खेत का काम बन्द नहीं रहता, उसके अणु और परमाणु अपनी खोई हुई शक्ति को अपने भीतर लाते हैं। इसी प्रकार प्रकृति के सूक्ष्माति-सूक्ष्म परमाणुओं के भीतर भी विकृत होकर जगत् को उत्पन्न करने की योग्यता ईश्वर के उसमें व्यापकत्व और उसके स्वाभाविक ज्ञान और क्रिया से बराबर आती रहती है। अस्तु, सुषुप्तावस्था में ब्रह्म की समस्त शक्तियाँ, उसी (कारणरूप प्रकृति) में केन्द्रित होती हैं और वह स्वयं प्रज्ञानघन अर्थात् अपने चेतनामय स्वरूप से आनन्द ही का आधार समझा और कहा जाता है और इसीलिए इस अवथा में उसका नाम प्राज्ञ अर्थात् विज्ञानरूप होता है। यह ब्रह्म का तीसरा पाद कहा जाता है।

तात्पर्य इस सबका यह है कि महाप्रलयावथा में ईश्वर स्थूल और सूक्ष्म दोनों प्रकार के भूतों की दृष्टि से अव्यक्त होता और कारणरूप प्रकृति को, शक्ति प्रदान करता हुआ अपने सच्चिदानन्द स्वरूप में स्थित रहता है ।। ५ ।।

एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्य्याम्येष योनिः
सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम् ।। ६ ।।

अर्थ-(एषः) यह ओम् (सर्वेश्वरः) सबका स्वामी (एषः) यह (सर्वज्ञः) सबका ज्ञाता (एषः) यह (अन्तर्य्यामी) अन्तर्यामी (हि) निश्चय (एषः) यह (सर्वस्य) सब (भूतानाम्) भूतों, पदार्थों के (प्रभवाप्ययौ) उत्पत्ति और विनाश का (योनिः) कारण है ।। ६ ।।

व्याख्या-जिस ईश्वर की चर्चा उपनिषद् के उपर्युक्त वाक्यों में की गई, उपनिषद् के इस वाक्य में उसी की महिमा प्रकट की गई है, अर्थात् वह ईश्वर सबका स्वामी सर्वज्ञ

सर्वान्तर्यामी और समस्त सूक्ष्म और स्थूल भूतों की उत्पत्ति और विनाश का निमित्तकारण है ।। ६ ।।

नान्तःप्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं नोभयतः प्रज्ञं
न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्।
अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणम-
चिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्म्य प्रत्ययसारम्,
प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतम्,
चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः ।। ७ ।।

अर्थ–(न अन्तःप्रज्ञम्) न भीतर की ओर प्रज्ञा = बुद्धि वाला (न बहिःप्रज्ञम्) न बाहर की ओर प्रज्ञा वाला (न उभयतः प्रज्ञम्) न भीतर और बाहर दोनों ओर प्रज्ञा वाला (न प्रज्ञानघनम्) न उत्कृष्ट प्रज्ञा वाला (न प्रज्ञम्) न प्रज्ञा वाला (न अप्रज्ञम्) न प्रज्ञारहित (अदृष्टम्) अदृष्ट (अव्यवहार्यम्) व्यवहार में आने के अयोग्य (अग्राह्यम्) अग्राह्य (अलक्षणम्) जिसका लक्षण न हो सके (अचिन्त्यम्) अचिन्त्य (अव्यपदेश्यम्) अनिर्वचनीय (एकात्म्यप्रत्ययसारम्) एकात्म- प्रत्ययसार अर्थात् वह केवल आत्मा है, यही प्रतीति जिसका सार है (प्रपञ्चोपशमम्) प्रपञ्च जाग्रतादि अवस्थायें जहाँ शान्त हो जाती हैं (शान्तम्) शान्त (शिवम्) आनन्दमय (अद्वैतम्) अतुलनीय (चतुर्थम्) चौथा तुरीयपाद (मन्यन्ते) मानते हैं (सः) वह (आत्मा) आत्मा है और (सः विज्ञेयः) वह जानने के योग्य है ।। ७ ।।

व्याख्या–अव जीवात्मा की तुरीयावस्था का वर्णन इसलिए किया जाता है जिससे ब्रह्म की चतुर्थावस्था (चौथा पाद) समझा जा सके। जीवात्मा पहली तीन अवस्थाओं में स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों में काम किया करता है परन्तु उसकी चतुर्थ तुरीयावस्था वह होती है जिसमें इन तीनों शरीरों का अभाव हुआ करता है। इस अवस्था में उसके लिए कहा गया है कि यह अन्तःप्रज्ञ नहीं क्योंकि सूक्ष्म शरीर रहित है। वह वहिःप्रज्ञ अर्थात् सूक्ष्म शरीर से बाहर प्रज्ञा वाला भी नहीं है क्योंकि स्थूल शरीर भी नहीं होता और इसीलिए वह एक साथ

दोनों प्रज्ञा वाला भी नहीं हो सकता। वह उत्कृष्ट प्रज्ञा वाला (प्रज्ञानघन) भी नहीं क्योंकि कारण शरीर से भी सम्बन्ध रहित है, वह बाह्य जगत् का न जानने वाला है क्योंकि वह अब उस आत्मा से बाह्य जगत् के समस्त सम्बन्धों से परे है। वह देखा नहीं जा सकता क्योंकि इस व्यवहार से वह परे हो चुका है, उसे कोई पकड़ नहीं सकता क्योंकि कर्मेन्द्रियों के व्यवहार से भी वह परे है। उसका कोई लक्षण नहीं कर सकता क्योंकि वह चिह्न-रहित है। उसका कोई चिन्तन भी नहीं कर सकता क्योंकि वह मन की सीमा से भी बाहर हो चुका है। निष्कर्ष यह है कि इस (तुरीय) अवस्था में जीवन अनिर्वाच्य होता है उसे शब्द की सीमा में नहीं लाया जा सकता, अब वह केवल आत्मा है, बस इतना ही अब उसका ज्ञान है। वह प्रपञ्च जो पहली तीन अवस्थाओं में था, अब शान्त है।

यहाँ तक जीव की उल्लिखित तुरीयावस्था के उदाहरण से ब्रह्म की तुरीय अवस्था समझनी चाहिये। इस अवस्था में ब्रह्म स्थूल और सूक्ष्म भूतों के अभाव से न बहि:प्रज्ञ होता है, न अन्त:प्रज्ञ और न एक साथ इन दोनों प्रज्ञाओं वाला है। वह प्रज्ञानघन भी नहीं क्योंकि अपने स्वरूप से ब्रह्म कारण जगत् प्रकृति से भी परे होता है। वह जगत् के अभाव से न उसका ज्ञाता हो सकता है न अज्ञाता। जिस प्रकार जगत् में उसके गुणों द्वारा ज्ञानदृष्टि से उसे देखा जाता, व्यवहार में लाया जाता है ग्रहण और चिन्तन किया जाता है अब इन सबसे वह परे है। और इसीलिए इस अवस्था में अनिर्वाच्य कहा और माना जाता है। अब वह केवल आत्मा (ब्रह्म) है बस यही प्रतीति अब उसका ज्ञान है। वह प्रपञ्च-जगद्रचना, कर्मफल दातृत्व आदि के रूप में जो जगत् की स्थिति में पहली तीन अवस्थाओं में थे-अब शान्त है। अवस्था में शान्त शिव और अद्वैत ब्रह्म का चौथा पाद माना जाता है-यही ब्रह्म का असली स्वरूप है और जानने के योग्य है। जहाँ प्रथम की तीन अवस्थाओं का वर्णन विधि-भाव से होता है वहाँ चतुर्थ तुरीयावस्था का वर्णन सदैव निषेध मुख (नेति-नेति) से हुआ करता है ।। ७ ।।

सोऽयमात्माऽध्यक्षरमोङ्कारोऽधिमात्रं पादा मात्रा मात्राश्च पादा अकार उकारो मकार इति ॥८॥

अर्थ–(सः) वह (अयम्) यह (आत्मा) आत्मा (अधि-अक्षरम्) अक्षर में अधिष्ठित है और वह अक्षर (ओङ्कारः) ओंकार है और वह ओंकार (अधिमात्रम्) मात्राओं में अधिष्ठित है (पादः मात्राः) पाद मात्रा हैं (च) और (मात्राः पादः) मात्रा पाद हैं। (अकार, उकार, मकार, इति) और वे मात्रा अकार, उकार और मकार हैं ॥८॥

व्याख्या–उपनिषद् के इस वाक्य में वाचक वाच्य नाम और नामी का अभेद दिखलाया गया है। वाक्य का भाव निम्न चित्र से भली-भाँति हृदयांकित होगा। चित्र में ब्रह्म के साथ उसके पाद और ओंकार के साथ उसकी मात्रायें दिखलाई गई हैं–

	नामी	ब्रह्म के पाद			
(१)	ब्रह्म वा आत्मा	जाग्रत् में वैश्वानर	स्वप्न में तैजस	सुषुप्ति में प्राज्ञ	तुरीय में आत्मा
(२)	नाम	ओंकार की मात्रायें			
	ओंकार	अकार	उकार	मकार	अमात्र

अर्थात् वह आत्मा ओंकार है और ओंकार वह मात्रा (ब्रह्म) है-ब्रह्म के चार पाद* ओंकार की मात्रायें हैं और ओंकार की मात्रायें ब्रह्म के ४ पाद हैं ॥८॥

जागरितस्थानो वैश्वानरोऽकारः प्रथमा मात्राप्तेरादिमत्वाद्वाप्नोति ह वै सर्वान् कामानादिश्च भवति य एवं वेद ॥९॥

अर्थ–(जागरितस्थानः) जाग्रत अवस्था स्थान वाला (वैश्वानरः) वैश्वानर नाम वाला [जो पहला पाद है वही] (अकारः) अकार (प्रथमा मात्रा) ओंकार की पहली मात्रा है। (आप्तेः) उसके व्याप्त होने (या) (आदिमत्वात्) पहला होने से

---

* मात्रा वह है जो मापे या परिमाण बतलाए। (उणादिकोष ४/१६८)

(ह, वै) निश्चय (यः) जो (एवं वेद) उसे इस प्रकार जानता है, (सर्वान् कामान्) सब कामनाओं को (आप्नोति) प्राप्त करता है (च) और (आदिः) अगुआ (भवति) होता है ॥ ९ ॥

व्याख्या–इस से पहले वाक्य में जो ओंकार और ब्रह्म की अभेदता दिखलाई गई अब इस वाक्य से उसमें प्रयुक्त एक-एक मात्रा और एक-एक पाद का अभेद दिखलाना शुरू किया गया है। ब्रह्म का पहला पाद जाग्रत् स्थानी वैश्वानर है और ओंकार की पहली मात्रा अकार है तो नाम और नाम की अभेदता के सिद्धान्तानुसार वैश्वानर अकार है और अकार वैश्वानर है। इन दोनों की समता इस प्रकार है–

(१) वैश्वानर स्थूल जगत् के अभिमानी विराट् आत्मा को कहते हैं अर्थात् वैश्वानर वह है जो जगत् में सर्वत्र व्याप्त है इसलिए इस वाक्य में उसके दो विशेषण दिये हैं–

(क) सर्वत्र प्राप्त होना।

(ख) आदिम होना।

(२) अकार–'अ' आप् धातु से है जिसका अर्थ प्राप्त होना है। वर्णमाला में 'अ' से अधिक व्यापक न कोई स्वर है और न कोई व्यंजन, इसलिए इसका व्यापकत्व प्रत्यक्ष ही है। यह वर्णमाला का पहला अक्षर अथवा ओंकार की पहली मात्रा है इसलिए इसका आदिम (पहला) होना भी स्पष्ट है। इस प्रकार विचार करने से वैश्वानर और अकार की समता साफ तौर से प्रकट हो जाती है। इसके सिवाय वैश्वानर पहला पाद और अकार पहली मात्रा है इससे भी उनकी समता है।

वाक्यान्त में फलश्रुति कही गई है अर्थात् जो कोई ब्रह्म के पहले पाद वैश्वानर और ओंकार की पहली मात्रा अकार में अभेद जानकर उपासना करता है वह अपनी सम्पूर्ण कामनाओं को प्राप्त करता है और जगत् में अगुआ (मुखिया) भी बनता है ॥ ९ ॥

नोट–फलश्रुति अकार अथवा वैश्वानर के भावानुकूल ही है–असम्बद्ध रीति से वर्णित नहीं हुई।

स्वप्नस्थानस्तैजस उकारो द्वितीया मात्रोत्कर्षादुभयत्वाद्वोत्कर्षति ह वै ज्ञानसन्ततिम्। समानश्च भवति नास्याब्रह्मवित्कुले भवति, य एवं वेद ॥ १० ॥

अर्थ–(स्वप्नस्थानः) स्वप्न स्थान वाला (तैजसः) तैजस नाम वाला जो दूसरा पाद है वही (उकारः) उकार (द्वितीया मात्रा) ओंकार की दूसरी मात्रा है (उत्कर्षात्) (उसके) उत्कृष्ट (वा) और (उभयत्वात्) दोनों–प्रथमा और द्वितीया–होने से (ह, वै) निश्चय (यः) जो उसे (एवं वेद) इस प्रकार जानता है वह (ज्ञानसन्ततिम्) ज्ञान के प्रवाह को (उत्कर्षति) बढ़ाता है (च) और (समानः) तुल्य (भवति) होता है (अस्य कुले) इसके कुल में (अब्रह्मवित्) ब्रह्म का न जानने वाला (न भवति) नहीं होता ।। १० ।।

व्याख्या–स्वप्नस्थानी "तैजस" ब्रह्म का दूसरा पाद और उकार ओंकार की दूसरी मध्यवर्ती मात्रा है। इनकी अभेदता का तात्पर्य यह है कि तैजस उकार और उकार तैजस है।

तैजस और प्राज्ञ शब्द निरुक्तानुकूल जैसा कि कहा जा चुका है। आत्मसत्ता की दो अवस्थाओं को प्रकट करते हैं। तैजस वैश्वानर से उत्कृष्ट अवस्था है जैसे जगत् के स्वप्न, इसलिए तैजस में उत्कृष्टता का भी भाव है और उभयता का भी, इसलिए कि वह वैश्वानर और प्राज्ञ दोनों पादों का मध्यवर्ती है। दूसरी ओर उकार भी उत्कर्ष तथा अभय से लिया गया है इसके भीतर भी इसीलिए ये दोनों भाव उपस्थित हैं इससे उकार और तैजस की समता साफ तौर से प्रकट हो जाती है।

फलश्रुति वाक्यान्त में इस प्रकार वर्णित है कि जो कोई ब्रह्म के दूसरे पाद अथवा ओंकार की दूसरी मात्रा की अभेदता को लक्ष्य में रखकर, उपासना करता है उसमें ज्ञान की उत्कृष्टता और समता आती है। यह फल भी स्पष्ट है कि दूसरी मात्रा अथवा दूसरे पाद के अर्थानुकूल ही है। ऐसे उपासक के गृह में कौन कह सकता है कि उसकी सन्तान ब्रह्मवित् न होगी ।। १० ।।

सुषुप्तस्थानः प्राज्ञो मकारस्तृतीया मात्रा, मितेरपीतेर्वा मिनोति ह वा इदं सर्वमपीतिश्च भवति य एवं वेद ॥ 11 ॥

अर्थ–(सुषुप्तस्थानः) सुषुप्त स्थान वाला (प्राज्ञः) प्राज्ञ संज्ञा वाला जो तीसरा पाद है वही (मकारः) मकार (तृतीया मात्रा) ओंकार की तीसरी मात्रा है। (मितेः) मान (च) और अपीतिः) एकीभाव से (यः) जो (उसे) (एवं वेद) इस प्रकार जानता है, वह (इदम् सर्वम्) इस सबको (मिनोति) माप लेता है या यथार्थ ज्ञान प्राप्त करता है (च) और (अपीतिः) आत्ममय (भवति) होता है ॥ ११ ॥

व्याख्या–सुषुप्तस्थानी प्राज्ञ ब्रह्म का तीसरा पाद है और मकार ओंकार की तीसरी मात्रा है जिसका भाव यह है कि प्राज्ञ मकार है और मकार प्राज्ञ है। 'म्' मा धातु से है जिसका अर्थ मापना है। प्राज्ञ तैजस और विश्व सृष्टि की अन्तिम गति है अर्थात् उससे समस्त जगत् की माप होती है और इसलिए इसके भीतर प्रलय का भाव भी निहित है। इसी प्रकार ओंकार की समाप्ति सूचक मात्रा और अन्य मात्राओं का लय-स्थान है। उच्चारण में भी जहाँ उकार से मुँह खुलता है वहाँ मकार से बन्द हो जाता है, इससे दोनों (तृतीय पाद और तृतीय मात्रा) की समता और अभेदता प्रकट होती है।

फलश्रुति में कहा गया है कि जो कोई इस मान और दोनों [पाद और मात्रा] के एकीभाव को लक्ष्य में रखकर उपासना करता है वह इस समस्त ब्रह्मांड को माप लेता है अर्थात् उसका ज्ञान प्राप्त कर लेता है और वह लय का स्थान भी होता है अर्थात् समस्त प्राकृतिक संसार-शरीरों को पार करके अन्तर्मुखी होता हुआ आत्ममय हो जाता है ॥ ११ ॥

अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्य्यः प्रपञ्चोपशमः, शिवोऽद्वैत एवमोङ्कार आत्मैव, संविशत्यात्मनाऽऽत्मानं य एवं वेद य एवं वेद ॥ १२ ॥

अर्थ–(चतुर्थः) चौथा पाद (अमात्रः) मात्रा रहित (अव्यवहार्य्यः) व्यवहार के अयोग्य (प्रपञ्चोपशमः)

प्रपञ्च-रहित (शिवः) कल्याणरूप (अद्वैतः) अद्वितीय (एवम् ओङ्कारः) इस प्रकार ओंकार (आत्मा एव) आत्मा ही है (यः) जो (उसे) (एवं वेद) इस प्रकार जानता है वह (आत्मना) आत्मा के द्वारा (आत्मानम्) परमात्मा में (संविशति) प्रवेश करता है ।। १२ ।।

व्याख्या—वह चतुर्थ तुरीय पाद है जहाँ कथन की सीमा में आने वाले विधिमुख की समाप्ति हो जाती है और उसका वर्णन केवल निषेध मुख से किया जाता है जैसा कि कहा जा चुका है। इस वाक्य में इसीलिए चौथे पाद की तुलना में ओंकार को अमात्र कहा गया है, उसका भाव यह है कि यहाँ ओंकार रूप शब्दवाचक साम अथवा संज्ञा की समाप्ति हो जाती है और इस अवस्था में मनुष्य की आत्मा, नामी, वाच्य, अर्थ अथवा संज्ञी का साक्षात्कार कर लिया करती है। इसलिए इस वाक्य में इस अवस्था को, बोल-चाल के व्यवहार में आने के अयोग्य प्रकट करते हुए प्रपञ्चोपशम कहा गया है। प्रपञ्च दृश्यमान जगत् को कहते हैं। तात्पर्य यह है कि यहाँ तुरीयावस्था व्यक्त और अव्यक्त सभी प्रकार के जगत् के झगड़े समाप्त हो जाते हैं। त्रिमात्र ओंकार भी तुरीय के द्वार पर पहुंचकर अमात्र रह जाता है इसलिए इस अवस्था को कल्याणकारी अद्वितीय अवस्था कहते हैं।

निष्कर्ष यह है कि ओंकार वह आत्मा (ब्रह्म) ही है। जो इस प्रकार ओंकार को आत्मा (ब्रह्म) और आत्मा (ब्रह्म) को ओंकार समझते हुए उपासना करता है वह जीवात्मा के द्वारा परमात्मा में प्रवेश करता है। "य एवं वेद" का दुबारा पाठ ग्रन्थ की समाप्ति का सूचक है ।। १२ ।।

ओ३म्

उपनिषद् रहस्य

एकादशोपनिषद्

(मूल, शब्दार्थ, व्याख्या और श्लोक-मन्त्र शब्दानुक्रमणिका सहित)

भारतीय मनीषा का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण उपनिषद् हैं, ये आध्यात्मिक चिन्तन के सर्वोत्कृष्ट नवनीत हैं।

उपनिषद् शब्द का एक अर्थ 'रहस्य' भी है। उपनिषद् अथवा ब्रह्म-विद्या अत्यन्त गूढ़ होने के कारण साधारण विद्याओं की भाँति हस्तगत नहीं हो सकती, इन्हें 'रहस्य' कहा जाता है। इन रहस्यों को उजागर करने वालों में महात्मा नारायण स्वामीजी का नाम उल्लेखनीय है।

व्याख्याकार
महात्मा नारायण स्वामी
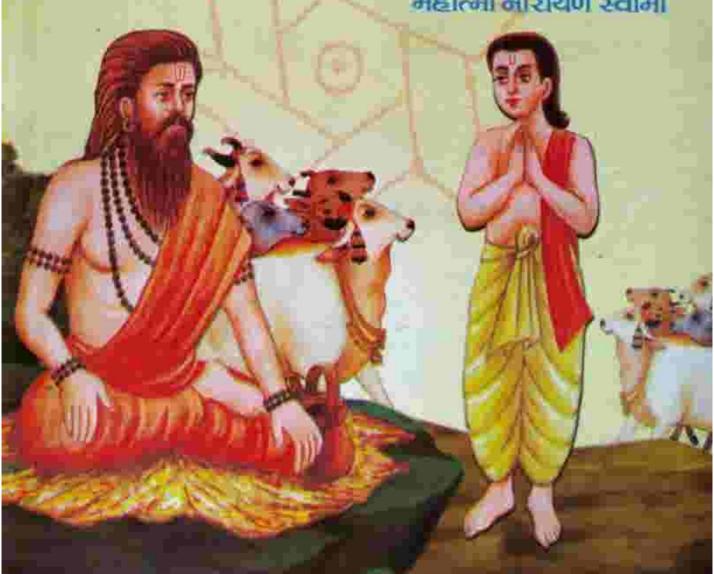
मुण्डक उपनिषद्

॥ ओ३म् ॥

अथ मुण्डकोपनिषद्

प्रथम मुण्डक

प्रथम खण्ड

ब्रह्मा देवानां प्रथमः संबभूव विश्वस्य कर्त्ता भुवनस्य गोप्ता।
स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्यांप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह ॥ १ ॥

अर्थ–(देवानाम्) देवों का (प्रथमः) पहला (विश्वस्य कर्त्ता) विश्व का कर्त्ता (भुवनस्य गोप्ता) जगत् का रक्षक (ब्रह्मा) ब्रह्मा (सम्बभूव) प्रकट हुआ। (सः) उसने (ज्येष्ठपुत्राय अथर्वाय) ज्येष्ठ पुत्र अथर्वा के लिए (सर्वविद्या प्रतिष्ठाम्) सब विद्याओं की बुनियाद (ब्रह्मविद्याम्) ब्रह्मविद्या का (प्राह) उपदेश किया ॥ १ ॥

अथर्वणे यां प्रवदेत ब्रह्माऽथर्वा तां पुरोवार्चाङ्गरे ब्रह्मविद्याम्।
स भारद्वाजाय सत्यवाहाय प्राह भारद्वाजोऽङ्गिरसे परावराम् ॥ २ ॥

अर्थ–(अथर्वणे) अथर्वा के लिए (यां) जिस (ब्रह्मविद्या) का (ब्रह्मा) ब्रह्मा ने (प्रवदेत) उपदेश किया था (अथर्वा) अथर्वा ने (अङ्गिरे) अङ्गी (नाम वाले विद्वान्) के लिए (ताम्) उस (ब्रह्मविद्याम्) ब्रह्म विद्या को (पुरा) पहले (उवाच) कहा (सः) उस (अङ्ग) ने (भारद्वाजाय सत्यवाहाय) भारद्वाज के पुत्र सत्यवाह के लिए (प्राह) कहा (भारद्वाजः) भारद्वाज के पुत्र ने (अङ्गिरा से) अंगिरा के लिए (परावराम्) पर श्रेष्ठ और अवर अश्रेष्ठ (विषयों की जानने वाली) विद्या को (प्राह) बतलाया ॥ २ ॥

व्याख्या–उपनिषद् के पहले वाक्य में ब्रह्मा के तीन विशेषण दिये गये हैं। (१) वह देवों में प्रथम देव था (२)

वह जगत्कर्त्ता था (३) वह जगत् का रक्षक था। प्रश्न यह है कि वह ब्रह्म कौन था। इसके तीन उत्तर दिये जा सकते हैं।

पहला उत्तर–वह ब्रह्मा कोई अन्य व्यक्ति न था किन्तु स्वयम् ईश्वर ही था। ईश्वर जब जगत् पैदा करना चाहता है। तब उसका नाम ब्रह्मा होता है। ब्रह्मा शब्द का अर्थ वृद्धि की इच्छा करने वाला है। उपनिषदों में इस प्रकार के वाक्य अनेक जगह प्रयुक्त हुए हैं कि ब्रह्मा ने जब प्रजा वाला होने की इच्छा की तो जगत् को उत्पन्न किया।❖ इसीलिए ब्रह्मा ईश्वर का नाम है। अथर्वा इत्यादि अमैथुनी सृष्टि के व्यक्ति सभी उसके ज्येष्ठ पुत्र हैं इसलिए उनमें से अथर्वा को उसने वेद ज्ञान दिया।

दूसरा उत्तर–बृहदारण्यकोपनिषद् में आया है (देखो १/४) कि प्रारम्भ में जीव पुरुष के रूप में था। जब वह अकेला होने से भयभीत हुआ तो उसके एक दाने की दो दालों के सदृश, दो भाग कर दिये गये जिनमें से एक पुरुष और दूसरा स्त्री कहलाया क्योंकि वह प्रारम्भ में इतना था जितना, एक साबित दाने की तरह, पुरुष और स्त्री मिलकर होते हैं।⊗ उस पुरुष को ज्ञान प्राप्त होने से ब्रह्मा संज्ञा हुई, वह मैथुनी सृष्टि का कर्त्ता और भर्त्ता था इसलिए उपनिषद् वाक्य में आये ब्रह्मा शब्द से

❖ (क) छान्दोग्योपनिषद् प्र० ६ खं० २ में है–"तदैक्षत बहुः स्यां प्रजायेयेति ।। अर्थात् उस (ब्रह्म) ने इच्छा की कि "मैं बहुत हूँ" (इसलिए प्रजा उत्पन्न करूं) "वहतीति बहुः"। वह जगत् का धारण, पोषण करता है इसलिए ईश्वर का नाम "बहु" है।

(ख) सोऽकामयत बहुः स्यां प्रजायेयेति ।। (तैत्ति० उप० ब्रह्मानन्द वल्ली अनु० ६) अर्थात् उस (ब्रह्म) ने चिन्तन किया कि मैं "बहुः" हूं इसलिए प्रजा वाला हो जाऊँ। इत्यादि।

⊗ आत्मैवा इदमग्र आसीत् पुरुषविधिः ××× (१) सोऽबिभेत्तस्मादेकाकी बिभेति ××× (२) स वै नैव रेमे तस्मादेकाकी न रमते स द्वितीयमैच्छत् स हैतावानास यथा स्त्रीपुमांसौ सम्परिष्वक्तौ स इममेवात्मानं द्वेधाऽपातयत्ततः पतिश्च पत्नी चाभवतां तस्मादिदमर्द्धवृगलमिव ××× (३) बृहदारण्यकोपनिषद् १/४/१/२/३

वही पुरुष अभिप्रेत है। उसका मैथुनी सृष्टि का उत्पन्न करना और ज्ञान देना स्पष्ट है।

तीसरा उत्तर–अमैथुनी सृष्टि के आरम्भ में चारों वेदों में से एक-एक का ज्ञान, अग्नि, वायु, आदित्य और अंगिरा को ईश्वर द्वारा प्राप्त हुआ। इनमें से प्रत्येक ने बाकी तीन-तीन वेदों का ज्ञान अन्यों से प्राप्त करके, सभी चारों आदिम ऋषि ब्रह्मा पदवाच्य हुए। और इन्हीं ब्रह्मा वाचक ऋषि समुदाय से मैथुनी सृष्टि का क्रम चला इसलिए वे उसके उत्पादक और रक्षक दोनों हुए और उन्होंने उस मैथुनी सृष्टि में उत्पन्न अथर्वा आदि को शिक्षा भी दी। इसलिए स्पष्ट है कि उपनिषद् के प्रारम्भ में प्रयुक्त ब्रह्मा शब्द इन्हीं ऋषियों के वास्ते है।

इन तीनों उत्तरों में से वे ही अन्त के उत्तर अधिक सुसंगत मालूम होते हैं। जिनमें ब्रह्मा जीव के लिए प्रयुक्त हुआ समझा गया है और उनमें से भी तीसरा उत्तर कि वेद प्रापक ऋषि ही ब्रह्मा थे अधिक सुसंगत है।

ब्रह्मा ने अथर्वा को, अथर्वा ने अंगी को, अंगी ने सत्यवाह को और सत्यवाह ने अंगिरा को उस ब्रह्म (वेद) विद्या का उपदेश दिया। उपनिषद् में ज्ञानप्राप्ति का यह जो क्रम कहा गया है इसका तात्पर्य यह नहीं है कि इस उपनिषद् का शिक्षक अंगिरा वेद वाक्य-प्रापक ऋषियों से पाँचवीं ही पीढ़ी में हुआ था किन्तु इस वाक्य में ये नाम सहस्रों के क्रम में से कुछेक बहुत प्रसिद्ध विद्वानों ने लिख दिये गये हैं क्योंकि उपनिषद् का अभिप्राय क्रमपूर्वक इतिहास लिखने का नहीं था किन्तु उनका उद्देश्य केवल यह दिखलाना था कि इस उपनिषद् का शिक्षक अंगिरा उन्हीं विद्वानों में से था जिन तक वेद के ऋषियों से क्रमपूर्वक ब्रह्मविद्या पहुँची थी और इसका तात्पर्य केवल उपनिषद् की शिक्षा की प्रामाणिकता का प्रदर्शन था।

'पर' और 'अपर' का भाव उसके सिवा जो ऊपर अंकित है, यह भी हो सकता है कि यह ब्रह्म विद्या 'पर' अर्थात् बड़े

और श्रेष्ठ विद्वानों से उनकी अपेक्षा अपर अर्थात् छोटे विद्वा तक परम्परा से चली आ रही है ।। १, २ ।।

शौनको ह वै महाशालोऽङ्गिरसं विधिवदुपसन्नः पप्रच्छ। कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति ।। ३

अर्थ–(ह, वै) प्रसिद्ध है कि (महाशालः) बड़ी शाला = गृह य विद्यालय वाले (शौनकः) शुनक के पुत्र शौनक ने (विधिवत्) मर्याद के अनुकूल (अंगिरसम्) अंगिरा ऋषि को (उपसन्नः) [उसके] समीप जाकर (पप्रच्छ) पूछा (भगवः) हे भगवन् ! (नु) निश्चय (कस्मिन् विज्ञाते) किसके जानने पर (सर्वम्; इदम्) यह सब (विज्ञातम्) जाना हुआ (भवति, इति) हो जाता है ।। ३ ।।

व्याख्या–जिस अंगिरा का ऊपर उल्लेख हो चुका है उसी ऋषि की सेवा में मर्यादानुसार उपस्थित होकर, श्रेष्ठ और सम्पन्न गृहस्थ शौनक ने पूछा कि वह क्या वस्तु है जिसके जान लेने से सब कुछ जाना हुआ हो जाता है?।। ३ ।।

तस्मै स होवाच द्वे विद्ये वेदितव्य इति ह स्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च ।। ४ ।।

अर्थ–(तस्मै) उस (शौनक) के लिए (सः) वह अंगिरा (ह) स्पष्ट (उवाच) बोला कि (द्वे विद्ये) दो विद्यायें (वेदितव्ये इति) जानने योग्य हैं (ह, स्म) निश्चय (यद्) जो (ब्रह्मविदः) ब्रह्म के जानने वाले (वदन्ति) कहते हैं, (परा, च, अपरा) परा और अपरा ।। ४ ।।

तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते ।। ५ ।।

अर्थ–(तत्र) उनमें (ऋग्वेदः) ऋग्वेद (यजुर्वेदः) यजुर्वेद (सामवेदः) सामवेद (अथर्ववेदः) और अथर्ववेद (शिक्षा) शिक्षा = स्वर और वर्णादि का उच्चारण विधि, (कल्पः) कल्प, जो वेद मन्त्रों के विनियोग पूर्वक, कर्मकाण्ड का विधान करता है, (व्याकरण) शब्दशास्त्र (निरुक्तम्) निरुक्त जिसमें वेद में आये शब्दों का निर्वचन किया गया है, (छन्दः) छन्दशास्त्र

(ज्योतिषम्) ज्योतिष विद्या (इति) ये (अपरा) अपरा हैं (अथ) और (परा) परा (वह विद्या है) (यया) जिससे (तदक्षरम्) वह अक्षर = अविनाशी (ब्रह्म) (अधिगम्यते) जाना जाता है ॥ ५ ॥

व्याख्या–ऋषि अंगिरा ने शौनक के प्रश्न का उत्तर देते हुए प्रकट किया कि परा और अपरा दो विद्यायें जानने योग्य हैं। ऋग्वेदादि अपरा विद्याएँ हैं और जिससे ब्रह्म को जान लिया जाता है उसे 'परा' विद्या कहते हैं। उपनिषद् के इस वाक्य में वेद को अपरा क्यों कहा? इसका कारण स्पष्ट है कि वेद केवल परा विद्या के ग्रन्थ नहीं अपितु अपरा के भी हैं अर्थात् वेद में जहाँ ब्रह्म विद्या की मूल शिक्षा अन्य स्थलों में तथा यजुर्वेद के ४०वें अध्याय में मुख्यतया दी गई है जिसका नाम 'ईशोपनिषद्' है और उपनिषदों की आधारशिला है वहाँ अन्य स्थलों पर गृहस्थ धर्म का भी वर्णन है, युद्ध करने का भी विधान किया गया है, अथवा चक्रवर्ती राज्य रखने का उल्लेख है, धन पैदा करने की भी आज्ञा दी गई है, इत्यादि अपरा का अर्थ भी यही है कि जो केवल परा न हो अर्थात् जो परा और अपरा दोनों का मिश्रण हो। अपरा* कोई निन्दा सूचक शब्द नहीं है किन्तु विषयों के प्रकार की दृष्टि से विद्या के परा और अपरा ये दो भेद किये गये हैं ॥ ४-५ ॥

यत्तदद्रृश्यमग्राह्यमगोत्रम्वर्णमचक्षुः श्रोत्रं तदपाणिपादम्।
नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं तद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः ॥ ६ ॥

अर्थ–(यत्) जो (अदृश्यम्) न देखा जा सके और अग्राह्यम् न पकड़ा जा सके (अगोत्रम्) जिसका कोई गोत्र नहीं (अवर्णम्) जिसका कोई रंग नहीं (अचक्षुः श्रोत्रम्) जिसको आँख और कान (आदि इन्द्रियों) की जरूरत नहीं। (अपाणि-पादम्) जिसे हाथ

* मैडम वलावट्स्की ने तिब्बती भाषा में एक ग्रन्थ (Book of Golden Precepts) से जो एक संक्षिप्त संग्रह तैयार करके Voice of the silence नाम रखा था, उसमें 'अपरा' को Head learning और 'परा' को Soul wisdom लिखकर उनका भेद दिखलाया था।

और पांव की भी आवश्यकता नहीं और (सर्वगतम्) जो सर्वत्र व्यापक और (सुसूक्ष्मम्) अत्यन्त सूक्ष्म है। (तद्) उस (अव्ययम्) क्षय रहित (नित्यम्) नित्य (विभुम्) व्यापक और (यद्) उस (भूतयोनिम्) जगत् के निमित्त कारण (ब्रह्म) को (धीराः) धीर पुरुष (परिपश्यन्ति) सर्वत्र देखते हैं ।। ६ ।।

व्याख्या–ऊपर परा (ब्रह्म) विद्या की बात कही गई है। जिसके द्वारा ब्रह्म की प्राप्ति होती है। ब्रह्म का कुछ ज्ञान शिष्य को हो जाय इसलिए आचार्य ने ब्रह्म के कुछेक गुणों का यहाँ वर्णन किया है।

(१) वह इन्द्रियों से नहीं प्राप्त किया जा सकता क्योंकि इन्द्रियों का विषय नहीं है।

(२) उसे अपना काम चलाने के लिए इन्द्रियों की जरूरत भी नहीं है।

(३) वह सूक्ष्म सर्वव्यापक और एक रस है।

(४) वह जगत् का निमित्त कारण है।

ऐसे ब्रह्म के लिए अंगिरा ऋषि कहते हैं कि उसे केवल धीर पुरुष प्राप्त कर सकते हैं। धीर पुरुष उन विद्वानों को कहते हैं जिनके मन, वाणी और आचरण में समता होती है ।। ६ ।।

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति।
यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि तथाऽक्षरात्सम्भवतीह विश्वम् ।। ७ ।।

अर्थ–(यथा) जैसे (ऊर्णनाभिः) मकड़ी (सृजते) जाला उत्पन्न करती (च) और (गृह्णाते) अपने भीतर समेट लेती है। (यथा) जैसे (पृथिव्याम्) पृथिवी पर (ओषधयः) औषधियां (सम्भवन्ति) उत्पन्न होती हैं (यथा) जैसे (सतः पुरुषात्) पुरुष = जीव के विद्यमान होने से (केशलोमानि) केश और लोम (उत्पन्न होते हैं) [तथा] वैसे ही (अक्षरात्) उस अविनश्वर पुरुष–ब्रह्म से (इह) यह (विश्वम्) ब्रह्माण्ड (सम्भवति) उत्पन्न होता है।

व्याख्या–ईश्वर से किस प्रकार जगत् उत्पन्न होता है इस के कतिपय उदाहरण दिये गये हैं।

पहला उदाहरण– मकड़ी अपने भीतर उपस्थित जाले के कारण से जाला उत्पन्न करती है और फिर उसे अपने भीतर कर लेती है।

दूसरा उदाहरण– पृथ्वी में बीज पड़ने से औषधियाँ उसी बीज का रूपान्तर होकर उत्पन्न होती हैं।

तीसरा उदाहरण– शरीर में जीव के मौजूद अपने कारण से उत्पन्न होते हैं।

इन उदाहरणों के अनुसार, अविनाशी ब्रह्म अपने अन्दर मौजूद जगत् के कारण प्रकृति से इस समस्त ब्रह्माण्ड को उत्पन्न किया करता है ॥ ७ ॥

तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमभिजायते ।
अन्नात् प्राणो मनः सत्यं लोकाः कर्मसु चामृतम् ॥ ८ ॥

अर्थ–(तपसा) ईक्षण से (ब्रह्म) वह अक्षर (चीयते) बढ़ता है (ततः) उससे (अन्नम्) अन्न (अभिजायते) उत्पन्न होता है (अन्नात्) अन्न से (प्राणः) प्राण, उस से (मनः) मन उससे (सत्यम्) सत्य = पंचभूत, उनसे (लोकाः) (सूर्यादि) लोक और मनुष्यादि [और उनमें कर्म] होते हैं ॥ ८ ॥

व्याख्या–प्रलय के बाद जगदुत्पत्ति का सूत्रपात ब्रह्म के ईक्षण से होता है। ईक्षण ब्रह्म की उस स्वाभाविक इच्छा का नाम है जो जगदुत्पत्ति से पहले उसमें उत्पन्न होकर गति को पैदा करती है, जिस गति से सत्, रज, तम की साम्यावस्था की समता टूटकर विषमता पैदा होती है और उसी विषमता से प्रकृति विकृति को प्राप्त होकर जगत् के पूर्वरूप महत्तत्वादि को पैदा किया करती है, इसी का नाम ब्रह्म का बढ़ना है। ब्रह्म प्रकृति को भी कहते है।* प्रकृति का कारण से कार्यरूप में

---

* देखो बृहदारण्यकोपनिषद् २/३/१/२
"द्वेवाव ब्रह्मणो रूपेः मूर्त्तञ्चैवामूर्त्तञ्च।"
यहाँ ब्रह्म शब्द पञ्चभूतों के समुदाय (प्रकृति) के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है इसीलिए आकाश और वायु को अमूर्त्त और अग्नि, जल और पृथिवी को मूर्त्त कहा गया है।

होना स्पष्ट रीति से उसका बढ़ना ही है। उपनिषद् के इस वाक्य में जगदुत्पत्ति क्रमपूर्वक वर्णित नहीं है किन्तु आवश्यकतानुसार उसकी कुछेक शृंखलाओं का वर्णन है। 'अन्न' का अभिप्राय गेहूं आदि अन्न से नहीं किन्तु महत्तत्व आदि सूक्ष्म भूतों से है जिससे ५ तन्मात्रा और मन आदि की उत्पत्ति होती है। सूक्ष्मभूतों से स्थूलभूत उत्पन्न होते हैं इसलिए 'सत्यम्' (व्यक्त) शब्द का अभिप्राय स्थूल भूतों से है और 'लोका' शब्द में, सूर्यादि लोक तथा मनुष्यादि योनियां दोनों का समावेश है ॥ ८ ॥

यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः ।
तस्मादेतद् ब्रह्म नाम रूपमन्नञ्च जायते ॥ ९ ॥

अर्थ–(यः) जो (सर्वज्ञः) सर्वज्ञाता (सर्ववित्) सब कुछ जानने वाला (यस्य) जिसका (ज्ञानमयं) ज्ञानपूर्वक (तपः) तप = कर्म हैं (तस्मात्) उसी सर्वज्ञ से (एतत्) यह (ब्रह्म) जगत् (नाम) नाम और (रूपम्) रूप (च) और (अन्नम्) अन्न (जायते) उत्पन्न होता है ॥ ९ ॥

व्याख्या–जगदुत्पत्ति कर्त्ता को सब कुछ जानने वाला तथा ऐसा होना चाहिए जिसका कर्म ज्ञानपूर्वक हो, इसी बात का उल्लेख उपनिषद् के इस वाक्य में किया गया है। नाम रूप का अभिप्राय बाह्य आकृति और रूप से होता है इसका तात्पर्य यह हुआ कि ईश्वर ने केवल जगत् (वस्तुतत्त्व) ही नहीं पैदा किया किन्तु जगत् में जो तरह-तरह के रूप और भिन्न-भिन्न प्रकार की आकृतियाँ दिखलाई देती हैं उनका उत्पन्न करने वाला भी वही ईश्वर है ॥ ९ ॥

इति प्रथमेमुण्डके प्रथमः खण्डः

प्रथमो मुण्डकः

द्वितीयः खण्डः

तदेतत्सत्यं मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यंस्तानि त्रेतायां बहुधा सन्ततानि। तान्याचरथ वियतं सत्यकामा एष वः पन्थाः स्वकृतस्य लोके ॥ १ ॥ १० ॥

अर्थ–(तत्) वह (एतत् सत्यम्) सत्य है (मन्त्रेषु) मन्त्रों में (यानि) जिन (कर्माणि) कर्मों को (कवयः) सूक्ष्मदर्शी विद्वान् (अपश्यन्) देखते थे (तानि) वे (कर्म) (त्रेतायाम्) तीन प्रकार के मन्त्र वाले चार वेदों में (बहुधा) अनेक प्रकार से (सन्ततानि) फैले हुए हैं (तानि) उन (कर्मों) को (सत्यकामाः) सत्य संकल्प होकर (नियतम्) नियत (आचरथ) आचरण करो (एषः) यह (वः) तुम्हारा (लोके) जगत् में (स्वकृतस्य) अपने किये कर्मों का (पन्थाः) मार्ग है ॥ १ ॥ १० ॥

व्याख्या–उपनिषद् में इस वाक्य द्वारा, कर्म और फल की उत्पत्ति का विवरण देने के बाद, कर्म करने का विधान किया गया है। वेदों में जिन कर्मों के करने का विधान है और जिन्हें सूक्ष्मदर्शी विद्वानों ने उन (वेदों) का ज्ञान प्राप्त करके प्रकट किया है उन्हें सत्यता के साथ सदैव करना चाहिये क्योंकि जगत् में मनुष्य का मार्ग अपने किये हुए कर्मों ही से बना करता है ॥ १ ॥ १० ॥

यदा लेलायते ह्यर्चिः समिद्धे हव्यवाहने। तदाज्यभागावन्तरेणाऽऽहुतीः प्रतिपादयेच्छ्रद्धयाहुतम् ॥ २ ॥ ११ ॥

अर्थ–(हि) निश्चय (यदा) जब (समिद्धे) समिधाओं से (हव्यवाहने) अग्नि से प्रदीप्त होने पर (अर्चिः) ज्वालाएँ (लेलायते) धधक उठती हैं (तदा) तब (आज्यभागौ) घृत की दो (अन्तरेण) क्रम से (आहुतीः) आहुतियाँ (प्रतिपादयेत्) देवें (श्रद्धया) श्रद्धा से (हुतम्) होम किया हुआ हो ॥ २ ॥ ११ ॥

व्याख्या–कर्म में मुख्य यज्ञ है इसलिए पहले उसी के करने की शिक्षा दी गई है। यज्ञ दो प्रकार से किये जाते हैं, एक

फल की इच्छा से, दूसरे कर्त्तव्य पालन करने के लिए केवल धर्म समझकर फल की इच्छा को छोड़कर करना। इनमें से पहला मनुष्य को आवागमन के चक्र में रखता है और दूसरा मोक्ष के कारणों में से एक कारण बना करता है। दोनों प्रकार की भावनाओं वाले यज्ञ का प्रारम्भ इसी प्रकार किया जाता है जैसा इस वाक्य में वर्णन है ॥ २ ॥ ११ ॥

यस्याग्निहोत्रमदर्शमपौर्णमासमचातुर्मास्यमनाग्रयण-मतिथिवर्ज्जितं च। अहुतमवैश्वदेवमविधिना हुतमश्रद्धया हुतमासप्तमान् तस्य लोकान् हिनस्ति ॥ ३ ॥ १२ ॥

अर्थ–(यस्य) जिस का (अग्निहोत्रम्) अग्निहोत्र (अदर्शम्) दर्श–अमावस्या के यज्ञ से रहित है (अपौर्णमासम्) और पूर्णमासी के यज्ञ से भी शून्य है। (अचातुर्मास्यम्) चातुर्मास्य सम्बन्धी यज्ञ से भी खाली है। (अनाग्रयणम्) आग्रयण शरद् ऋतु में विहित यज्ञ शून्य है (अतिथिवर्ज्जितम्) अतिथि यज्ञ वर्जित है। (अहुतम्) समय पर होम से रहित (अवैश्वदेवम्) वैश्वदेव कर्म से खाली है। (अविधिनाहुतम्) विधिरहित होम किया हुआ (अश्रद्धया, हुतम्) अथवा अश्रद्धा से किया हुआ है (तस्य) उसके (आसप्तमान्-लोकान्) सात लोकों को (हिनस्ति) नाश करता है ॥ ३ ॥ १२ ॥

व्याख्या–प्रत्येक गृहस्थ का धर्म है कि नैत्यिक यज्ञ के सिवा निम्न नैमित्तिक यज्ञों को यथासमय किया करे–

(१) दर्श– अमावस्या को जो यज्ञ किया जाता है उसका नाम दर्श है।

(२) पौर्णमास्यम्– प्रत्येक मास की पूर्णिमा को करना चाहिये।

(३) चातुर्मास्यम्– वर्षा ऋतु में किये जाने वाले यज्ञ का नाम चातुर्मास्य है।

(४) आग्रयण– वह यज्ञ है जो शीत ऋतु में किया जाता है।

(५) अतिथियज्ञम्– यह भी नैत्यिक यज्ञों में से एक है और प्रतिदिन किया जाना चाहिए।

(६) वैश्वदेवम्– यह भी नैत्यिक यज्ञों में से एक है और दैनिक होना चाहिये।

उपनिषद् के इस वाक्य में चेतावनी दी गई है कि जो इन विहित यज्ञों को नहीं करते अथवा जो करते हैं परन्तु विधि और श्रद्धा पूर्वक नहीं करते वे अपने समस्त लोकों को खराब करते हैं।

सात लोक-ये हैं (१) पृथिवी (२) वायु (३) अन्तरिक्ष (४) आदित्य (५) चन्द्रमा (६) नक्षत्र (७) ब्रह्मलोक, ये ही लोक हैं जिनमें से किसी न किसी लोक में प्राणी रहा करता है। परन्तु यज्ञ न करने वाले अथवा देवऋण से उऋण न होने वाले जिस लोक में भी जायेंगे वह उनके लिए शान्ति का स्थान न होगा। सातवें ब्रह्मलोक में तो अशुभकर्मी जा ही नहीं सकते ॥ ३ ॥ १२ ॥

काली कराली च मनोजवा च सुलोहिता या च सुधूम्रवर्णा।
स्फुलिङ्गिनी विश्वरूपी च देवी लेलायमाना इति सप्त जिह्वाः ॥ ४ ॥ १३ ॥

अर्थ–(काली) काली (कराली) तीक्ष्ण (मनोजवा) मन का सा वेग रखने वाली (सुलोहिता) लाल रंग वाली (या) जो (सुधूम्रवर्णा) धुएँ के रंग वाली (स्फुलिङ्गिनी) चिनगारी वाली (विश्वरूपी) अनेक रूप वाली (देवी) प्रकाशमयी (लेलायमाना) प्रदीप्त (सप्तजिह्वाः) सात ज्वालाएँ (अग्नि की) हैं ॥ ४ ॥ १३ ॥

व्याख्या–अग्नि की ज्वालाएँ, जो यज्ञ के लिए प्रज्ज्वलित की जाती हैं इन्हीं सात रूपों में से किसी न किसी रूप में हुआ करती है ॥ ४ ॥ १३ ॥

एतेषु यश्चरते भ्राजमानेषु यथाकालं चाहुतयो ह्याददायन्।
तन्नयन्त्येताः सूर्यस्य रश्मयो यत्र देवानां पतिरेकोऽधिवासः ॥ ५ ॥ १४ ॥

अर्थ–(हि) निश्चय (एतेषु) इन (भ्राजमानेषु) प्रकाशमान (अग्नि जिह्वा के) भेदों में (यथाकालम्) ठीक समय पर (यः) जो (चरते) हवन करता है (तम्) उस (यजमानं) यजमान को (एताः) ये (आहुतयः) आहुतियां (आददायन्)

ग्रहण करती हुईं (सूर्यस्य) सूर्य की (रश्मयः) किरणों के साथ (नयन्ति) पहुँचाती हैं (यत्र) जहाँ पर (देवानां, पतिः) देवों का स्वामी (एकः) अद्वितीय (अधिवासः) रहता है ॥ ५ ॥ १४ ॥

व्याख्या–जब विद्वान् इन प्रज्ज्वलित अग्नियों में यथाकाल और यथाविधि हवन करता है और उसके बदले में इच्छा कुछ नहीं करता तो इस निष्काम यज्ञ के बदले में उसे अद्वितीय ब्रह्म की प्राप्ति होती है ॥ ५ ॥ १४ ॥

एह्येहीति तमाहुतयः सुवर्च्चसः सूर्यस्य रश्मिभिर्यजमानं वहन्ति । प्रियां वाचमभिवदन्त्योऽर्च्चयन्त्य एष वः पुण्यः सुकृतो ब्रह्मलोकः ॥ ६ ॥ १५ ॥

अर्थ–(सुवर्च्चसः) प्रकाशयुक्त (प्रियाम्) प्रिय (वाचम्) वाणी को (अभिवदन्त्यः) बोलती हुईं (अर्च्चयन्त्यः) सत्कार करती हुईं (वे) (आहुतयः) आहुतियां (एहि एहि इति) आओ, आओ, ऐसा [कहती हुईं] (सूर्यस्य) सूर्य की (रश्मिभिः) किरणों के साथ (तम्) उस (यजमानम्) यजमान को (वहन्ति) ले जाती हैं [और कहती हैं कि] (एषः) यह (वः) तुम्हारा (पुण्यः) पवित्र (सुकृतः) अच्छे कर्म का [फलरूप] (ब्रह्मलोकः) ब्रह्मलोक है ॥ ६ ॥ १५ ॥

व्याख्या–अलंकार की रीति से वर्णन किया गया है कि वे निष्काम यज्ञ की आहुतियां मानो यजमान को बुलाकर अपने साथ ले जाकर उसे सूर्य किरणों द्वारा ब्रह्मलोक को पहुंचा देती हैं ॥ ६ ॥ १५ ॥

प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म। एतच्छ्रेयोये ऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापियन्ति ॥ ७ ॥ १६ ॥

अर्थ–(हि) निश्चय (एते) ये (यज्ञरूपाः) अग्निहोत्रादि (कर्म) (येषु) जिनमें (अष्टादशोक्तम्) अठारह ऋत्विज कहे जाते हैं (अवरं) अश्रेष्ठ (कर्म) (अदृढाः) स्थिरता रहित और (प्लवाः) नाशवान् हैं। (ये मूढाः) जो मूढ़ पुरुष (एतत्) यह (श्रेयः) श्रेय = मोक्ष का साधन है [ऐसा समझकर] (अभिनन्दन्ति) सन्तुष्ट होते हैं (ते) वे (जरा) बुढ़ापे और

(मृत्युम्) मृत्यु को (पुनः, एव) फिर भी (अपियन्ति) प्राप्त होते हैं ॥ ७ ॥ १६ ॥

अविद्यायामन्तरे वर्त्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः।
जंघन्यमानाः परियन्ति मूढा अन्धेनैवनीयमाना यथान्धाः ॥ ८ ॥ १७ ॥

अर्थ–(अविद्यायाम्) अविद्या के (अन्तरे) बीच में (वर्त्तमानाः) वर्त्तमान (स्वयं) अपने को (धीराः) धीर (पण्डितम्) पण्डित (मन्यमानाः) समझने वाले (जंघन्यमानाः) दुःखों के मारे हुए (मूढाः) मूढ़ पुरुष (अन्धेन एव) अन्धे ही से (नीयमानाः) ले जाये गये (यथान्धाः) जैसे अन्धे (परियन्ति) इधर-उधर भटकते हैं ॥ ८ ॥ १७ ॥

अविद्यायां बहुधा वर्त्तमाना वयं कृतार्था इत्यभिमन्यन्ति बालाः।
यत्कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात्तेनातुराः क्षीणलोकाश्च्यवन्ते ॥ ९ ॥ १८ ॥

अर्थ–(बालाः) अज्ञानी पुरुष (अविद्यायाम्) अविद्या में (बहुधा) अनेक प्रकार से (वर्त्तमानाः) फंसे हुए (वयम्) हम (कृतार्थाः) कृतार्थ हैं (इति) ऐसा (अभिमन्यन्ति) मानते हैं (यत्) जिस कारण (कर्मिणः) [सकाम] कर्म के कर्त्ता (रागात्) राग = फल में फंसे होने से [उसके परिणाम को] (न प्रवेदयन्ति) नहीं जानते (तेन) इससे (आतुराः) दुःख से आतुर (क्षीणलोकाः) कर्मफल के क्षीण होने पर (च्यवन्ते) गिरते हैं ॥ ९ ॥ १८ ॥

व्याख्या–सकाम यज्ञ करते हुए जो पुरुष उस को श्रेय मोक्ष मार्ग समझते हैं उनकी इन वाक्यों में उपनिषद् ने निन्दा की है। उपनिषद् के पहले वाक्य में कहा गया है कि यह १८ ऋत्विजों से किया हुआ सकाम यज्ञ [निष्काम की अपेक्षा] अस्थिर और अदृढ़ है जो लोग इसी को श्रेय = मोक्ष का साधन मानते हैं वे अज्ञानी पुरुष बुढ़ापे और मृत्यु के बन्धन से नहीं छूटते। फिर दूसरे वाक्य में उन्हीं, सकाम यज्ञ को श्रेय मानने वालों के लिए कहा गया है कि वे अविद्या-ग्रस्त हैं और दुःखों से सताये हुए होने पर भी, अपने को धीर और पण्डित मानते हैं। ऐसे पुरुष अन्धों के पीछे चलने वालों के सदृश अन्धे ही होते हैं।

फिर तीसरे वाक्य में उन्हीं के लिए कहा गया है कि अविद्या ग्रस्त होने पर भी अपने को यह अज्ञानी पुरुष कृतार्थ मानते हैं। ये सकाम यज्ञों के कर्त्ता फल में फंसे हुए होने के कारण उस सकाम यज्ञ की फल सीमा को नहीं समझते और शीघ्र ही उस कर्म फल के क्षीण होने पर गिर जाते हैं। स्पष्ट है कि इन वाक्यों में यज्ञों की निन्दा नहीं की गई है। सकाम यज्ञ अच्छा कर्म है परन्तु अच्छा होने पर भी अपनी सीमा रखता है और वह सीमा पुत्र-प्राप्ति आदि अभ्युदय = लोकोन्नति तक सीमित है। इससे ईश्वर अथवा मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसलिए जो लोग यज्ञों ही को सब कुछ समझते हैं और उन्हीं को मोक्ष-प्राप्ति का साधन मानते हैं, वे वास्तव में अज्ञानी और निन्दा के पात्र हैं और उन्हीं की उपनिषद् ने भी निन्दा की है ॥ ७, ८, ९ ॥ १६, १७, १८ ॥

इष्टापूर्तं मन्यमानाः वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढा।
नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीनतरञ्चाविशन्ति ॥ १० ॥ १९ ॥

अर्थ-(प्रमूढाः) कर्म फल में फंसे हुए (इष्ट) श्रौत = श्रुति के अनुकूल यज्ञ और (आपूर्त) स्मार्त कर्म = धर्मशाला, कुआं आदि बनाने को (वरिष्ठम्) श्रेष्ठ (मन्यमानाः) मानते हुए (अन्यत्) इससे भिन्न (श्रेयः, न) श्रेय = मोक्ष मार्ग कुछ नहीं (वेदयन्ते) जानते हैं। (ते) वे (सुकृते) सकाम कर्म के फल को (नाकस्य) स्वर्ग के (पृष्ठे) ऊपर (अनुभूत्वा) भोग कर (इमम्) इस (लोकम्) लोक को (हीनतरम्, च) और इससे भी हीन लोक को (आविशन्ति) प्रवेश करते हैं ॥ १० ॥ १९ ॥

व्याख्या-उपनिषद् के इस वाक्य में उपनिषद् के मन्तव्य को और भी अधिक साफ कर दिया है अर्थात् जो लोग इष्ट और आपूर्त ही को सबसे अधिक श्रेष्ठ मानते हुए श्रेय = मोक्ष मार्ग इसके सिवा और कोई नहीं है, ऐसा जानते हैं, ऐसे पुरुष वास्तव में मूढ़ हैं और सकाम यज्ञ के फल स्वर्ग को भोगकर इस लोक = साधारण मनुष्य योनि और इससे भी हीन योनियों को प्राप्त होते हैं ॥ १० ॥ १९ ॥

नोट–स्वर्ग स्थान विशेष का नाम नहीं है किन्तु मनुष्य योनि में जो पुरुष सांसारिक दुःखों से सर्वथा रहित हैं वे ही स्वर्ग-प्राप्त व्यक्ति हैं। यह विचार कि स्वर्ग कोई ऐसा लोक है जहाँ प्राणी स्थूल शरीर रहित होकर जाते हैं सर्वथा भ्रमपूर्ण है। शतपथ ब्राह्मण में साफ तौर से लिखा है कि–

"सह सर्वतनुरेव यजमानोऽमुष्मिल्लोके सम्भवति।"

(शतपथ ब्रा. ४/६/१/१)

अर्थात् यजमान स्वर्ग में समस्त शरीर के साथ उत्पन्न होता है।

तपः श्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्षचर्यां चरन्तः। सूर्य्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा ॥ ११ ॥ २० ॥

अर्थ–(ये) जो (शान्ताः) शान्त (विद्वांसः) विद्वान् (भैक्षचर्यां) भिक्षावृत्ति का (चरन्तः) आचरण करते हुए (अरण्ये) वन = एकान्त में (तपः) तप और (श्रद्धे) श्रद्धा में (उपवसन्ति) रहते हैं। (ते) वे (विरजाः) रज = मल रहित होकर (सूर्य्यद्वारेण) सूर्य की किरणों के द्वारा (प्रयान्ति) जाते हैं (यत्र) जहाँ (हि) निश्चय (सः) वह (अमृतः) अमर और (अव्ययात्मा) अविनाशी (पुरुषः) पुरुष है ॥ ११ ॥ २० ॥

व्याख्या–भैक्षचर्या = समस्त धन पैदा करने की वृत्तियों को छोड़कर, भिक्षा द्वारा केवल ८ ग्रास के योग्य अन्न प्राप्त करना और उसी का सेवन करना भैक्षचर्या कही जाती है। इस वाक्य में उपनिषद् ने उन पुरुषों की बात कही है जो संसार में किसी सांसारिक फल की इच्छा नहीं रखते और अपना उद्देश्य केवल ब्रह्म को प्राप्त करना रखते हैं। ऐसे पुरुष शान्ति के वातावरण में जब एकान्तवास करते हुए श्रद्धा के साथ तप का जीवन व्यतीत करते हैं अल्पाहारी हो जाते हैं तब उनकी आत्मशुद्धि होती है और वे विधिपूर्वक परमात्मा का साक्षात्कार किया करते हैं ॥ ११ ॥ २० ॥

परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन। तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ॥ १२ ॥ २१ ॥

अर्थ–(ब्राह्मणः) ब्रह्मविद्या का अधिकारी (कर्मचितान्) कर्म से प्राप्त होने वाले (लोकान्) लोक को (परीक्ष्य) परीक्षा करके (निर्वेदम्) वैराग्य को (आयात्) प्राप्त होवे (कृतेन) (सकाम) कर्म से (अकृतः) परमेश्वर (न, अस्ति) प्राप्त नहीं होता (तत्, विज्ञानार्थम्) उस परमेश्वर के जानने के लिए (सः) वह (जिज्ञासु) (समित्पाणिः) समिधा हाथ में लेकर (श्रोत्रियम्) वेद के जानने वाले (ब्रह्मनिष्ठम्) ब्रह्म में श्रद्धा रखने वाले (गुरुम्) गुरु को (एव) ही (अभिगच्छेत्) प्राप्त होवे ॥ १२ ॥ २१ ॥

व्याख्या–ईश्वर के प्राप्त होने के लिए जिस प्रकार के वातावरण की जरूरत है उसके बनाने के साधन उपनिषद् के इस वाक्य में दिये गये हैं।

(१) वह ब्रह्म विद्या में श्रद्धा रखता हो।

(२) सकाम कर्म से प्राप्त होने वाले फलों की जांच करके उनकी अस्थिरता को जान लेवे।

(३) वैराग्य वाला होता हुआ भली भाँति समझ ले कि ईश्वर-प्राप्ति का साधन सकाम कर्म नहीं।

(४) वेदज्ञ और ब्रह्मनिष्ठ गुरु की सेवा में आदर पूर्वक ब्रह्मविद्या की प्राप्ति के लिए उपस्थित होवे।

इन साधनों से सम्पन्न होकर ही कोई ब्रह्मज्ञान-प्राप्ति की इच्छा कर सकता है ॥ १२ ॥ २१ ॥

तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक् प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय। येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम् ॥ १३ ॥ २२ ॥

अर्थ–(प्रशान्तचित्ताय) शान्त चित्त (शमान्विताय) शम = इन्द्रिय और मन आदि पर अधिकार रखने वाले (उपसन्नाय) समीप आये (तस्मै) उस (जिज्ञासु) के लिए

(सः) वह (विद्वान्) विद्वान् (सम्यक्) ठीक-ठीक (येन) जिस (विद्या) से (अक्षरम्) अविनाशी (सत्यम्) तीनों काल में एक जैसा रहने वाले (पुरुषम्) ईश्वर को (वेद) जाना जाता है (ताम्) उस (ब्रह्मविद्याम्) ब्रह्मविद्या को (तत्त्वतः) यथार्थ रीति से (प्रोवाच) उपदेश करे ॥ १३ ॥ २२ ॥

व्याख्या–उस वेदज्ञ और ब्रह्मनिष्ठ गुरु का कर्त्तव्य यह है कि वह उस शान्त-चित्त और इन्द्रियजित, समीप आये हुए जिज्ञासु के लिए ठीक-ठीक उस ब्रह्म का उपदेश करे, जिस से अविनाशी और एकरस रहने वाले व्यापक ब्रह्म को प्राप्त किया जा सकता है ॥ १३ ॥ २२ ॥

इति प्रथमे मुण्डके द्वितीयः खण्डः

द्वितीयः मुण्डकः

प्रथमः खण्डः

तदेतत्सत्यं यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः। तथाक्षराद्विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापि यन्तिः ॥ १ ॥ २३ ॥

अर्थ–(तत्) वह (एतत्) यह (सत्यम्) सत्य है (यथा) जैसे (सुदीप्तात्) अच्छी प्रज्ज्वलित (पावकात्) अग्नि से (सरूपाः) समान रूप वाली (सहस्रशः) सहस्रों (विस्फुलिङ्गाः) चिनगारियाँ (प्रभवन्ते) उत्पन्न होती हैं (तथा) वैसे ही (सौम्य) हे प्रिय ! (अक्षरात्) अविनाशी (ब्रह्म) से (विविधाः) अनेक प्रकार के (भावाः) भाव (प्रजायन्ते) प्रकट होते हैं (च) और (तत्र, एव) उस ही में (अपियन्ति) लीन भी हो जाते हैं ॥ १ ॥ २३ ॥

व्याख्या–'एतत्' यहाँ ब्रह्म के संकेत के लिए है "तदेतत्सत्यम्" का अर्थ इसलिए यह हुआ कि वह ब्रह्म सत्य है, तब दिखलाई क्यों नहीं देता ? इस प्रश्न का उत्तर इस वाक्य में दिया गया है। वह उत्तर एक उदाहरण से प्रारम्भ किया गया है। जिस प्रकार प्रज्ज्वलित अग्नि से अनेक चिनगारियां निकलकर यदि अग्नि दिखलाई न भी देती हो तब भी उसे तो (चिनगारियाँ) प्रकट कर देती हैं। इसी प्रकार अंगिरा ऋषि शौनक से कहते हैं, कि उस अविनाशी ब्रह्म से अनेक प्रकार के भाव* पदार्थ सृष्टि के उत्पत्ति काल में उत्पन्न होते हैं और अन्त को प्रलयकाल आने पर उसी में लय हो जाते हैं। ये उत्पन्न हुए पदार्थ चिनगारी की तरह अग्निरूप ब्रह्म के न दिखलाई देने पर भी उसकी सत्ता को प्रकट करते रहते हैं। एक उर्दू के कवि ने बहुत अच्छा लिखा है–

---

* श्रीमत् शंकराचार्य तथा पं० भीमसेन आदि अनेक विद्वानों ने "भावा" का अर्थ "पदार्थाः" किया है।

तेरी तकवीर❖ की देती है गवाही दुनिया।
तेरी हस्ती✦ की शहादत❖ में है रचना तेरी ।।

दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः। अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात् परतः पुरः ॥ २ ॥ २४ ॥

अर्थ–(हि) निश्चय (दिव्यः) प्रकाशमान (अमूर्तः) मूर्ति रहित (पुरुषः) सर्वव्यापक (स) वह (ब्रह्म) (बाह्य, आभ्यन्तरः) बाहर और भीतर = सर्वत्र वर्तमान (अजः) जन्म रहित (हि) निश्चय (अप्राणः) प्राण रहित (अमनाः) मन से शून्य (शुभ्रः) पवित्रः (परतः अक्षरात्) सूक्ष्म अविनाशी। (प्रकृति और जीव) से (परः) सूक्ष्म है ।। २ ।। २४ ।।

व्याख्या–उसी ब्रह्म के कुछेक गुणों का वर्णन इस वाक्य में किया गया है जिससे उसकी सत्ता का कुछ अनुमान किया जा सके–

(१) दिव्य अलौकिक प्रकाश वाला है। कठोपनिषद् में उसके प्रकाश को धूम = विकार रहित प्रकाश कहा गया है।*
(२) अमृतः = शरीर रहित = अप्राकृतिक।
(३) पुरुषः = सर्वत्र व्यापक।
(४) संसार में आकाशवत् सब वस्तुओं के भीतर भी है और बाहर भी।
(५) अज = जन्म रहित अर्थात् नित्य।
(६) अप्राणः = प्राण रहित परन्तु प्राण से अधिक शक्ति वाला।
(७) अमनाः = मन रहित परन्तु मननशील।
(८) शुभ्रः = पवित्र।
(९) परतः परः = सूक्ष्म से भी सूक्ष्म ।। २ ।। २४ ।।

एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च। खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी ॥ ३ ॥ २५ ॥

❖ बड़प्पन
✦ सत्ता
❖ गवाही
* देखो 'ज्योतिरिवाधूमकः।' कठोपनिषद् ४/१३

अर्थ–(एतस्मात्) इसी (अविनाशी पुरुष) से (प्राणः) प्राण (मनः) मन, (सर्वेन्द्रियाणि) समस्त इन्द्रियां (च) और (खम्) आकाश (वायुः) वायु (ज्योतिः) अग्नि (आपः) जल (विश्वस्य) विश्व = सबको (धारिणी) धारण करने वाली (पृथिवी) पृथिवी (जायते) उत्पन्न होती है ।। ३ ।। २५ ।।

अग्निर्मूर्द्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्य्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदा वायुः प्राण हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा ।। ४ ।। २६ ।।

अर्थ–(अस्य) इस पुरुष का (अग्निः) द्युलोक (मूर्धा) मस्तक (चन्द्रसूर्यौ) चन्द्रमा और सूर्य (चक्षुषी) आँखें (दिशः) दिशाएँ (श्रोत्र) कान (वेदाः) वेद (विवृताः) फैली हुई (वाक्) वाणी (वायुः) वायु (प्राणः) प्राण (विश्वम्) समस्त जगत् (हृदयम्) हृदय (पद्भ्याम्) पैरों से (पृथिवी) भूमि (उपलक्षित होती है) (हि) निश्चय (एषः) यह (सर्वभूतान्तरात्मा) समस्त प्राणियों का अन्तरात्मा है ।। ४ ।। २६ ।।

व्याख्या–इसी ब्रह्म से प्राण, मन, समस्त इन्द्रिय तथा पञ्चभूत आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी उत्पन्न हुए अर्थात् वह समस्त ब्रह्माण्ड के पदार्थों का निमित्त कारण है, उपादान कारण प्रकृति है (२) उसी ब्रह्म का विराट् रूप पुरुष सूक्त की तरह यहाँ वर्णित है–

अग्निः = मूर्धा।
सूर्य्य = चन्द्र–आँखें।
दिशा = श्रोत्र।
वेद = वाणी।
वायु = प्राण।
विश्व = हृदय।
पृथिवी = पांव।

इस प्रकार वह समस्त ब्रह्माण्ड में परिपूर्ण और समस्त भूतों का अन्तरात्मा है अर्थात् समस्त भूत उसी की दी हुई शक्ति से अपने-अपने काम करने में समर्थ हैं ।। ३, ४ ।। २५, २६ ।।

तस्मादग्निः समिधो यस्य सूर्य्यः सोमात् पर्जन्य ओषधयः पृथिव्याम् । पुमान् रेतः सिञ्चति योषितायां बह्वीः प्रजाः पुरुषात् सम्प्रसूताः ॥ ५ ॥ २७ ॥

अर्थ–(तस्मात्) उस पुरुष से (अग्निः) अग्नि (अग्निकुण्ड रूप में) प्रकट होती है। (सूर्यः) सूर्य (यस्य) जिस (यज्ञ) की (समिधः) लकड़ी है (सोमात्) सोम से (पर्जन्यः) [जलरूप] बादल और (पृथिव्याम्) पृथिवी में (ओषधयः) औषधियां [उत्पन्न होती हैं] (पुमान्) पुरुष (रेतः) [औषधि से उत्पन्न] वीर्य (योषितायाम्) स्त्री में (सिञ्चति) सींचता है (बह्वीः) बहुत (प्रजाः) प्रजाएँ इस प्रकार (पुरुषात्) पुरुष से (सम्प्रसूताः) उत्पन्न होती हैं ॥ ५ ॥ २७ ॥

व्याख्या–उस (विराट्) पुरुष से, जिसका विवरण पहले दिया गया है [ब्रह्माण्ड रूपी] अग्नि प्रकट हुई जिस [यज्ञ] की समिधा सूर्य है और यज्ञ का फलस्वरूप सोम [यज्ञीय वाष्प] से बादल और उससे पृथिवी पर औषधियां उत्पन्न होती हैं उन औषधियों से वीर्य उत्पन्न होता है उसी वीर्य को जब पुरुष स्त्री के शरीर में सिंचन करता है तब बहुत सी प्रजाएँ पुरुष के निमित्त से उत्पन्न होती हैं ॥ ५ ॥ २७ ॥

नोट–उपनिषद् में जो सृष्टि की उत्पत्ति का विवरण दिया गया है वह पूरा और क्रमपूर्वक नहीं है। बीच की अनेक कड़ियां छोड़ दी गई हैं। उपनिषद् को यह इष्ट भी नहीं था कि जगदुत्पत्ति का विवरण देना अपना ध्येय बनाये उनका इष्ट तो ब्रह्मविद्या का विवरण देना था। उसी के खोलने और स्पष्ट करने के लिए जितना हाल सृष्टि का देना आवश्यक था उतना दे दिया।

तस्मादृचः साम यजूंषि दीक्षा यज्ञाश्च सर्वे क्रतवो दक्षिणाश्च। संवत्सरं च यजमानश्च लोकाः सोमो यत्र पवते यत्र सूर्यः ॥ ६ ॥ २८ ॥

अर्थ–(तस्मात्) उस (पुरुष) से (ऋचः) ऋचा (साम) साम (यजूंषि) यजुः [तीनों प्रकार के मन्त्र जो चारों वेदों में हैं] (दीक्षा) संस्कार (च) और (सर्वे) समस्त (यज्ञाः) यज्ञ (क्रतवः) बृहद् यज्ञ (दक्षिणाः) दान (च) और (संवत्सरम्)

काल के अंग (च) और (यजमानः) यज्ञकर्ता (च) और (लोकाः) लोक (यत्र) जहाँ (सोमः) चन्द्रमा (पवते) पवित्र करता है (यत्र) जहाँ (सूर्यः) सूर्य [पवित्र करता है] ॥ ६ ॥ २८ ॥

व्याख्या–उसी विराट् पुरुष [ईश्वर] से, जगदुत्पत्ति होती है और स्त्री पुरुष का जन्म होता है, वहाँ पुरुषों की ज्ञान प्राप्ति के लिए तीन प्रकार के मन्त्र जो चारों वेदों में फैले हुए हैं। उत्पन्न होते हैं और उन्हीं से दीक्षा, छोटे और बड़े यज्ञ और संवत्सर [समय] की उत्पत्ति होती है और यजमान और लोक भी उत्पन्न होते हैं। जिन्हें सूर्य और चन्द्र पवित्र करते रहते हैं ॥ ६ ॥ १८ ॥

नोट–काल और समय में अन्तर है। काल नित्य है परन्तु समय अनित्य है। समय और उसके विभाग दिन, रात, वर्ष आदि की उत्पत्ति सूर्य की उत्पत्ति के बाद से होती है। परन्तु काल उस समय भी रहता है जब कि सूर्य नहीं रहता यथा प्रलयकाल इत्यादि।

तस्माच्च देवा बहुधा सम्प्रसूताः साध्याः मनुष्याः पशवो वयांसि। प्राणापानौ ब्रीहियवौ तपश्च श्रद्धा सत्यं ब्रह्मचर्यं विधिश्च ॥ ७ ॥ २९ ॥

अर्थ–(तस्मात्) उस [पुरुष] से (बहुधा) अनेक प्रकार के (देवाः) देव (साध्याः) साधक (मनुष्याः) मनुष्य (पशवः) पशु (वयांसि) पक्षी (प्राणापानौ) प्राण और अपान (ब्रीहियवौ) धान और जौ (च) और (तपः) तप (श्रद्धा) सचाई को धारण करने वाली बुद्धि (सत्यम्) सत्य = धर्म (ब्रह्मचर्यं) ब्रह्मचर्य (च) और (विधिः) कर्त्तव्यविधि (सम्प्रसूताः) उत्पन्न हुई ॥ ७ ॥ २९ ॥

व्याख्या–इसी [विराट् पुरुष] से अनेक प्रकार के देव [उत्तम कोटि के मनुष्य] साधक [साधना करने वाले मनुष्य] और मनुष्य [साधारण कोटि के मनुष्य] पशु, पक्षी, प्राण और अपान आदि प्राणियों के जीवन साधन, धान और जौ आदि प्राणियों के खाद्य वस्तु तथा तप, श्रद्धा, सत्य, ब्रह्मचर्य और अन्य कर्तव्य विधियों को इसलिए उत्पन्न किया कि जिससे मनुष्य लोक और परलोक दोनों की सिद्धि कर सकें।

सप्तप्राणाः प्रभवन्ति तस्मात्सप्तार्चिषः सप्त समिधः सप्तहोमाः। सप्त इमे लोकाः येषु चरन्ति प्राणाः गुहाशयाः निहिताः सप्त सप्त ॥ ८ ॥ ३० ॥

अर्थ–(सप्त प्राणाः) सात प्राण (सप्तार्चिषः) सात ज्वालायें (सप्त समिधः) सात समिधायें (सप्त होमाः) सात होम (इमे) ये (सप्त, लोकाः) सात लोक (येषु) जिनमें (गुहाशयाः) हृदयाकाश में (निहिताः) स्थित (सप्त, सप्त) सात सात (प्राणाः) प्राण (चरन्ति) विचरते हैं (तस्मात्) उसी से (प्रभवन्ति) उत्पन्न होते हैं ॥ ८ ॥ ३० ॥

व्याख्या–उसी [विराट् पुरुष] से निम्न वस्तुयें भी उत्पन्न होती हैं–

नाम	लौकिक यज्ञ में उनका स्थान	आध्यात्मिक यज्ञ में उनका स्थान
७ प्राण	७ ऋत्विक् इस प्रकार –	२ आँखें
	२ यजमान पति तथा पत्नी	२ कान
	१ ब्रह्मा	१ मुख
	४ ऋत्विक्	२ नासिका
		७
		इन्हीं को सप्तऋषि भी कहते हैं और इनमें प्राण विचरता है।
७ ज्वालायें	७ प्रकार की ज्वालायें काली और कराली इत्यादि	७ इन्द्रियों की शक्ति जिससे वे विषय का ग्रहण करती हैं।
७ होम	७ प्रकार का लौकिक यज्ञ– २ दैनिक प्रातः तथा सायंकाल १ दर्श १ पौर्णमास १ चातुर्मास्य १ आग्रयण १ सांवत्सरिक	ये उपर्युक्त ७ इन्द्रियाँ जब सीमा में रहते हुए अपने विषयों को ग्रहण करती हैं तो वे इन्द्रिय व्यापार यज्ञ रूप ही होता है।
७ लोक	७ स्थान–जहाँ-जहाँ ये यज्ञ किये जाते हैं	७ इन्द्रियगोलक ही सप्त लोक हैं

गुहा नाम छिद्र गड्ढे या खाली जगह का है। जिस समय लौकिक यज्ञ में इसका प्रयोग होगा इसके अर्थ ऋत्विजों के निवास स्थान होंगे परन्तु जब यह शरीर के अन्तर्गत प्रयुक्त होगा तब इसके अर्थ हृदयाकाश या इन्द्रियों के छिद्र होंगे इसी गुहा में रहने वाले सात-सात ऋत्विक् या प्राण उपर्युक्त सात लोकों में विचरण करते हैं ॥ ८ ॥ ३० ॥

अतः समुद्रा गिरयश्च सर्वेऽस्मात्स्यन्दन्ते सिन्धवः सर्वरूपाः। अतश्च सर्वा ओषधयो रसश्च येनैष भूतैस्तिष्ठते ह्यन्तरात्मा ॥ ९ ॥ ३१ ॥

अर्थ-(अतः) इस (पुरुष) से (समुद्राः) समुद्र (च) और (सर्व) समस्त (गिरयः) पहाड़ उत्पन्न होते हैं। (अस्मात्) इसी से (सर्वरूपाः) सब प्रकार की (सिन्धवः) नदियां (स्यन्दन्ते) बहती हैं (च) और (अतः, सर्वा, औषधयः, च) उसी से समस्त औषधियां और (रसः) रस उत्पन्न होते हैं (येन) जिससे (एषः) यह (अन्तरात्मा) जीवात्मा (भूतः) भौतिक शरीर के साथ (तिष्ठते) ठहरता है ॥ ९ ॥ ३१ ॥

व्याख्या-उसी पुरुष की सत्ता सामर्थ्य से समुद्र, पहाड़ और नदियाँ उत्पन्न होकर अपना-अपना काम करती हैं और उसी के सामर्थ्य से अनेक प्रकार के रस भी उत्पन्न होते हैं जिनके द्वारा शरीर स्थित रहकर जीवात्मा का निवास स्थान बनता है ॥ ९ ॥ ३१ ॥

पुरुष एवेदं विश्वं कर्म तपो ब्रह्म परामृतम्। एतत् यो वेद निहितं गुहायां सोऽविद्याग्रन्थिं विकिरतीह सौम्य ॥ १० ॥ ३२ ॥

अर्थ-(इदम्) यह (विश्वम्) विश्व (पुरुष एव) पुरुष ही है (कर्म) कर्म (तपः) तप (परामृतम्) परम अमृत रूप (ब्रह्म) ब्रह्म है (सौम्य) हे प्रिय ! (यः) जो पुरुष (गुहायाम्) हृदयाकाश में (निहितम्) स्थित (एतत्) इस (पुरुष) को (वेद) जानता है (सः) वह (इह) इस जगत् में (अविद्याग्रन्थिम्) अविद्या ग्रन्थि को (विकिरति) खोल देता है ॥ १० ॥ ३२ ॥

व्याख्या-एक लोहे के गोले को जब खूब तपाते हैं और तपकर वह अग्निमय होकर दहकती हुई अग्नि की तरह लाल

हो जाता है तब उस गोले को यदि अग्नि कहो तब भी ठीक है। क्योंकि वह सभी को भस्म कर सकता है। यदि उसे लोहा कहो तब भी ठीक है क्योंकि वास्तव में वह लोहे का पिण्ड है। ठीक इसी प्रकार इस ब्रह्माण्डरूपी लोहे के गोले में ब्रह्मरूपी अग्नि, अपने सर्वव्यापकत्व गुण से, ओत-प्रोत है और इस गोले को ब्रह्माग्निमय बना रहा है, ऐसी हालत में इस ब्रह्माण्ड को यदि प्राकृतिक जगत् कहें तब भी ठीक है क्योंकि यह बना ही प्रकृति से है और यदि यह कह देवें कि यह सब ब्रह्म है तब भी ठीक है क्योंकि ब्रह्म उसमें अग्नि की तरह ओत-प्रोत है। उपनिषद् के इस वाक्य में इसलिए इस विश्व को पुरुष [ब्रह्म] कहा गया है।

कर्म और तप ब्रह्म की प्राप्ति के असन्दिग्ध कारण हैं और असन्दिग्ध कारण के स्थान पर कार्य का प्रयोग देखा जाता है जैसा एक ब्राह्मण ने एक जगह लिखा है कि "आयुर्वैघृतम्।" घृत, आयु वृद्धि का असन्दिग्ध कारण है। इसलिए आयु ही को इस वाक्य में घृत कहा गया है। इसी प्रकार कर्म और तप को भी इस उपनिषद् वाक्य में ब्रह्म कहा गया है। कर्म और तप को ईश्वर के व्यापकत्व से भी लोहे के गोले के सदृश, ब्रह्म कहा जा सकता है–

उपनिषद् के इस वाक्य में शिक्षा यह दी गई है कि जो पुरुष ऐसे महान् ईश्वर को अपने हृदय में स्थित देखता है और उसका ज्ञान प्राप्त किया करता है वह समस्त अविद्याओं, मिथ्या ज्ञानों से छूट जाया करता है ।। १० ।। ३२ ।।

इति द्वितीये मुण्डके प्रथमः खण्डः

द्वितीयः मुण्डकः

द्वितीयो खण्डः

आविः सन्निहितं गुहाचरन्नाम महत्पदमत्रैतत्समर्पितम्। एजत्प्राणन्निमिषच्च यदेतं जानथ सदसद्वरेण्यं परं विज्ञानाद्यद्वरिष्ठं प्रजानाम् ॥ १ ॥ ३३ ॥

अर्थ–(आविः) प्रकाशमान (सन्निहितम्) सबमें स्थित (गुहाचरं, नाम) हृदयाकाश में विचरने वाला इस नाम वाला (महत्) महान् (पदम्) पदवाला (अत्र) इस में = ऐसे ब्रह्म में (एजत्) चलने वाले (प्राणत्) श्वास लेने वाले (च) और (निमिषत्) निमेष + पलक मारने वाले (एतत्) ये सब (समर्पितम्) प्रविष्ट हैं (यत्) जो (सद्) सूक्ष्म (असद्) महान् (वरेण्यम्) ग्रहण करने योग्य (वरिष्ठम्) सबसे श्रेष्ठ (प्रजानाम्) प्राणियों के (विज्ञानात्) विशेष ज्ञान से (परम्) आगे है (तद्) उस (एतत्) इस (ब्रह्म) को (जानथ) जानो ॥ १ ॥ ३३ ॥

व्याख्या–वह ब्रह्म जो सर्वव्यापक, सर्वाधार, अत्यन्त सूक्ष्म और महत्तम है उसे हृदयाकाश में विचरने वाला केवल इसलिए कहा जाता है कि मनुष्य उसे अपने अन्दर की ओर चलकर हृदय मन्दिर में प्राप्त कर सकता है। यही वह स्थान है जहाँ अन्तर्मुखी आत्मा और ब्रह्म का संगम होता है और आत्मा उसका ज्ञान प्राप्त किया करता है ॥ १ ॥ ३३ ॥

यदर्चिमद्यदणुभ्योऽणुर्यस्मिन् लोकाः निहिता लोकिनश्च। तदेतदक्षरं ब्रह्म स प्राणस्तदु वाङ्मनः तदेतत्सत्यं तदमृतं तद्वेद्धव्यं सौम्य विद्धि ॥ २ ॥ ३४ ॥

अर्थ–(यत्) जो (अर्चिमद्) प्रकाशमान है (यत्) जो (अणुभ्यः) सूक्ष्म से (अणुः) सूक्ष्म है (यस्मिन्) जिसमें (लोकाः) समस्त लोक (च) और (लोकिनः) उनके निवासी (निहिताः) स्थित हैं (तद्, एतद्) वह यह (अक्षरम्) अविनाशी

(ब्रह्म) और महान् है (सः) वह (प्राणः) [सबका जीवनाधार होने से] प्राण है (तद्, उ) वही (वाङ्) वाणी और (मनः) मन [का प्रवर्तक होने से वाणी और मन भी] है (तद्, एतद्) वह यह (सत्यम्) सत्य (तद्) वह (अमृतम्) अमर और (तद्) वह (वेद्धव्यम्) बेधने [लक्ष्य बनाने] के योग्य है (सौम्य) हे सौम्य ! [इसलिए उसको] (विद्धि) वेध–अपना लक्ष्य = निशाना बना ।। २ ।। ३४ ।।

व्याख्या–वह प्रकाशस्वरूप ब्रह्म जो महान् से महान् होने से, सम्पूर्ण लोकों का आश्रय स्थान है और जो शरीर और प्राण में प्राणत्व प्रदान किया करता है। इसीलिए उसे मन, वाणी और प्राण भी कहते हैं। सत्य और अमर होने से, लक्ष्य = अन्तिम ध्येय बनाने योग्य है और इसीलिए उपनिषद् कहती है कि उसे प्रत्येक मनुष्य को अपना अन्तिम ध्येय बनाना चाहिये क्योंकि उसे अपना अन्तिम ध्येय बनाने से, मनुष्यों के समस्त कार्य उस लक्ष्य से प्रभावित होंगे और वे कोई भी कार्य ऐसा न कर सकेंगे जो उन्हें सत्यता और अमरता के पथ से विचलित कर सके ।। २ ।। ३४ ।।

धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं शरं ह्युपासा निशितं सन्धीयत
आयम्य तद्भावगतेन चेतसा लक्ष्यम् तदेवाक्षरं सौम्य विद्धि ॥ ३ ॥ ३५ ॥

अर्थ–(औपनिषदम्) उपनिषद् = ब्रह्म विद्या रूपी (महास्त्रम्) महा अस्त्र (धनुः) धनुष (गृहीत्वा) पकड़कर (हि) निश्चय के साथ उसमें (उपासा) उपासना के (निशितम्) तीक्ष्ण (शरम्) वाण को (सन्धीयत) जोड़े (तद्) उस ब्रह्म में (भावगतेन) लीन हुए (चेतसा) चित्त से (आयम्य) खींच कर (तद्, एव) उस ही (लक्ष्यम्) लक्ष्य = ब्रह्म को (सौम्य) हे सौम्य ! (विद्धि) बींध ।। ३ ।। ३५ ।।

व्याख्या–उपनिषद् के इस वाक्य में यह शिक्षा दी गई है कि किस प्रकार ब्रह्म रूपी लक्ष्य को बींधना चाहिये–

(१) ब्रह्मविद्या तो उस लक्ष्य को बींधने के लिए धनुष है।

(२) उपासना अर्थात् ब्रह्मविद्या (उपनिषद्) में बतलाये हुए, ब्रह्मप्राप्ति के विधानों को, काम में लाने रूप बाण को, उस धनुष में लगाना।

(३) ब्रह्म में चित्त को लीन करना मानो उस बाण का खींचना है।

(४) बाण का चलाना मानों ब्रह्म रूपी लक्ष्य को बींध लेना है।

इस अलंकार का भाव यह है कि ब्रह्मप्राप्ति के लिए जिज्ञासु को उपनिषदों के अध्ययन द्वारा ब्रह्मप्राप्ति के साधनों का ज्ञान प्राप्त करके उसे कार्य में परिणत करना चाहिए। इसी क्रिया को उपासना कहते हैं। उपासना करते हुए जिज्ञासु को अपने चित्त को ब्रह्म में लीन कर देना चाहिए। चित्त के ब्रह्म में लीन कर देने का भाव यह है कि उसकी बाहर जाने वाली वृत्तियां विरुद्ध हो गईं और आत्मा की अन्तर्मुखी वृत्ति जागृत होकर अपना काम करने लगीं। इसी से परमात्मा का साक्षात्कार हुआ करता है ।। ३ ।। ३५ ।।

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ।। ४ ।। ३६ ।।

अर्थ–(प्रणवः) ओंकार (धनुः) धनुष है (हि) निश्चय (आत्मा) जीवात्मा (शरः) बाण है (तद्, ब्रह्म) वह ब्रह्म (लक्ष्यम्) लक्ष्य (उच्यते) कहा जाता है (अप्रमत्तेन (प्रमाद = आलस्य रहित (चित्त) से (वेद्धव्यम्) बींधना चाहिए (शरवत्) बाण के तुल्य (तन्मयः) तन्मय उसमें एकाग्र (भवेत्) होवे ।। ४ ।। ३६ ।।

व्याख्या–उपनिषद् के इससे पूर्व कहे हुए वाक्य में जो शिक्षा अलंकार द्वारा दी गई थी वही शिक्षा इस वाक्य में एक दूसरे अलंकार के द्वारा वर्णित है–

(१) प्रणव अर्थात् ओंकार धनुष है।

(२) जीवात्मा बाण है।

(३) लक्ष्य जहाँ निशाना लगाना है वह ब्रह्म है।

(४) उपर्युक्त धनुष द्वारा लक्ष्य को बींधने के लिए दो बातों की जरूरत है–

(क) जिज्ञासु प्रमाद (आलस्य) रहित हो।

(ख) चित्त को एकाग्र किये बिना कोई साधारण से साधारण निशाना भी नहीं लगा सकता इसलिए अभूतपूर्व लक्ष्य बींधने के लिए तो लक्ष्य में चित्त का तन्मय (एकाग्र) होना अनिवार्य है।

(५) जब जिज्ञासु इन दो बातों को काम में लाकर अपनी आत्मा को ओंकार के जप आदि विधानों में लगाता है तभी वह इस योग्य होता है कि ब्रह्म को प्राप्त कर सके ।। ४ ।। ३६ ।।

अस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः।
तमेवेकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथ अमृतस्यैष सेतुः ॥ ५ ॥ ३७ ॥

अर्थ–(अस्मिन्) इस [पुरुष] में (द्यौः) प्रकाश वाले समस्त लोक (पृथिवी) प्रकाश रहित समस्त लोक (च) और (अन्तरिक्षम्) आकाश (च) और (सर्वैः प्राणैः) समस्त प्राणों के (सह) साथ (मनः) मन (ओतम्) समर्पित है (तम्, एव) उस ही (एकम्) एक (आत्मानम्) आत्मा को (जानथ) जानो (अन्याः) उससे भिन्न अन्य (वाचः) बातों को (विमुञ्चथ) छोड़ो (एषः) यही [आत्मा] (अमृतस्य) अमृत = मोक्ष का (सेतुः) पुल है ।। ५ ।। ३७ ।।

व्याख्या–वह पुरुष [ब्रह्म] जिसको लक्ष्य बनाकर बींधने की बात इससे पहले दो वाक्यों में कही जा चुकी है, क्यों प्राप्त करने योग्य है? इसका उत्तर उपनिषद् के इस वाक्य में दिया गया है। वह उत्तर इस प्रकार है–

उस पुरुष [ब्रह्म] में एक समस्त प्रकाश और अप्रकाश वाले लोक और अन्तरिक्ष स्थित हैं तो दूसरी ओर प्राणों के साथ मन भी उसी को समर्पित है। ऐसा महान् परब्रह्म परमेश्वर अद्वितीय होते हुए अमरता का पुल भी है। अमर जीवन प्राप्त करने के लिए इसी पुल से गुजरना होगा। अतः आवश्यक है कि मनुष्य उस ओर चले। इसीलिए उसे लक्ष्य बनाने और

लक्ष्य बनाकर उसके बींधने का विधान उपनिषद् में किया गया है ।। ५ ।। ३७ ।।

अरा इव रथनाभौ संहता यत्र नाड्यः स एषोऽन्तश्चरते बहुधा जायमानः। ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानं स्वस्ति वः पाराय तमसः परस्तात् ॥ ६ ॥ ३८ ॥

अर्थ–(यत्र) जहाँ (रथनाभौ) रथनाभि = धुरे में (अरा, इव) अरों के समान (नाड्यः) नाड़ियां (संहताः) जुड़ी हुई हैं (सः, एव) वह यह (आत्मा) (बहुधा) अनेक प्रकार से (जायमानः) प्रकट हुआ (अन्तः) भीतर (चरते) विचरता है (आत्मानम्) उस आत्मा को (ओम्) ओम् (इति) ऐसा और (एवम्) इस प्रकार [समझ कर] (ध्यायथ) ध्यान करो, वह (तमसः) अन्धकार से (परस्तात्) परे और (पाराय) पार होने के लिए है। (वः) तुम्हारा (स्वस्ति) कल्याण हो ।। ६ ।। ३८ ।।

व्याख्या–उपनिषद् के इस वाक्य में उस ब्रह्म के प्राप्ति स्थान का निर्देश किया गया है। ब्रह्म यद्यपि अपने विभुत्व गुण से सभी स्थानों पर मौजूद है परन्तु उसे प्राप्त करने वाला आत्मा वहीं प्राप्त कर सकता है जहाँ वह भी मौजूद हो।

शरीर के अन्दर हृदय वह स्थान है जहाँ समस्त नाड़ियाँ उसी तरह से एकत्रित हैं जिस तरह पहिये के धुरे में उसके सब अरे एकत्रित होते हैं। इसी स्थान में जीव निवास करता है और ब्रह्म भी अपने व्यापकत्व से यहाँ मौजूद होता है। इसलिए यही वह जगह है जहाँ आत्मा, परमात्म–साक्षात्कार कर सकता है। इसीलिए उपनिषद् में इस स्थान का जिक्र करते हुए वहाँ उस परमात्मा [ओम्] के विचरने की बात कही गई है और यह भी शिक्षा दी गई है कि वहीं उस (ब्रह्म) का ध्यान करना चाहिये। इसी ध्यान से ध्याता का कल्याण होता है इसी से वह अन्धकार से परे और संसार रूपी सागर के पार हुआ करता है ।। ६ ।। ३८ ।।

यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्यैष महिमा भुवि। दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष व्योम्न्यात्मा प्रतिष्ठितः।

मनोमयः प्राणशरीरनेता प्रतिष्ठितोऽन्ने हृदयं सन्निधाय।
तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा आनन्दरूपममृतं यद्विभाति ॥ ७ ॥ ३९ ॥

अर्थ–(यः) जो (सर्वज्ञः) सबका ज्ञाता (सर्ववित्) सब का जानने वाला (यस्य) जिसकी (एषः) यह (महिमा) महिमा (भुवि) जगत् में है। (हि) निश्चय (एषः) यह (आत्मा) परमात्मा (दिव्य) दिव्य (व्योम्नि, ब्रह्मपुरे) हृदयाकाशरूपी ब्रह्मपुर में (प्रतिष्ठितः) स्थित है (मनोमयः) मननशील (प्राण, शरीर, नेता) प्राण और शरीर का चलाने वाला (हृदयम्) हृदय को (अन्ने) अन्नमय कोश में (सन्निधाय) रखकर (प्रतिष्ठितः) स्थित है। (तत्) उसके (विज्ञानेन) विशेष ज्ञान से (धीराः) धीर पुरुष (आनन्दरूपम्) आनन्द रूप (अमृतम्) अमृत को (यत्) जो (विभाति) प्रकाशमान है (परिपश्यन्ति) सब ओर (प्राप्त होते) हैं ॥ ७ ॥ ३९ ॥

व्याख्या–हृदय को अन्नमय रखने के दो अभिप्राय हो सकते हैं और दोनों उपयोगी हैं–(१) एक यह है कि **'यथा अन्नं तथा मनः।'** की उक्ति के अनुसार, मन का शुद्धाशुद्ध होना, अन्न के शुद्ध और अशुद्ध होने पर निर्भर होता है इसलिए मन को शुद्ध रखने के लिए आवश्यक है कि जिज्ञासु शुद्ध अन्न का सेवन करे, यह बात उसी अवस्था में सम्भव होती और हो सकती है जब हृदय का अर्थ मन समझा जावे।

(२) यदि हृदय का अर्थ मन न समझा जावे अपितु वह स्थूल पिण्ड माना जाये जो रक्त को शुद्ध करके समस्त शरीर में भेजा करता है तब हृदय के अन्नमय रखने का अभिप्राय यह होगा कि हृदय स्थूल पिंड होने से स्थूल शरीर का भाग है। इसलिए उसका अन्न अर्थात् अन्नमयकोश = स्थूल शरीर में होना या रखना स्पष्ट ही है।

अस्तु, उपनिषद् का यह वाक्य इससे पहले वाक्य की पुष्टि करता हुआ प्रकट करता है कि वह परमेश्वर सर्वज्ञ है और समस्त ब्रह्माण्ड जुबाने हाल = नामरूपात्मक जिह्वा से, उसकी महिमा प्रकट कर रहा है और वह प्राणियों के

हृदय-मन्दिर में स्थित है और मननशील होते हुए शरीर और उसके अन्दर प्राण दोनों को अपने-अपने कार्य के करने की योग्यता देने के द्वारा उनका संचालक है और हृदय को अन्नमय कोश में रख कर उसी में प्रतिष्ठित है। जिज्ञासु इस प्रकार उसका विशेष ज्ञान प्राप्त करके उस आनन्द और अमरता के पुञ्ज को प्राप्त किया करता है ।। ७ ।। ३९ ।।

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ।। ८ ।। ४० ।।

अर्थ–(तस्मिन्) उस (परावरे) सूक्ष्म और महान् (ईश्वर) के (दृष्टे) देख या जान लेने पर (हृदयग्रन्थिः) हृदय की गांठ [अर्थात् बन्धन का हेतु वासना] (भिद्यते) खुल जाती है (सर्वसंशयाः) समस्त संशय (छिद्यन्ते) नष्ट हो जाते हैं (च) और (अस्य) इस [मुमुक्षु] के (कर्माणि) समस्त [वासना पैदा करने वाले सकाम] कर्म (क्षीयन्ते) क्षीण हो जाते हैं ।। ८ ।। ४० ।।

व्याख्या–उपनिषद् के इस वाक्य में जिज्ञासु की उस अवस्था का वर्णन है जो साक्षात्कार करने से उसकी हो जाया करती है अर्थात् (१) जन्म का हेतु वासना नष्ट हो जाती है (२) जिज्ञासु का हृदय, संशय शून्य, श्रद्धा का मन्दिर बन जाता है (३) बन्धन के हेतु वासनोत्पादक सकाम कर्म नष्ट हो जाते हैं ।। ८ ।। ४० ।।

हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम्।
तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद्यदात्मविदो विदुः ।। ९ ।। ४१ ।।

अर्थ–(हिरण्मये) प्रकाशमय (परे) सूक्ष्म (कोशे) कोश में (विरजम्) मलरहित (निष्कलम्) कलारहित (ब्रह्म) ब्रह्म है (तत्) वह (शुभ्रम्) पवित्र (ज्योतिषाम्) प्रकाशों का भी (ज्योतिः) प्रकाश है (यत्) उसको (आत्मविदः) ब्रह्म विद्या के जानने वाले (विदुः) जानते हैं ।। ९ ।। ४१ ।।

व्याख्या–प्रकाशमय सूक्ष्म आनन्दमय कोश में वह ब्रह्म, जो मल और कलारहित, पवित्र और समस्त प्रकाशों का

प्रकाश है, स्थित है। उसे ब्रह्म विद्या तथा उसके अनुकूल अभ्यासों के करने व जानने वाले, जान लिया करते हैं॥ ९ ॥ ४१ ॥

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥ १० ॥ ४२ ॥

अर्थ–(तत्र) वहाँ (सूर्यः) सूर्य (न भाति) नहीं प्रकाशित होता और (न) न (चन्द्रः) चन्द्रमा और (तारकम्) तारागण और (न) न (इमाः) ये (विद्युतः) बिजलियां (भान्ति) चमकती हैं फिर (अयम्) यह (अग्निः) अग्नि (कुतः) कहां से [वहाँ प्रकाशित हो सकता है]। (तम्) उस (एव) ही के (भान्तम्) प्रकाशित होने पर (सर्वम्) यह सब (अनुभूति) पीछे से प्रकाशित होता है। (तस्य) उसी के (भासा) प्रकाश से (इदम् सर्वम्) यह सब (विभाति) प्रकाशित होता है ॥ १० ॥ ४२ ॥

व्याख्या–यह ब्रह्म अलौकिक प्रकाश वाला है इसीलिए उसे उपनिषद् में एक जगह "ज्योतिरिवाधूमकः" कहा गया है अर्थात् वह विकार रहित ज्योतिर्मय है।

उपनिषद् के इस वाक्य में इसीलिए कहा गया है कि सूर्य, चन्द्र, तारा, विद्युत् और अग्नियों के प्रकाश, जिनमें किसी न किसी प्रकार के विकार रहते हैं, ईश्वर तक नहीं पहुंच सकते अर्थात् इन प्रकाशों से यदि कोई उस [ईश्वर को] देखना चाहे तो नहीं देख सकता। उसके जगदुत्पत्ति द्वारा, प्रकाशित हो जाने पर ही ये सब प्रकाश, उत्पन्न हुआ करते हैं ॥ १० ॥ ४२ ॥

ब्रह्मैवेदममृतं, पुरस्ताद् ब्रह्म पश्चात् ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण।
अधश्चोर्ध्वंच प्रसृतं ब्रह्मेवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम् ॥ ११ ॥ ४३ ॥

अर्थ–(इदम्) यह (अमृतम्) मृत्यु रहित (ब्रह्म) ब्रह्म (एव) ही है, (पुरस्ताद्) आगे (ब्रह्म) ब्रह्म (पश्चात्) पीछे (ब्रह्म) ब्रह्म (दक्षिणतः) दाहिने (च) और (उत्तरेण) बायें (अधः) नीचे (च) और (ऊर्ध्वम्) ऊपर भी (प्रसृतम्) वह फैला हुआ है (इदम्) यह (विश्वम्) विश्व (इदम्) यह (वरिष्ठम्) अत्यन्त श्रेष्ठ (ब्रह्म एव) ब्रह्म ही है ॥ ११ ॥ ४३ ॥

व्याख्या–उपनिषद् के इस वाक्य में, प्रकरण को समाप्त करते हुए शिक्षा दी गई है कि जिस समय उपासक प्रभु के प्रेम और भक्ति में मस्त होकर अपनी सुध–बुध भुला देता है तब उसे प्रत्येक दिशा में वही दिखाई देता है और "जिधर देखता हूं उधर तू ही तू है।" की लोकोक्ति के अनुसार विश्व और विश्व की प्रत्येक वस्तु उसे ब्रह्मरूप ही में दिखाई देने लगती है। यह उपासना का अन्तिम और उत्कृष्ट रूप है, प्रेम की चरम सीमा और भक्ति की पराकाष्ठा है–इसी अवस्था को प्राप्त होने से जिज्ञासु कृतकृत्य हो जाया करता है ।। ११ ।। ४३ ।।

इति द्वितीये मुण्डके द्वितीयः खण्डः

तृतीयः मुण्डकः

प्रथमः खण्डः

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योअभिचाकशीति ॥ १ ॥ ४४ ॥

अर्थ–(सयुजा) साथ रहने वाले (सखाया) मित्र के समान (द्वा) दो (सुपर्णा) पक्षी (समानम्) एक ही (वृक्षम्) वृक्ष को (परिषस्वजाते) आश्रय करते हैं (तयोः) उन दोनों में से (अन्यः) एक (जीवात्मा) (पिप्पलम् स्वादु) स्वादिष्ट फलों को (अत्ति) खाता है (अन्यः) दूसरा (अनश्नन्) न खाता हुआ (अभिचाकशीति) देखता है ।। १ ।। ४४ ।।

व्याख्या–यह ऋग्वेद मण्डल १ सूक्त १६४ का २०वां मन्त्र है जिसे उपनिषद् ने यहाँ उद्धृत किया है। मन्त्र का आलंकारिक भाषा में ईश्वर, जीव और प्रकृति का वर्णन है। प्रकृति से उत्पन्न हुआ यह ब्रह्माण्ड एक पेड़ के सदृश है। इस पेड़ पर दो पक्षी हैं जिनमें से एक वृक्ष के स्वादिष्ट फलों को खाता है और दूसरा न खाता हुआ साक्षी मात्र है। ब्रह्माण्ड में ईश्वर अपने व्यापकत्व से ओत-प्रोत है और जीव मनुष्यादि योनियों में आकर सांसारिक वस्तुओं का उपभोग किया करता है। इसलिए जीव वह पक्षी है जो फलों को खाता है और साक्षी मात्र रहने वाला पक्षी ईश्वर है। मन्त्र में प्रयुक्त 'सयुजा' और 'सखाया' शब्द ईश्वर और जीव दोनों के विशेषण हैं जिसका अभिप्राय यह है कि ईश्वर और जीव के नित्यत्व में कोई भेद नहीं है और प्रकृति के लिए भी जब पेड़ से उपमा देकर उसी को दोनों पक्षियों का आश्रय स्थान बतलाया गया है तो उसका भी नित्यत्व ईश्वर जीव के समान ही हुआ। अस्तु यहाँ इस खण्ड को एक वेद-मन्त्र से आरम्भ करते हुए और इसमें वर्णित अलंकार द्वारा यह बतलाने की चेष्टा 'उपनिषद्कार' ने की है कि जीव सांसारिक भोगों को भोगकर ही सुख दुःख प्राप्त किया करता है ।। १ ।। ४४ ।।

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः ॥ २ ॥ ४५

अर्थ–(समाने) उसी (वृक्ष) वृक्ष पर (पुरुषः) जीवात्मा (निमग्नः) डूबा हुआ (अनीशया) असमर्थता से (मुह्यमानः) मोह में फंसा हुआ (शोचति) दुखी होता है (यदा) जब (जुष्टम्) (योगियों द्वारा) सेवित (अन्यम्) अपने से भिन्न (ईशम्) ईश्वर को (इति) और (अस्य) उसकी (महिमानम्) महिमा को (पश्यति) देखता है तब (वीतशोकः) शोक रहित होता है ॥ २/४५ ॥

व्याख्या–उपनिषद् के इस वाक्य में, पहले मन्त्र में वर्णित अलंकार के आधार से, वर्णन किया गया है कि जब जीव ब्रह्माण्ड रूपी वृक्ष के फलों को खाकर फलप्राप्ति के बन्धन में अपने को डाल लिया करता है, तब असमर्थता और परतन्त्रता से मोहग्रस्त होकर दुःख उठाया करता है उसका यह दुःख, जब वह भोगों से पृथक् रहकर, साक्षी मात्र रहने वाले ईश्वर की ओर चलकर उसकी महिमा का निरीक्षण करता है और उस महिमा के निरीक्षण से उसके [ईश्वर] प्रति अपने हृदय में श्रद्धा उत्पन्न करता है, तब दूर हुआ करता है ॥ २ ॥ ४५ ॥

यदा पश्यः पश्येत रुक्मवर्णं कर्त्तारमीशं ब्रह्मयोनिम् ।
यदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपेति ॥ ३ ॥ ४६ ॥

अर्थ–(यदा) जब (पश्यः) द्रष्टा (रुक्मवर्णम्) प्रकाशमान (कर्त्तारम्) (जगत् के) कर्त्ता (ईशम्) स्वामी और (ब्रह्मयोनिम्) वेदोत्पादक (पुरुषम्) ईश्वर को (पश्येत) देखता है (तदा) तब (विद्वान्) ज्ञानी पुरुष (पुण्यपापे) पुण्य और पाप को (विधूय) छोड़कर (निरञ्जनः) निर्लेप होकर (परमम्) अत्यन्त (साम्यम्) समता को (उपेति) प्राप्त होता है ॥ ३ ॥ ४६ ॥

व्याख्या–पिछले प्रकरण का विस्तार करते हुए उसी के सिलसिले में, उपनिषद् के इस वाक्य में वर्णित है कि जब द्रष्टा = जीव, जगत् के कर्त्ता, प्रकाशमान, ज्ञानदाता, ईश्वर को देखता है, तब सांसारिक पुण्य और पाप अथवा सुख-दुःख से पृथक् और निर्लेप होकर समता को प्राप्त कर लेता है ॥ ३ ॥ ४६ ॥

प्राणो ह्येषः यः सर्वभूतैर्विभाति विजानन् विद्वान् भवते नातिवादी।
आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः ॥ ४ ॥ ४७ ॥

अर्थ–(हि) निश्चय (एषः) वह [ईश्वर] (प्राणः) [सबका प्राणदाता होने से] प्राण है (यः) जो (सर्वभूतैः) समस्त भूतों के साथ (विभाति) प्रकाशमान होता है (विजानन्) इसको जानता हुआ (विद्वान्) ज्ञानी पुरुष (अतिवादी) सीमा से बढ़कर बात करने वाला (न, भवते) नहीं होता (एषः) यह [जिज्ञासु] (आत्मक्रीड़ः) आत्मा में क्रीड़ा करने वाला (आत्मरतिः) आत्मा में रत होने वाला (क्रियावान्) क्रिया सम्पन्न (ब्रह्मविदाम्) ब्रह्म के जानने वालों में (वरिष्ठः) श्रेष्ठ होता है ॥ ४ ॥ ४७ ॥

व्याख्या–आस्तिकता की महत्ता और आवश्यकता प्रकट करने के लिए, ईश्वर को उपनिषद् के इस वाक्य में, समस्त प्राणियों के साथ प्राण सदृश प्रकाशमान होने की बात कही गई है। जिस प्रकार प्राण के होने से ही प्राणी-प्राणी कहा जाता है अन्यथा प्राण रहित होने से वह, प्राणी नहीं अपितु शव = लाश ही होता है, इसी प्रकार ईश्वर रूपी प्राण को, शरीर में प्राण के सदृश, आवश्यक न समझने से उसकी आत्मिक मृत्यु हुई समझनी चाहिये।

इस प्रकार ईश्वर का ज्ञान रखने से मनुष्य सीमा के अन्तर्गत रहा करता है और सीमा से बढ़कर बात नहीं किया करता। वह सदैव आत्मवान् होते हुए आत्मा [ईश्वर] में क्रीड़ा करता है और क्रिया सम्पन्न होता है। ऐसा पुरुष ब्रह्मज्ञों में श्रेष्ठ स्थान रखा करता है ॥ ४ ॥ ४७ ॥

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग् ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।
अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः ॥ ५ ॥ ४८ ॥

अर्थ–(अन्तःशरीरे) शरीर के अन्दर (ज्योतिर्मयः) प्रकाशवान् (शुभ्रः) पवित्र (नित्यम्) अनादि (हि) निश्चय (एषः) इस (आत्मा) परमात्मा को [जो] (सत्येन) सत्य (तपसा) तप

(सम्यग्) यथार्थ (ज्ञानेन) ज्ञान (ब्रह्मचर्येण) ब्रह्मचर्य से (लभ्यः) प्राप्त होने योग्य है, [उसे] (क्षीणदोषाः) दोष क्षीण हुए (यतयः) यति गण (पश्यन्ति) देखते हैं ।। ५ ।। ४८ ।।

व्याख्या–ईश्वर को प्राप्त करने अथवा उसकी समीपता उपलब्ध करने के लिए मनुष्य के अन्दर सत्य, तप, सम्यक् ज्ञान और ब्रह्मचर्य की आवश्यकता होती है इनके द्वारा वे क्षीण-दोष होते हैं और तभी इस योग्य भी होते हैं कि शरीर में व्याप्त ज्योतिर्मय और पवित्र ईश्वर के दर्शन कर सकें। सत्यादि की आवश्यकता होने का कारण यह है कि–

(१) सत्य से मनुष्य का मन क्षीण दोष होकर शुद्ध होता है।

(२) तप से द्वन्द्व रहित होकर बलवान् आत्मा वाला बनता है।

(३) सम्यक् ज्ञान से बुद्धि शुद्ध होती है।

(४) ब्रह्मचर्य से जीवन संयमित होता है।

ये चारों गुण न केवल ईश्वर प्राप्ति में सफलता के कारण होते हैं किन्तु लोकोन्नति के लिए भी, उनकी वैसी ही आवश्यकता होती है ।। ५ ।। ४८ ।।

सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः ।
येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम् ।। ६ ।। ४९ ।।

अर्थ–(सत्यम्) सत्य (एव) ही की (जयते) जय होती है (अनृतम्) झूठ की (न) नहीं (सत्येन) सत्य ही से (देवयानः) मोक्ष प्राप्ति का (पन्थाः) मार्ग (विततः) फैला हुआ है (येन) जिस (मार्ग) से (आप्तकामाः) कामना रहित (ऋषयः) ऋषि (हि) निश्चय (आक्रमन्ति) जाते हैं (यत्र) जहाँ (तत्) वह (सत्यस्य) सत्य का (परमं, निधानम्) श्रेष्ठ पुञ्ज (ब्रह्म) है ।। ६ ।। ४९ ।।

व्याख्या–इससे पहले वाक्य में जिस सत्य को ईश्वर की प्राप्ति का कारण बतलाया गया है उसी सत्य की महिमा इस वाक्य में प्रकट की गई है। उपनिषद् का कथन है कि सत्य ही की विजय होती है, झूठ से मनुष्य कभी फल-फूल नहीं

सकता। देवयान-ईश्वर की ओर चलने का मार्ग भी सत्य ही से प्राप्त हुआ करता है जिस पर चलकर मनुष्य सत्य के परम कोश, ईश्वर तक पहुँचता है परन्तु पहुँचते वे ही हैं जो साधन सम्पन्न होकर कामना रहित हो चुके हैं।

सत्य की, वेद की तरह, उपनिषदों में भी, बड़ी महिमा वर्णन की गई है। एक जगह लिखा है-वह यह बलों का बल है जो धर्म है इसलिए धर्म से बढ़कर कुछ नहीं है। जिस प्रकार राजा के सहारे, उसी प्रकार धर्म के सहारे निर्बल बलवानों के जीतने की इच्छा किया करता है। निश्चय जो धर्म है वही सत्य है। इसलिए सत्य के कहने वाले को, कहते हैं कि धर्म को कहता है और धर्म की बात कहने वाले को कहते हैं कि सत्य की बात कहता है।*

बृहच्च तद् दिव्यमचिन्त्यरूपं सूक्ष्माच्च तत्सूक्ष्मतरं विभाति।
दूरात्सुदूरे तदिहान्तिके च पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम् ॥ ७ ॥ ५० ॥

अर्थ-(तद्) वह [ब्रह्म] (बृहत्) महान् (च) और (दिव्यम्) दिव्य = अलौकिक है (अचिन्त्यरूपं) जिसकी सत्ता अचिन्तनीय है (तद्) वह (सूक्ष्मात्) सूक्ष्म से (सूक्ष्मतरम्) अत्यन्त सूक्ष्म (विभाति) प्रकाशित है (च) और (तद्) वह (दूरात्) दूर से भी (सुदूरे) अति दूरे (च) और (इह) यह (अन्तिके) समीप भी (पश्यत्सु) देखने वालों के लिए (इह) इस (गुहायाम् एव) हृदयाकाश ही में (निहितम्) स्थित है ॥ ७ ॥ ५० ॥

व्याख्या-उसी ब्रह्म के, जिसकी प्राप्ति की चर्चा, इससे पहले उपनिषद् वाक्यों में, की गई है, कुछेक गुणों का, इस वाक्य में उल्लेख है-

(१) वह महान् और अलौकिक है।

---

* तदेतत् क्षत्रस्य क्षत्रं यद्धर्मः। तस्मात् धर्मात् परं नास्ति, अथो अबलीयान् बलीयान् तमाशंसते धर्मेण यथा राजैयं, यो वै स धर्मः सत्यं वै तत्। तस्मात् सत्यं वदन्तमाहुर्धर्मं वदतीति धर्मं वा वदन्तं सत्यं वदति ॥ इति ॥ (बृह० उपनिषद् १/४/१४)

(२) वह अचिन्तनीय है—चिन्तन, चित्त अथवा मन का काम है अतः अचिन्तनीय का अभिप्राय यह हुआ कि वह मनादि अन्तःकरणों द्वारा चिन्तन नहीं किया जा सकता। मन, बुद्धि आदि अन्तःकरणों के काम, तर्क तक समाप्त हो जाते हैं परन्तु ईश्वर तर्क का विषय नहीं अपितु निदिध्यासन (आत्मानुभव-Intuitional perception) का विषय है। इसलिए वह इन्द्रियों द्वारा नहीं किन्तु आत्मा द्वारा प्राप्त किया जाया करता है।

(३) वह सूक्ष्म से सूक्ष्म है।

(४) वह दूर से दूर और समीप से समीप भी है। यह ईश्वर का रचा हुआ ब्रह्माण्ड, असंख्य सूक्ष्म मण्डलों से मिलकर बना हुआ है। कोई ज्योतिषी सूर्यों की भी गणना नहीं कर सकता। फ्रांस के एक ज्योतिर्विद ने दो सूर्यों के बीच की दूरी का कम से कम अनुमान २६०० संख्य मील का किया है और सूर्य असंख्य हैं इसलिए ब्रह्माण्ड के विस्तार का कोई अनुमान भी नहीं कर सकता, परन्तु पुरुष सूक्त में समस्त ब्रह्माण्ड को ईश्वर के एक ही पाद में वर्णन किया है और बतलाया है कि उसके ३ पाद ब्रह्माण्ड से बाहर उसी के दिव्य लोक में हैं। इसलिए उपनिषद् के इस वाक्य में उसे दूर से दूर कहा गया है इसके साथ ही उसे समीप भी कहा गया है। उसकी समीपता का अनुमान इसी से किया जाता है कि वह मनुष्यों के हृदयों में मौजूद है और वहीं वह देखा भी जा सकता है। उसके साक्षात् करने के अभ्यासी उसे देखने के लिए अपने हृदय मन्दिरों ही में प्रवेश करने का यत्न किया करते हैं ॥ ७ ॥ ५० ॥

न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा।
ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः ॥ ८ ॥ ५१ ॥

अर्थ—[वह ब्रह्म] (चक्षुषा) आँख से (न गृह्यते) नहीं ग्रहण किया जाता (न, अपि वाचा) वाणी से भी नहीं (न) न (अन्यैः) अन्य (देवैः) इन्द्रियों से (न तपसा) न तप से (वा) और (न कर्मणा) न [सकाम] कर्म से [बल्कि] (ज्ञानप्रसादेन)

ज्ञान की महिमा से (विशुद्धसत्त्वः) शुद्ध अन्तःकरण वाला होकर (ततः) उससे (ध्यायमानः) ध्यान करता हुआ (तम्) उस (निष्कलम्) कला रहित [ब्रह्म] को (पश्यते) देखता है ॥ ८ ॥ ५१ ॥

व्याख्या—जैसा कि इससे पहले उपनिषद् वाक्यों में कहा गया है कि ईश्वर इन्द्रियों का विषय नहीं है, इसी तरह उपनिषद् के इस वाक्य में भी कहा गया है कि उसे न आँख से देख सकते हैं न वाणी से ग्रहण कर सकते हैं और न उसे अन्य इन्द्रियों का विषय बना सकते हैं और न केवल तप वा कर्म के द्वारा प्राप्त कर सकते हैं। उसे जो देखना और प्राप्त करना चाहते हैं वे पहले अपने को इस योग्य बनाते हैं कि आत्मा द्वारा उसका ज्ञान प्राप्त करें। इसी ज्ञान प्राप्ति की विधि को प्रतिबोध या निदिध्यासन कहते हैं। इसी प्राप्त ज्ञान की महिमा से वे विशुद्ध अन्तःकरण वाले होते हैं और उस कला रहित ब्रह्म को प्राप्त किया करते हैं ॥ ८ ॥ ५१ ॥

एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन् प्राणः पञ्चधा संविवेश प्राणैश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां यस्मिन् विशुद्धे विभवत्येष आत्मा ॥ ९ ॥ ५२ ॥

अर्थ—(एषः) वह (अणुः) सूक्ष्म (आत्मा) ब्रह्म (चेतसा) ज्ञान से (वेदितव्यः) जानने योग्य है (यस्मिन्) जिस [शरीर] में (प्राणः) प्राण (पञ्चधा) पांच भेदों से (संविवेश) प्रविष्ट हो रहा है और (प्राणैः) प्राणों के साथ (प्रजानाम्) प्राणियों का (सर्वम्) सब (चित्तम्) चित्त = अन्तःकरण (ओतम्) व्याप्त है और (यस्मिन्) जिसमें (विशुद्ध) विशेष रूप से शुद्ध होने पर (एषः) यह (आत्मा) ब्रह्म (विभवति) प्रकाशित होता है ॥ ९ ॥ ५२ ॥

व्याख्या—जो विषय इससे पहले उपनिषद् वाक्यों में वर्णित है उसी की पुष्टि इस वाक्य द्वारा की गई है। वह सूक्ष्म ब्रह्म, आत्मा द्वारा प्राप्त ज्ञान से, प्राप्तव्य होता है। उस महान् ब्रह्म में प्राण अपने पाँच भेदों से प्रविष्ट है। इन्हीं प्राणों के

साथ प्राणियों के अन्तःकरण भी उसी में व्याप्त हैं। उन्हीं अन्तःकरणों के विशेष रीति से शुद्ध हो जाने पर, मुमुक्षु उस ब्रह्म को प्राप्त किया करता है ।। ९ ।। ५२ ।।

यं यं लोकं मनसा संविभाति विशुद्धसत्त्वः, कामयते यांश्च कामान्। तं तं लोकं जायते तांश्च कामांस्तस्मादात्मज्ञं ह्यर्च्चयेत् भूतिकामः ।। १० ।। ५३ ।।

अर्थ–(विशुद्धसत्त्वः) निर्मल अन्तःकरण वाला [मनुष्य] (यम्, यम् लोकम्) जिस-जिस लोक को (मनसा) मन से (संविभाति) चिन्तन करता है (च) और (यान्) जिन (कामान्) कामनाओं को (कामयते) चाहता है (तम्, तम्, लोकम्) उस उस लोक को (च) और (तान्) उन (कामान्) कामनाओं को (जायते) प्राप्त होता है (तस्मात्) इसलिए (हि) निश्चय (भूतिकामः) विभूति का इच्छुक, (आत्मज्ञम्) ब्रह्मवित् की (अर्च्चयेत्) पूजा करे ।। १० ।। ५३ ।।

व्याख्या–खण्ड का उपसंहार करते हुए उपनिषद् के ऋषि कहते हैं कि निर्मल अन्तःकरण वाला पुरुष अपने शुद्ध अन्तकरण के प्रभाव से अन्तःसमय अथवा किसी समय में भी जिस जिस लोक या भोग का मन द्वारा संकल्प करता है वह उस लोक या भोग को प्राप्त किया करता है। इसलिए इस प्रकार का सामर्थ्य या सिद्धि चाहने वाले को चाहिये कि आत्मावेत्ता गुरु को प्राप्त हो और उसका सत्कार करे तब उसकी शिक्षानुकूल आचरण करने से अपने को सिद्धि प्राप्त शिष्य बना सकता है। निर्मल अन्तःकरण वाला पुरुष अमोघ संकल्प हो जाया करता है, वह जो भी संकल्प करता है वह पूरा हो जाया करता है। उसका कोई भी संकल्प व्यर्थ नहीं जाया करता ।। १० ।। ५३ ।।

इति तृतीये मुण्डके प्रथमः खण्डः

तृतीयः मुण्डकः
द्वितीयः खण्डः

स वेदैतत्परमं ब्रह्म धाम यत्र विश्वं निहितं भाति शुभ्रम्।
उपासते पुरुषं ये ह्यकामास्ते शुक्रमेतदतिवर्त्तन्ति धीराः ॥ १ ॥ ५४ ॥

अर्थ–(सः) वह [आत्मज्ञ] (एतत) इस (परमं, धाम) परम आश्रम (ब्रह्म) ब्रह्म को (वेद) जानता है (यत्र) जिसमें (विश्वम्) विश्व (निहितम्) स्थित है और [जो ब्रह्म] (शुभ्रम्) शुद्ध और (भाति) प्रकाशित है (हि) निश्चय (ये) जो (अकामाः) इच्छा रहित होकर (पुरुषम्) पुरुष = ईश्वर की (उपासते) उपासना करते हैं (ते) वे (धीराः) धीर पुरुष (एतत्) इस (शुक्रम्) शुक्र = वीर्य को (अतिवर्त्तन्ति) उल्लंघन कर जाते हैं ॥ १ ॥ ५४ ॥

व्याख्या–जो मनुष्य कामना रहित होकर सफलता पूर्वक ईश्वरोपासना करता है उसमें दो प्रकार की योग्यता आ जाती है–

(१) वह परम पवित्र ब्रह्म को, जिसमें समस्त ब्रह्माण्ड स्थित है और जो समस्त ब्रह्माण्ड में प्रकाशित हो रहा है, जानने लगता है।

नोट–ब्रह्म के जानने का अभिप्राय ब्रह्म का केवल साधारण ज्ञान नहीं है कि ब्रह्म है और ऐसा है और वैसा है इत्यादि किन्तु जानने का अभिप्राय यह है कि उसे प्रतिबोध होने लगता है अर्थात् वह अपने आत्मा द्वारा उसके साक्षात् करने की योग्यता वाला हो गया।

(२) वह ऊर्ध्वरेता हो जाता है वीर्य सम्बन्धी किसी प्रकार का भी विकार उसको विकृत नहीं कर सकता ॥ १ ॥ ५४ ॥

कामान् यः कामयते मन्यमानः स कामभिर्जायते तत्र तत्र। पर्य्याप्तकामस्य कृतात्मनस्तु इहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः ॥ २ ॥ ५५ ॥

अर्थ–(यः) जो (कामान्) इच्छाओं को (मन्यमानः) मन में रखता हुआ (कामयते) [उनकी पूर्ति] चाहता है (सः) वह

(मनुष्य) (कामभिः) उन कामनाओं = वासनाओं के साथ (तत्र, तत्र) वहाँ वहाँ [वासनाओं के अनुसार] (जायते) उत्पन्न होता है परन्तु (पर्याप्तकामस्य) पूर्ण हुई इच्छा वाले = इच्छा रहित की, [जिसने] (कृतात्मनः) आत्मा को साक्षात् कर लिया है, (सर्वे, कामाः) समस्त कामनाएँ (इह, एव) यहाँ ही इस शरीर ही में (प्रविलीयन्ति) विलीन हो जाती हैं ॥ २ ॥ ५५ ॥

व्याख्या–जो मनुष्य कामना रहित होकर ईश्वर की उपासना करते हैं, जैसा इससे पहले कहा जा चुका है, वे आप्त काम = पूर्ण हुई इच्छा वाले या इच्छा रहित हो जाते हैं उनकी समस्त कामनाएँ इस शरीर ही में विलीन हो जाती हैं परन्तु जो ऐसे नहीं हैं और जो कामना रहित नहीं हो सके हैं और फल को लक्ष्य में रखकर ही [सकाम] कर्म करते हैं वे उन वासनाओं के साथ जो उनके कर्मों में उत्पन्न होती हैं और जिन्हें सञ्चित कर्मों का रूपान्तर ही कहना चाहिये, उन्हीं वासनाओं के अनुकूल ही जन्म लिया करते हैं। उपनिषद् की यही शिक्षा है इसे यों भी कह सकते हैं कि मनुष्य की अन्त समय में समस्त जीवन के चित्रवत् जैसी अन्तिम अवस्था होती है उसी के अनुसार जन्म हुआ करता है ॥ २/५५ ॥

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ॥ ३ ॥ ५६ ॥

अर्थ–(अयम्) यह (आत्मा) परमेश्वर (प्रवचनेन) शास्त्रों के पढ़ने से (न लभ्यः) नहीं प्राप्त होता (न, मेधया) न बुद्धि से (न, बहुना, श्रुतेन) न बहुत सुनने से [प्राप्त होता है] (यम्, एव) जिस ही को (एषः) यह (परमात्मा) (वृणुते) स्वीकार कर लेता है = छांट लेता है (तेन) उससे (लभ्यः) प्राप्त होने योग्य है (एषः, आत्मा) यह आत्मा = परमेश्वर (स्वाम्) अपने (तनूं) स्वरूप को [उस पर] (विवृणुते) प्रकाशित करता है ॥ ३ ॥ ५६ ॥

व्याख्या–उपनिषद् की शिक्षा जो इस वाक्य द्वारा दी गई है बड़ी महत्त्वपूर्ण है। शिक्षा यह है कि वह ईश्वर, प्रवचन, बुद्धि अथवा बहुश्रुत होने से प्राप्त नहीं होता, उसे वह मनुष्य

ही प्राप्त कर सकता है जिसे स्वयं वह [ईश्वर] छाँट लिया करता है और उसी पर वह अपने स्वरूप को प्रकाशित कर देता है। प्रश्न यह है कि वह अन्धाधुन्ध किसी को छाँट लेता है अथवा छाँट लेने की कोई मर्यादा है। इस प्रश्न का उत्तर ऋग्वेद की एक ऋचा से मिल जाता है। ऋग्वेद में एक जगह कहा गया है–"न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः❖।" अर्थात् जब तक मनुष्य यत्न करके अपने को थका नहीं लेता तब तक वह ईश्वर की दया का पात्र नहीं बन सकता।

एक उदाहरण– इस शिक्षा को स्पष्ट करने के लिए वेदान्त के ग्रन्थों में एक बड़ा सुन्दर उदाहरण एक माता और उसके घुटनों के बल चलने वाले एक छोटे बालक का है। माता एक ओर खड़ी है और उसका छोटा सा बालक दूसरी ओर खेल रहा था। बच्चे को भूख लगी, स्वभावतः उसे माता याद आई, वह माता की ओर घुटनों के बल चला और माता के चरण तक पहुँचकर खड़ी हुई माता की ओर आशा भरी दृष्टि से सहायता के लिए देखने लगा–माता ने देखा कि उसका प्यारा बालक भूख से व्याकुल होकर घुटनों के बल चलते हुए उसके चरणों तक पहुँच गया, परन्तु अब यह उसकी सामर्थ्य से बाहर है कि वह अपने को इतना ऊँचा कर ले जिससे स्तनों तक मुँह पहुँचाकर अपनी भूख को शान्त कर लेवे। माता के हृदय में बालक पर दया करने के भाव जागृत हो उठते हैं और वह प्रेम से बालक को गोद में उठाकर दूध पिलाकर उसे कृतकृत्य कर देती है। ठीक इसी तरह जब मुमुक्षु अपने को, अपने अन्तःकरण आदि को उपनिषद् की शिक्षानुकूल शुद्ध करने के द्वारा ईश्वर के दर्शन का अधिकारी बना लेता है तब उस मुमुक्षुरूप बालक पर उस जगत् जननी जगदम्बा को भी दया आती है और वह उस मुमुक्षुरूप बालक को गोद में उठाकर आनन्दरूपी दुग्ध का पान कराके कृतकृत्य कर देती है। इसलिए मनुष्यों को आलस्य का त्याग करके अपने को

❖ देखो–ऋग्वेद ४/३३/११

(२) विज्ञान = प्रतिबोध = निदिध्यासन अर्थात् उस ज्ञान का प्राप्त हो जाना जो आत्मा की अन्तर्मुखी वृत्ति के जागृत हो जाने से आत्मा को प्राप्त हुआ करता है।

(३) संन्यासयोग = पूर्ण वैराग्य की प्राप्ति।

(४) यत्नशीलता।

(५) अन्तःकरण की निर्मलता।

तब वह जिज्ञासु मरकर समस्त बन्धनों से मुक्त और अमरता का जीवन प्राप्त करता हुआ ब्रह्मलोक को प्राप्त हो जाता है।

गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठा देवाश्च सर्वे प्रतिदेवतासु।
कर्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति ॥ ७ ॥ ६० ॥

अर्थ—(पञ्चदश) पन्द्रह (कलाः) कलायें (प्रतिष्ठाः) अपने कारण में (गताः) चली जाती = लीन हो जाती हैं (च) और (सर्वे, देवाः) समस्त देव = इन्द्रियां (प्रतिदेवतासु) अपने कारण में [लीन हो जाती हैं] (कर्माणि) निष्काम कर्म (च) और (विज्ञानमयः) विशेष ज्ञानमय (आत्मा) जीव (परे) अत्यन्त (अव्यये) एक रस रहने वाले ब्रह्म में (सर्वे) सब (एकीभवन्ति) एक हो [मिल] जाते हैं ॥ ७ ॥ ६० ॥

व्याख्या—इस वाक्य में यह शिक्षा दी गई है कि मोक्ष प्राप्ति का अधिकारी जब शरीर छोड़ता है तब क्या उससे छूट जाता है और क्या उसके साथ जाया करता है—

छूटने वाली वस्तुएँ—[१] १५ कलायें अपने कारण में लीन हो जाती हैं। प्रसिद्ध सोलह कलायें ये हैं—

१. प्राण	२. श्रद्धा	३. आकाश
४. वायु	५. अग्नि	६. जल
७. पृथिवी	८. इन्द्रिय	९. मन
१०. अन्न	११. वीर्य	१२. तप
१३. मन्त्र	१४. कर्म	१५. लोक

१६. नाम (देखो प्रश्नोपनिषद् ६/४)

इनमें जब मन और इन्द्रियों को एक कोटि में रख लेते हैं तब यही १६ कलायें १५ कलायें कहलाया करती हैं।

(२) समस्त इन्द्रियाँ और उनकी शक्ति अपने कारण सूक्ष्म-भूत में चली जाती हैं।

नोट-(१) १५ कलाओं और समस्त इन्द्रियों के अपने-अपने कारण में लीन हो जाने से आत्मा का किसी भी प्रकार के शरीर से सम्बन्ध नहीं रहता, सभी छूट जाते हैं।

(२) १५ कलाओं में जब इन्द्रियों की गणना आ गई तब फिर उन्हें अलहदा क्यों लिखा ? इस शंका का समाधान यह है कि इन्द्रियों के गोलक पृथक् होते हैं और असली इन्द्रिय-शक्ति उनसे सर्वथा पृथक् मस्तिष्क में हुआ करती है। १५ कलाओं में केवल गोलक रूप में इन्द्रियों को पृथक् लिखा जाता है।

साथ जाने वाली वस्तुयें (१) कर्म-कर्म दो प्रकार के होते हैं सकाम और निष्काम। इनमें से वासनोत्पादक सकाम कर्म शरीर रखते हुए ही नष्ट हो जाते हैं। इनके नष्ट हो जाने से वासनाएँ भी नष्ट हो जाती हैं परन्तु निष्काम कर्म वह जीवन मुक्त अन्त समय तक रहता है। इसलिए वे सभी निष्काम कर्म उसके साथ जाते हैं।

(२) **विज्ञान**- कर्म के सिवा दूसरी चीज जो मुक्तात्मा के साथ जाती है वह आत्मा द्वारा प्राप्त विशेष ज्ञान है जिसको विज्ञान, प्रतिबोध, निदिध्यासन (Intuitionai perception) आदि शब्दों से पुकारा जाता है इस प्रकार त्यक्तव्य पदार्थों को छोड़ निष्काम कर्म और विज्ञान के साथ मुक्तात्मा अपने से सूक्ष्म और अविनाशी एक रस रहने वाले ब्रह्म के साथ मिल जाता है ॥ ७ ॥ ६० ॥

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपेति दिव्यम् ॥ ८ ॥ ६१ ॥

अर्थ-(यथा) जैसे (नद्यः) नदियाँ (स्यन्दमानाः) बहती हुई (समुद्रे) समुद्र में (नामरूपे) नाम और रूप [बाह्य दृश्य]

(Appearance) को (विहाय) छोड़कर (अस्तम्) अस्त (गच्छन्ति) हो जाती हैं (तथा) इसी प्रकार (विद्वान्) विद्वान् (नामरूपात्) नाम और रूप से (विमुक्तः) छूटकर (परात्परम्) सूक्ष्म से सूक्ष्म (दिव्यम्) अलौकिक (पुरुषम्) पुरुष = ईश्वर को (उपेति) प्राप्त होता है ।। ८ ।। ६१ ।।

व्याख्या—जगत् की प्रत्येक वस्तु में दो चीजें हुआ करती हैं—एक उस वस्तु का बाह्य दृश्य, उसका आकार-प्रकार, रूप-रंग। दूसरी उसकी आन्तरिक सत्ता जिसे वस्तु तत्त्व भी कहते हैं—जरमन के सर्वोत्कृष्ट दार्शनिक क्राण्ट ने प्रथम को बाह्यदृश्य (Appearance) और दूसरी को वस्तुतत्त्व (Thing in itself) कहा है—वाह्य आकार आदि ही को इस वाक्य में नाम रूप कहा गया है। वाक्य का भाव यह है कि जिस प्रकार बहती हुईं नदियाँ समुद्र में मिलकर उसमें समा जाती हैं और फिर उन्हें गंगा, यमुना आदि नामों से कोई नहीं पुकारता। इसी प्रकार मुक्त जीव अपने नामरूप को छोड़कर सूक्ष्म से सूक्ष्म दिव्य ईश्वर को प्राप्त कर लेता है।

नोट—यद्यपि नदियों का नाम रूप समुद्र में मिल जाने से बाकी नहीं रहता परन्तु उनका वस्तु तत्व [जल] नष्ट नहीं हो जाता। वह समुद्र से मिलकर समुद्र के जल की मात्रा को बढ़ा देता है। इसी प्रकार मुक्त जीव का भी वस्तुतत्व [आत्मा] नष्ट नहीं होता वह ईश्वर को प्राप्त करके भी अपनी सत्ता कायम रखता है केवल नाम रूप, जो शरीर और आत्मा के संघात से सम्बन्धित होता है, उस संघात के बाकी न रहने से, बाकी नहीं रहता ।। ८ ।। ६१ ।।

स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति। नास्याऽब्रह्मवित्कुले भवति। तरति शोकं तरति पाप्मानं गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति ।। ९ ।। ६२ ।।

अर्थ—(ह, वै) निश्चय (सः) वह (यः) जो (तत्) जैसे (परमं, ब्रह्म) परब्रह्म को (वेद) जानता है (ब्रह्म, एव) ब्रह्म ही (भवति) होता है। (अस्य) इसके (कुले) कुल में (अब्रह्मवित्) ब्रह्म का न जानने वाला [कोई] (न, भवति)

नहीं होता (शोकम्) शोक को (तरति) तरता है। (पाप्मानम्) पाप को (तरति) पार करता है (गुहाग्रन्थिभ्यः) वासनाओं की गांठों से (विमुक्तः) छूटकर (अमृतः) अमर (भवति) हो जाता है॥ ९ ॥ ६२ ॥

व्याख्या—इस वाक्य में ब्रह्म की प्राप्ति के ३ फल बतलाये हैं—(१) ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म हो जाता है। (२) उसके कुल में कोई ब्रह्म का न जानने वाला नहीं होता। (३) मुक्त जीव शोक और पाप से छूट जाता है, उसके हृदय की गांठ (वासना) खुल जाती है और वह अमर हो जाता है।

इन फलों का स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

(१) प्रेम और भक्ति की सर्वोत्कृष्ट अवस्था यह होती है कि प्रेमी अपने प्रेष्ठ के प्रेम में इतना मग्न हो जावे कि उसे अपनी सुध-बुध न रहे, प्रेष्ठ ही प्रेष्ठ उसको इधर-उधर हर जगह दिखाई दे। जैसे कहा गया है कि—"जिधर देखता हूँ उधर तू ही तू है।" योग के सातवें अंग तक पहुँचने पर योगी अपने को ध्याता और अपने से भिन्न ध्येय का ध्यान करने वाला समझा करता है परन्तु योग के आठवें और अन्तिम अंग में पहुंचने पर योगी अपने को भूलकर केवल प्रभु के प्रेम में इतना मग्न हो जाता है कि उसे प्रत्येक जगह वह दिखाई देने लगता है। वह अपने को भी वही समझता है और अन्य सब को भी वही। इसी अवस्था को प्राप्त हो जाने पर ब्रह्मोपासक अपने को भी ब्रह्म समझता है तथा अन्यों को भी। इसी अवस्था का सुन्दर चित्र ऋग्वेद की एक ऋचा में खिंचा हुआ मिलता है—

यदग्ने स्यामहं त्वं त्वं वा धा स्या अहम्।
स्युष्टे सत्या इहाशिषः ॥ ऋ० ८/५४/२३ ॥

अर्थात् "हे प्रकाश वाले प्रभो! यदि मैं तू हो जाऊं और तू मैं हो जाए तो तेरा आशीर्वाद संसार में सत्य हो जाए।" प्रभु का मनुष्यों के लिए जो आशीर्वाद है उसका संकेत यजुर्वेद के इस वाक्य में मिलता है—"शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्राः।"

अर्थात् "सुनो ऐ समस्त अमृत पुत्रो" इस वाक्य में मनुष्यों को अमृत पुत्र कहा गया है। यह आशीर्वाद कब चरितार्थ हो जब मनुष्य के भीतर इतनी उत्कृष्ट भक्ति आ जावे कि वह समझने लगे कि "मैं तू और तू मैं हो गया।" एक कवि ने इसी भाव को बड़ी सुन्दरता से अपनी एक कविता में प्रदर्शित किया है-

जब मैं था तब हर नहीं, जब हर तब मैं नांय।

प्रेम गली अति सांकरी जा में दो न समाय ।।

परन्तु भक्ति की इस उत्कृष्ट मर्यादा को न समझकर यदि कोई हट करे कि नहीं ब्रह्मवित् तो ब्रह्म ही हो जाता है तो उसको समझना चाहिए कि "ब्रह्मविदो ब्रह्मैव भवति।" इस वाक्य में प्रयुक्त, "भवति" = हो जाता है क्रिया प्रकट करती है कि ब्रह्मवित् पहले ब्रह्म नहीं था अब हुआ है इसलिए यह सादि ब्रह्म होगा। परन्तु असली ब्रह्म अनादि ब्रह्म है। यह अन्तर सदैव रहेगा और इस अन्तर की वजह से जीव-जीव और ब्रह्म ब्रह्म ही रहेगा, दोनों एक नहीं हो सकते।

(२) ब्रह्मवित् के कुल में अब्रह्मवित् का न होना स्पष्ट है। सन्तान, पारिवारिक परिस्थिति माता और पिता के क्रियात्मक विचारों के अनुरूप बना करती है। जहाँ और जिस परिवार में आस्तिकता और ईश्वर-परायणता का वातावरण हो वहाँ नास्तिक और अब्रह्मवित् पैदा नहीं हो सकते। क्लिष्ट कल्पना के तौर पर यदि मान भी लें कि ऐसे परिवार में भी किसी के अब्रह्मवित् होने की सम्भावना हो सकती है तो यह नियम का अपवाद होगा नियम वही ब्रह्मवित् होने ही का रहेगा।

(३) स्पष्ट है कि मुक्त जीव शोकादि के पार हो ही जाता है [९ ।। ६२]

तदेतदृचाभ्युक्तं क्रियावन्तः श्रोत्रिया ब्रह्मनिष्ठाः स्वयं जुह्वते एकर्षिं श्रद्धयन्तस्तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत शिरोव्रतं विधिवद्यैस्तु चीर्णम् ।। १० ।। ६३ ।।

अर्थ-(तद्) वह (एतद्) यह [जो वर्णित हुआ] (ऋचा वेद-मन्त्र में भी (अभि उक्तम्) कहा गया है (क्रियावन्तः)

निष्काम कर्म सम्पन्न (श्रोत्रियाः) वेदविद्या में कुशल (ब्रह्मनिष्ठाः) ब्रह्म में विश्वास रखने वाले (श्रद्धयन्तः) श्रद्धावान् (स्वयम्) स्वयं (एकर्षिम्) अद्वितीय ब्रह्म को (जुह्वते) ग्रहण करते हैं। (यैः, तु) और जिन्होंने (शिरोव्रतम्) मुख्य व्रत को (विधिवत्) नियमानुकूल (चीर्णम्) धारण किया है (तेषाम् एव) उन्हीं के लिए (एताम्) इस (ब्रह्मविद्याम्) ब्रह्मविद्या को (वदेत) कहें ।। १० ।। ६३ ।।

व्याख्या–इस ब्रह्मविद्या के अपूर्व ग्रन्थ उपनिषद् को समाप्त करते हुए इस उपनिषद् के कर्त्ता ने यह शिक्षा भी दी है कि इस ब्रह्मविद्या का उपदेश किसको देना चाहिये और इस बात को प्रकट करने के लिए उन्होंने ऋचा को प्रमाण रूप में उद्धृत किया है। ऋचा में कहा गया है कि जो पुरुष ऐसे हैं जो निष्काम कर्म करते हैं। और वेदविद्या को जानते हैं। और अद्वितीय ईश्वर में विश्वास और श्रद्धा रखते हैं और जिन्होंने ब्रह्मविद्या की प्राप्ति के लिए मुख्य व्रत भी धारण कर रखा है। ऐसे लोग हैं जिन्हें ब्रह्मविद्या का उपदेश करना चाहिये।

इसका तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार अनुकूल भूमि में बीज डालने से वह अंकुरित होकर फल और फूल देने लगता है। यदि उसे ऊसर भूमि में डाल दिया जाये तो उगने और फल-फूल देने की तो कथा ही क्या है, उल्टा वह बीज भी नष्ट हो जावेगा। इस प्रकार श्रद्धा रखने वालों को, ब्रह्मविद्या का उपदेश देने से वह उपदेश उनके हृदयों में अपना स्थान बनाता है परन्तु जहाँ श्रद्धा न हो वहाँ वह व्यर्थ हो जाता है ।। १० ।। ६३ ।।

तदेतत्सत्यमृषिरङ्गिरा पुरोवाच नैतदचीर्णव्रतोऽधीते नमः परम ऋषिभ्यो नमः परम ऋषिभ्यः ।। ११ ।। ६४ ।।

अर्थ–(तद्, एतद्) उस इस (सत्यम्) नित्य पुरुष को (पुरा) पहले (अङ्गिराः, ऋषिः) अंगिरा ऋषि ने (उवाच) कहा (एतत्) इस [ब्रह्म] को (अचीर्णव्रतः) व्रत का धारण न करने वाला (न, अधीते) नहीं जानता (परम ऋषिभ्यः) परम ऋषियों के लिए (नमः) नमस्कार हो ।। ११/६४ ।।

व्याख्या—उस इस नित्य पुरुष ईश्वर को अंगिरा ऋषि ने कहा—अर्थात् अंगिरा ऋषि ने ब्रह्मविद्या की शिक्षा दी और बतलाया कि जो अचीर्णव्रत हैं अर्थात् जिन्होंने व्रतों का अनुष्ठान नहीं किया है वे (ब्रह्मविद्या) को नहीं जान सकते।

जिन ऋषियों ने अपने महान् जीवनों को ब्रह्मविद्या की प्राप्ति में लगाया है ऐसे महान् ऋषियों को नमस्कार करते हुए उपनिषद् समाप्त की गई है। दो बार पाठ समाप्ति सूचक है ॥ ११ ॥ ६४ ॥

तृतीयमुण्डके द्वितीयः खण्डः

॥ समाप्ताचेयमुपनिषद् ॥

ओ३म्

उपनिषद् रहस्य

एकादशोपनिषद्

(मूल, शब्दार्थ, व्याख्या और श्लोक-मन्त्र शब्दानुक्रमणिका सहित)

भारतीय मनीषा का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण उपनिषद् हैं, ये आध्यात्मिक चिन्तन के सर्वोत्कृष्ट नवनीत हैं।

उपनिषद् शब्द का एक अर्थ 'रहस्य' भी है। उपनिषद् अथवा ब्रह्म-विद्या अत्यन्त गूढ़ होने के कारण साधारण विद्याओं की भाँति हस्तगत नहीं हो सकती, इन्हें 'रहस्य' कहा जाता है। इन रहस्यों को उजागर करने वालों में महात्मा नारायण स्वामीजी का नाम उल्लेखनीय है।

व्याख्याकार

महात्मा नारायण स्वामी
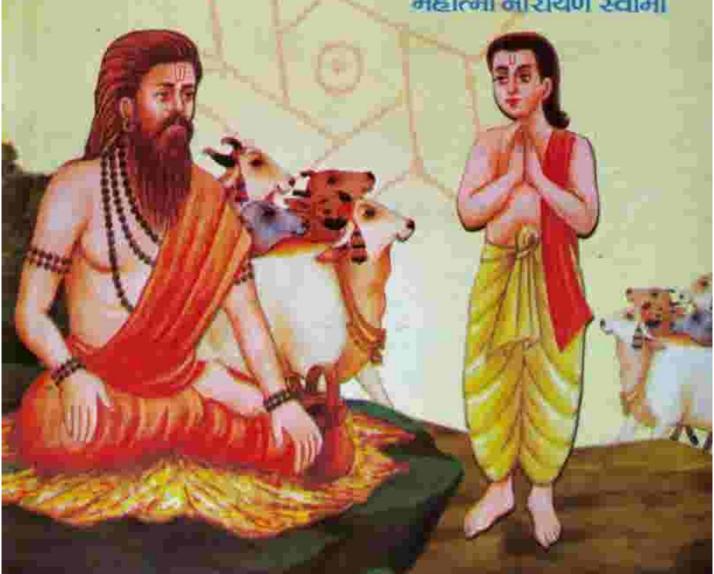
ऐतरेय उपनिषद्

॥ ओ३म् ॥

भूमिका

इतरा नामक माता के पुत्र (महीदास) ऐतरेय के रचे हुए "ऐतरेयारण्यक" और ऐतरेय ब्राह्मण नामक दो ग्रन्थ हैं। इन दोनों ग्रन्थों का सम्बन्ध ऋग्वेद से है। इसीलिए यह उपनिषद् ऋग्वेदीय उपनिषद् कही जाती है। छान्दोग्योपनिषद् में लिखा है कि इन ऐतरेय ऋषि ने, ब्रह्मचर्य के प्रताप से ११६ वर्ष की आयु प्राप्त की थी। इनके रचे पहले (ऐतरेयारण्यक) ग्रन्थ में पाँच आरण्यक हैं जिनमें से दूसरे और तीसरे आरण्यक को उपनिषद् भाग कहते हैं। इनमें प्राण और ब्रह्मविद्या अनेक आध्यात्म विद्याओं का वर्णन है जिन्हें अब प्राणोपनिषद् आदि नामों से पुकारा जाता है। दूसरे आरण्यक के चौथे अध्याय से लेकर छठे अध्याय तक को ऐतरेयोपनिषद् कहते हैं। आरण्यक का यही भाग इस उपनिषद् के नाम से पृथक् छपा हुआ है। उसी पर आगे के पृष्ठों में कुछ लिखा गया है। इस आरण्यक का सातवाँ अध्याय शान्तिपाठ के ढंग का है। कोई-कोई उसे भी उपनिषद् के साथ छाप दिया करते हैं। हमने इस टीका में केवल उतना ही भाग शामिल करना उचित समझा है, जिसमें ब्रह्मविद्या की चर्चा है और जिसे उपनिषद् कहते हैं। उपनिषद् के चौथे खण्ड में आत्मा किस प्रकार गर्भ में आता है इन बातों का उल्लेख है। कहीं-कहीं इस खण्ड के आरम्भ में यह वाक्य मिलता है-

"अपक्रामन्तु गर्भिण्यः"। अर्थात् 'गर्भिणी (स्त्रियाँ) चली जाएं।' और फिर पाँचवें खण्ड के आरम्भ में मिलता है कि "यथास्थानं तु गर्भिणीः"। अर्थात् गर्भिणी (स्त्रियाँ) अपने अपने स्थान पर वापस आ जाएं। क्यों गर्भिणी स्त्रियों को, गर्भ सम्बन्धी बातों के जानने से वञ्चित किया जाए ? यह बात

हमारी समझ में नहीं आई, इसलिए हमने इन वाक्यों को अपनी टीका में स्थान नहीं दिया है।

यह उपनिषद् संक्षिप्त, परन्तु बड़े महत्त्व की है। पूरा यत्न किया गया है कि टीका में उस का महत्त्व कम न होने पाए।

इन्हीं कुछेक प्रारम्भिक शब्दों के साथ यह टीका, अध्यात्म विद्या के प्रेमियों के सम्मुख रखी जाती है।

—नारायण स्वामी

रामगढ़ शैल
श्रावण शुक्ला सप्तमी,
संवत् १९९५ वि०

॥ ओ३म् ॥

अथ ऋग्वेदीयैतरेयोपनिषद्

अथ प्रथमोऽध्यायः

अथ प्रथमः खण्डः

आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् नान्यत्किञ्चन मिषत्। स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति ॥ १ ॥

अर्थ—(आत्मा, वा इदम्, एकः, एव, अग्रे, आसीत्) निश्चय यह एक आत्मा ही पहले था। (मिषत्, अन्यत्, किञ्चन, न) आँख झपकाने वाला (चेतन प्राणी) और कोई नहीं (था)। (सः, ईक्षत, लोकान्, नु, सृजै, इति) उसने सोचा कि लोकों को रचूं ॥ १ ॥

व्याख्या—यह वर्णन महाप्रलय की अवस्था का है, जो इस सृष्टि की रचना से पहले थी। इस अवस्था में प्रकृति अपने असली स्वरूप (कारणावस्था) में होती है और अव्यवहार्य दशा में रहती है। पिछली सृष्टि के अन्त में जो जीव होते हैं और जिन्हें इस सृष्टि के आरम्भ में उत्पन्न होना है। वे प्रलय में शरीर रहित होने से सुषुप्ति की सी, एक सुषुप्तावस्था में, रहते हैं और उनका, किसी प्रकार का शारीरिक व्यवहार नहीं होता, इसीलिए उन्हें, इस उपनिषद् वाक्य में "न, मिषत्"❖ अर्थात् आँख खोलने, बन्द करने (पलकों के झपकाने आदि) का व्यवहार न करने वाला कहा गया है। तात्पर्य यह कि चेतना का शारीरिक व्यवहार करने वाला कोई जीव भी उस (महाप्रलय) अवस्था में नहीं होता। मुक्त जीव अवश्य रहते हैं और अपने आनन्द के उपभोग आदि का सभी व्यवहार करते हैं, परन्तु वे भी प्रत्येक प्रकार के शरीरों से रहित होते हैं,

❖ मिषत् चेतना का व्यवहार करने वाले प्राणियों को कहते हैं। (विश्वस्य मिषतो वशी।)

देखो ऋग्वेद १०/१९०/२

इसलिए "न मिषत्" शब्दों के अन्दर ही आ जाते हैं। इसके सिवा उनके जगत् में, उत्पन्न होने का, मोक्ष की अवधि समाप्त न होने से, प्रकरण भी नहीं होता, इसलिए उनके यहाँ जिक्र करने का मौका भी नहीं था। जब इस प्रकार जीव और प्रकृति अव्यवहार्य अवस्था में होती है तो यह कहना सर्वथा उचित है कि केवल परमात्मा ही महाप्रलय अवस्था में अपने अपरिवर्तनीय और व्यवहार्य रूप में हुआ करता है।❖

(२) उस प्रलयावस्था में मौजूद परमात्मा ने ईक्षण किया कि जगत को रचूं। यह ईक्षण नैमित्तिक (किसी निमित्त से) नहीं होता अपितु स्वाभाविक रीति से होता है क्योंकि ईश्वर का ज्ञान, बल, क्रिया सभी स्वाभाविक होती हैं।● सृष्टि और प्रलय का चक्र नित्य है। प्रलय के समाप्त होने पर, अनादि काल से, नियत समय पर, यह ईक्षण, स्वभावत: ईश्वर में हो जाया करता है ।। १ ।।

स इमांल्लोकानसृजत। अम्भो मरीचीर्मरमापोऽदोऽम्भः परेण दिवं द्यौः प्रतिष्ठाऽन्तरिक्षं मरीचयः। पृथ्वी मरो या अधस्तात्ता आपः ।। २ ।।

अर्थ–(सः, अम्भः, मरीचीः, मरम्, आपः, इमान्, लोकान्, असृजत) उस (ईश्वर) ने अम्भस्, मरीचीः, मरम् और आपः इन (चार) लोकों को रचा। (अदः, अम्भः, परेण, दिवम्, द्यौः, प्रतिष्ठा) वह अम्भस् (पहला लोक) है जो द्यौ से परे है और द्यौ ही उसका आधार है। (अन्तरिक्षम्, मरीचयः) अन्तरिक्ष मरीचि (दूसरा लोक) है। (पृथ्वी, मरः) पृथ्वी, मर (तीसरा लोक) है। (या, अधस्तात्, ताः, आपः) जो नीचे (पृथ्वी के) है वह जल है ।। २ ।।

व्याख्या–"अम्भस्"✦ सूर्य अपनी किरणों के द्वारा जलों को खींचता है इसलिए वही अम्भस् है।

❖ यजुर्वेद में भी ऐसा ही कहा गया है। देखो १३/४ (हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे ....)

● स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च। (श्वेताश्वतरोपनिषद् ६/८)

✦ अम्भः के शब्दार्थ जल, आकाश, देव, मनुष्य, राक्षस और शक्ति के हैं।

(२) मरीचि किरणों को कहते हैं उनका आना-जाना आकाश द्वारा ही होता है इसलिए मरीचि से अन्तरिक्ष अभिप्रेत है।

(३) मर-मरण-धर्मा प्राणियों के रहने से "मर" नाम पृथिवी का है।

(४) आपः-नीचे की ओर बहाव की प्रवृत्ति रखने से जल के पृथिवी के नीचे होने की बात कही गई है।

अर्थात् पहले सूर्य, अन्तरिक्ष, पृथिवी और जल उत्पन्न किये गये। जितने प्रकाशक लोक हैं वे सभी सूर्य हैं और जितने अप्रकाशक लोक हैं वे सब पृथिवी के नाम से कहे जाते हैं। दोनों के मध्य में अन्तरिक्ष (आकाश-ईथर) का होना स्वाभाविक ही है। जल जब तक सूक्ष्म (वाष्प के रूप में) रहता है, पृथ्वी से पहले पैदा हो जाता है, परन्तु वर्त्तमान रूप में जल जिसे सब पीते हैं, पृथ्वी के उत्पन्न होने के बाद ही आता है। इसीलिए उसे पृथ्वी के बाद चौथा लोक कहा गया है। ये आकाश, जल और पृथ्वी के नाम केवल उपलक्षण के तौर पर लिये गये हैं। तात्पर्य पञ्चभूतों के व्यक्त रूप ग्रहण करने से है ॥ २ ॥

स ईक्षतेमे नु लोका लोकपालान्नु सृजा इति।
सोऽद्भ्य एव पुरुषं समुद्धृत्यामूर्च्छयत् ॥ ३ ॥

अर्थ-(सः ईक्षत इमे नु लोकाः) उस (ईश्वर) ने देखा ये लोक हैं, (लोकपालान् नु, सृजै, इति) अब मैं लोकपालों को बनाऊं (सः, अद्भ्यः, एव, समुद्धृत्य, पुरुषम्, अमूर्च्छयत्) उसने जलों से ही निकालकर(विराट्रूपी) पुरुष को बनाया ॥ ३ ॥

व्याख्या-लोकों (पञ्चभूतों) की उत्पत्ति के बाद लोकपालों की उत्पत्ति का होना स्वाभाविक ही था। उसने लोकपालों की उत्पत्ति के प्रकरण में प्रथम जल[@] से निकलकर एक पुरुष की

[@] "आप्" साधारणतया जिसे जल कहते हैं, ऐसे प्रकरणों में प्रकृति की उस अव्यक्त अवस्था को कहते हैं, जिसमें ईश्वर प्रदत्त गति से वह सक्रिय होकर सृष्टि की उत्पत्ति के क्रम को आगे चलाती है। इसी अवस्था वाली प्रकृति

रचना की "अमूर्च्छयत्" का शब्दार्थ "मूर्ति बनाई" है। भाव यह है कि वह उत्पन्न पुरुष मूर्तिमय अर्थात् सशरीर था। उस पुरुष ही का नाम वैदिक साहित्य में 'विराट्' है। विराट् वास्तव में एक कल्पित और आलंकारिक व्यक्ति है। पञ्चभूतों से उत्पन्न, सूर्य चन्द्रादिमय जगत् का समष्टि नाम विराट् है।❖ उस विराट् पुरुष के लिए अनेक जगह वर्णित है कि सूर्य, चन्द्र उसकी आँखें हैं। पृथ्वी उसका पांव है और अन्तरिक्ष उदरस्थानी है, इत्यादि (२) जल शब्द का प्रयोग यहाँ समस्त (पञ्च) भूतों के लिए है। यह केवल उपलक्षण के तौर पर प्रयुक्त है। छान्दोग्योपनिषद् में एक जगह 'तज्जलान्' ईश्वर नाम वर्णित है। जिसका अभिप्राय है कि "तल्ल" और "तज्ज" अर्थात् (तज्ज) उसी से यह ब्रह्माण्ड पैदा होता है, (तल्ल) उसी में अन्त में लीन हो जाता है और (तदन्) उसी स्थितिकाल में चेष्टा करता है।❁ इसलिए जल शब्द से पञ्चभूतों को यहाँ कहा गया है कि वे (पञ्चभूत) उसी ईश्वर से उत्पन्न होकर उसी में लीन हो जाते हैं ।। ३ ।।

(आपः) के पुष्कर, नाराः, हिरण्यगर्भ, हिरण्याण्ड, पुण्डरीक आदि नाम भी हैं। शतपथ ब्राह्मण में एक जगह कहा गया है–

स योऽपां रसमासीत्तमूर्ध्वं समुदोहन्, तामस्मै पुरमकुर्वस्तद्यदस्मै पुरमकुर्वस्तस्मात्पुष्करम्। पुष्करं ह वै तत्पुष्करमित्याचक्षते परोक्षम् ।। (शतपथ ७/४/१/१३)

अर्थात् अव्याकृत आप् (प्रकृति) का जो रस ऊपर आया वह पुर हुआ; पुर बनाने के कारण उस आप् को पुष्कर कहते हैं। उसी आप् से (विराट् रूपी) पुरुष बनाने की बात, इस उपखण्ड में कही गई है। तात्पर्य यह है कि इसी आप् से नगर और उसमें प्रतिष्ठित होने वाले 'विराट्' दोनों की रचना हुई।

बृहदारण्यक उपनिषद् में भी एक जगह, प्रारम्भ में इसी आप् के उत्पन्न होने की बात कही गई है–

नैवेह किञ्चनाग्र आसीत् मृत्युनेदमावृतमासीत्।
सोऽर्चन्नचरत् तस्यार्चत आपोऽजायन्त (बृहदारण्यकोपनिषद् १/२)

❖ ततो विराडजायत। यजुर्वेद ३०/५।।

❁ सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत ।। (छान्दोग्योपनिषद् ३/१४/१)

तमभ्यतपत्तस्याभितप्तस्य मुखं निरभिद्यत यथाण्डम्। मुखाद्वाग्वाचोऽग्निर्नासिके निरभिद्येतां नासिकाभ्यां प्राणः प्राणाद्वायुरक्षिणी निरभिद्येतामक्षिभ्य चक्षुश्चक्षुष आदित्यः कर्णौ निरभिद्येतां कर्णाभ्यां श्रोत्रं श्रोत्राद्दिशस्त्वङ् निरभिद्यत त्वचो लोमानि लोमभ्य ओषधिवनस्पतयो हृदयं निरभिद्यत हृदयान्मनो मनसश्चन्द्रमा नाभिर्निरभिद्यत नाभ्या अपानोऽपानान्मृत्युः शिश्नं निरभिद्यत शिश्नाद्रेतो रेतस आपः ॥ ४ ॥

अर्थ—(तम्, अभ्यतपत्) उस (विराट् पुरुष) को (रचयिता ने) तपाया (अर्थात् ईश्वर प्रदत्त गति ने उसके भीतर काम किया)। (तस्य, अभितप्तस्य, यथा, अण्डम्, मुखम्, निरभिद्यत) उस विराट् के अभितपित होने से (उसका) मुँह खुला जैसे अण्डा (फटता है), (मुखात्, वाक्, वाचः, अग्निः) मुख से वाणी और वाणी से अग्नि (निकली), (नासिके, निरभिद्येताम्) नासिका के दो छिद्र निकले, (नासिकाभ्याम्, प्राणः, प्राणात्, वायुः) नासिका से प्राण और प्राण से वायु (प्रकट हुआ)। (अक्षिणी, निरभिद्येताम्) आँखें निकलीं (अक्षिभ्याम्, चक्षुः, चक्षुषः, आदित्यः) आँखों से चक्षु, (देखने की शक्ति), और चक्षु से सूर्य (निकला), (कर्णौ, निरभिद्येताम्) कान खुले, (कर्णाभ्याम्, श्रोत्रम्, श्रोत्राद् दिशः) कानों से श्रोत्र (श्रवण शक्ति) और श्रोत्र से दिशाएं (प्रकट हुईं), (त्वक्, निरभिद्यत) त्वचा निकली, (त्वचः लोमानि, लोमभ्यः ओषधिवनस्पतयः) त्वचा से लोम और लोम से औषधि और वनस्पति (उत्पन्न हुईं) (हृदयम्, निरभिद्यत) हृदय खुला, (हृदयात्, मनः, मनसः, चन्द्रमा) हृदय से मन और मन से चन्द्रमा (प्रकट हुआ), (नाभिः निरभिद्यत), नाभि खुली (नाभ्याः, अपानः, अपानात्, मृत्युः) नाभि से अपान और अपान से मृत्यु (व्यक्त हुई), (शिश्नम्, निरभिद्यत, शिश्नात्, रेतः, रेतसः, आपः) प्रजननेन्द्रिय निकली और प्रजननेन्द्रिय से वीर्य और वीर्य से जल प्रकट हुआ ॥ ५ ॥

॥ इति प्रथमः खण्डः ॥

व्याख्या—ईश्वरप्रदत्त गति से जड़ और जड़ से गति-शून्य प्रकृति, विचेष्टित हुई और उसके विचेष्टित होने से लोक प्रकट हुए और लोकपालों (मनुष्यों) के उत्पन्न करने के लिए विराट् पुरुष उत्पन्न हुआ। अब इस खण्ड में यह दिखाया गया है कि उस विराट् पुरुष के किस प्रकार इन्द्रिय-छिद्र उत्पन्न हुए और किस प्रकार उन छिद्रों से इन्द्रिय और मन और किस प्रकार उन इन्द्रियों और मन से स्थूल-भूतस्थ और अग्नि आदि उत्पन्न हुए। हम यहाँ एक चित्र देते हैं जिससे इस खण्ड में वर्णित सभी बातें साफ तौर से प्रकट हो जायें और उनके समझने में किसी प्रकार की कठिनाई न हो—

चित्र जिसका प्रथम खण्ड के उपखण्ड ४ में उल्लेख है—

क्र.सं.	विराट् पुरुषों के इन्द्रिय छिद्र	विराट पुरुष के इन्द्रिय-छिद्रों से उत्पन्न हुए		विशेष
		विराट् के शरीर में	स्थूल जगत् में	
१.	मुख	वाणी	अग्नि	
२.	नासिका	प्राण	वायु	
३.	अक्षिणी (दोनों आँखों के छिद्र)	चक्षु	आदित्य	
४.	कर्ण छिद्र	श्रोत्र	दिशा	
५.	त्वंक्	लोम	औषधि, वनस्पति	
६.	हृदय	मन	चन्द्रमा	
७.	नाभि	अपान	मृत्यु	
८.	शिश्न	वीर्य	जल	

नोट—उपनिषद् का उपर्युक्त कथन प्रायः वेदानुसार ही है—

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत।
श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायत ।। (यजु० ३१।१२ ।। ४ ।।

अथ द्वितीयः खण्डः

ता एता देवताः सृष्टा अस्मिन्महत्यर्णवे प्रापतंस्तमशनाया-पिपासाभ्यामन्ववार्जत्। ता एनमब्रुवन्नायतनं नः प्रजानीहि यस्मिन्प्रतिष्ठिता अन्नमदामेति ॥ १ ॥

ताभ्यो गामानयत्ता अब्रुवन्न वै नोऽयमलमिति ।
ताभ्योऽश्वमानयत्ता अब्रुवन्न वै नोऽयमलमिति ॥ २ ॥
ताभ्यः पुरुषमानयत्ता अब्रुवन् सुकृतं बतेति पुरुषो वाव सुकृतम्।
ता अब्रवीद्यथाऽऽयतनं प्रविशतेति ॥ ३ ॥

अर्थ–(ताः, एताः, देवताः सृष्टाः, अस्मिन्, महति, अर्णवे, प्रापतन्) वे ये (अग्नि आदि) देवता रचे जाने पर इस बड़े समुद्र (आकाश) में पहुँचे। (तम्, अशनायापिपासाभ्याम् अनु अवार्जत्) उस (विराट् पुरुष) को (उसी आत्मा = परमेश्वर ने) भूख–प्यास से युक्त किया। (ताः एनम्, अब्रुवन् आयतनम्, नः, प्रजानीहि) वे (अग्नि आदि देवता) इस (आत्मा = ईश्वर) से बोले कि हमारे लिए स्थान बतलाओ (यस्मिन्, प्रतिष्ठिताः, अन्नम्, अदाम, इति) जिसमें ठहरकर हम अन्न खायें ॥ १ ॥

(ताभ्यः गाम्, आनयत्) उनके लिए गाय लाई गई (ताः, अब्रुवन्) वे (देवता) बोले (नः, वै, नः, अयम्, अलम्, इति) निश्चय हमारे लिए यह काफी नहीं है। (ताभ्यः अश्वम्, आनयत्) उनके लिए (तब) घोड़ा लाया गया (ताः, अब्रुवन्) वे बोले (न, वै, नः, अयम्, अलम्, इति) हमारे लिए यह भी काफी नहीं ॥ २ ॥

(ताभ्यः, पुरुषम्, आनयत्) उनके लिए तब मनुष्य लाया गया। (ताः, अब्रुवन्) वे बोले (सुकृतम्, बत, इति) अहो यह अच्छा बना है। (पुरुषः, वाव, सुकृतम्) निस्सन्देह मनुष्य ही (इस सृष्टि में) बहुत अच्छा बना है। (ताः, अब्रवीत्) उन (देवों) को (उसी आत्मा = ईश्वर ने) कहा (यथा, आयतनम् प्रविशत, इति) यथास्थान (इस मनुष्य में) प्रवेश करो ॥ ३ ॥

व्याख्या–उस विराट् पुरुष के लिए इन्द्रियों से, अग्नि आदि देव, उत्पन्न होकर ब्रह्माण्ड में दाखिल हुए और उन्होंने

अपने लिए, ईश्वर से निवास के लिए स्थान के आयोजना की माँग की और गाय और घोड़े को लाये जाने पर, उन देवों ने अपने ठहरने के लिए, उन्हें पसन्द नहीं किया। तब मनुष्य लाया गया और उसे उन्होंने पसन्द किया। क्यों मनुष्य को पसन्द किया ? कारण स्पष्ट है कि वाणी आदि इन्द्रियों का, जितना उत्तम व्यवहार इस (मनुष्य) योनि में हो सकता है वैसा नीचे की अन्य योनियों में नहीं हो सकता। इसीलिए मनुष्य इस सृष्टि में सर्वोत्तम प्राणी जाना और माना जाता है ॥ १, २, ३ ॥

अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशद्वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशदादित्यश्चक्षुर्भूत्वाऽक्षिणी प्राविशद्दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशन्नोषधिवनस्पतयो लोमानि भूत्वा त्वचं प्राविशंश्चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशनमृत्युरपानो भूत्वा नाभिं प्राविशदापो रेतो भूत्वा शिश्नं प्राविशन् ॥ ४ ॥

अर्थ—(अग्निः, वाक् भूत्वा, मुखम्, प्राविशत्) अग्नि वाणी होकर मुख में प्रविष्ट हुआ। (वायु, प्राणः, भूत्वा, नासिके प्राविशत्) वायु प्राण होकर नासिका में दाखिल हुआ। (आदित्यः, चक्षुः, भूत्वा, अक्षिणी प्राविशत्) सूर्य चक्षु होकर आँखों में पहुँचा। (दिशः, श्रोत्रम्, भूत्वा, कर्णौ, प्राविशन्) दिशायें श्रोत्र होकर कानों में पहुँचीं। (ओषधिवनस्पतयः, लोमानि, भूत्वा त्वचम्' प्राविशन्) औषधि और वनस्पति लोम होकर त्वचा में प्रविष्ट हुईं। (चन्द्रमाः मनः, भूत्वा, हृदयम् प्राविशत्) चन्द्रमा मन होकर हृदय में पहुंचा। (मृत्युः, अपानः, भूत्वा, नाभिम्, प्राविशत्) मृत्यु अपान होकर नाभि में दाखिल हुआ। (आपः, रेतः, भूत्वा, शिश्नम्, प्राविशन्) जल वीर्य होकर जननेन्द्रिय में प्रविष्ट हुए ॥ ४ ॥

व्याख्या—विराट् पुरुष के इन्द्रियों से, अग्नि आदि देवताओं की उत्पत्ति का एक चित्र इससे पहले दिया जा चुका है। अब यहाँ हम एक दूसरा चित्र देते हैं जिससे प्रकट होगा कि जो देवता विराट् पुरुष की इन्द्रियों से उत्पन्न हुए थे वे किस प्रकार मनुष्य की इन्द्रियों की उत्पत्ति का कारण बने—

क्र. सं.	विराट् पुरुष की इन्द्रियाँ	उनसे किस भूत की उत्पत्ति हुई	उस भूत से मनुष्य की कौन सी इन्द्रियाँ बनीं	विशेष
१.	वाणी	अग्नि	वाणी	मुख में प्रविष्ट हुई
२.	प्राण	वायु	प्राण	नासिका में प्रविष्ट हुआ
३.	चक्षु	आदित्य	चक्षु	अक्षिणी में प्रविष्ट हुई
४.	श्रोत्र	दिशा	श्रोत्र	कर्णों में प्रविष्ट हुए
५.	(त्वक्) लोम त्वक्	औषधि तथा वनस्पति	लोम	त्वचा में प्रविष्ट हुए
६.	मन	चन्द्रमा	मन	हृदय में प्रविष्ट हुआ
७.	अपान	मृत्यु	अपान	नाभि में प्रविष्ट हुआ
८.	(शिश्न) वीर्य	जल	रेत	शिश्न में प्रविष्ट हुआ

तालिका से स्पष्ट है कि विराट् पुरुष की इन्द्रिय छिद्रों से उस की जो-जो इन्द्रियाँ उत्पन्न हुई थीं और उनसे जिस-जिस भूत की उत्पत्ति हुई थी, उन भूतों ने मनुष्य शरीर में उन्हीं-उन्हीं इन्द्रियों को उत्पन्न किया और स्वयं वे भूत मनुष्य शरीरान्तर्गत उन्हीं-उन्हीं इन्द्रिय छिद्रों में समाविष्ट हुए जिनसे विराट् पुरुष के शरीर में उनकी उत्पादक इन्द्रियां उत्पन्न हुईं थीं। (२) इन भूतों ने मनुष्य शरीर में जिन-जिन इन्द्रियों को उत्पन्न किया था उन-उन इन्द्रियों में उनके उत्पादक भूतों का प्रभाव मौजूद पाया जाता है। इसी को स्पष्ट करने के लिए कुछ बातें यहाँ अंकित की जाती हैं–

(१) अग्नि–वाणी तथा मुख–वाणी में तेजस्विता का होना, वाणी की विशेषता समझी जाती है। तेज अग्नि ही से उत्पन्न होता है। इसलिए वाणी में अग्नि के प्रभाव का होना स्पष्ट है। मुख में भी अग्नि का प्रभाव मौजूद है। इस सम्बन्ध में दो बातों को ध्यान में रखने की जरूरत है–मनुष्य जब भोजन करता है तो उस भोजन के साथ मुखस्थ अग्नि अव्यक्त रूप में मेदे में पहुंचती है और मेदे में कतिपय रासायनिक क्रियाओं के होने का, जो स्वभावतः हुआ करती हैं, यह फल

है कि वह अव्यक्त अग्नि व्यक्त होकर जठराग्नि के रूप में परिवर्तित होकर भोजन के पचाने का कारण बना करती हैं।

(२) मृत्यु के समय जब मनुष्य का सारा शरीर ठण्डा हो जाता है तब भी मुख में गर्मी बाकी रहा करती है और इसलिए जब बगल में थर्मामीटर नहीं लगता तब भी मुख में लग जाया करता है। तात्पर्य यह है कि अन्तिम समय आने पर मुंह में अन्त तक गरमी बनी रहा करती है। सबसे अन्त में वह गरमी मुख से निकला करती है।

वायु-प्राण और नासिका-प्राण वायु का ही एक अंश होता है, यह तो स्पष्ट ही है।

(३) आदित्य–चक्षु और अक्षिणी (चक्षु गोलक)–आदित्य के प्रकाश ही से आँखों में प्रकाश आता है, यह बात किसी से भी छिपी नहीं है।

(४) दिशा–श्रोत्र और कर्ण–दिशा का नाम आकाश का है। शब्द आकाश का गुण है और आकाश (ईथर) के द्वारा ही सुना जाया करता है। इसलिए दिशा का श्रोत्रेन्द्रिय से सम्बन्ध भी स्पष्ट ही है।

(५) औषधि और वनस्पति–लोम और त्वचा–औषधि गेहूं आदि को कहते हैं। जो एक बार फल देकर सूख जाया करती है। अन्यों को वनस्पति और वृक्ष कहते हैं। औषधि और वनस्पति के सेवन ही से शरीर और त्वचा बना करती है और त्वचा के बन जाने पर उसमें त्वगिन्द्रियत्व आया करता है।

(६) चन्द्रमा–मन और हृदय–जिस प्रकार मुख का सम्बन्ध अग्नि से है उसी प्रकार हृदय का सम्बन्ध शीतलता से है। हृदय के शान्त होने को ही हृदय का ठण्डा होना कहते हैं। इसलिए चन्द्रमा की शीतलता हृदय के आह्लाद का कारण हुआ करती है।

(७) मृत्यु–अपान और नाभि–अपान का मुख्य केन्द्र नाभि है, परन्तु उसका कार्य मल-मूत्रेन्द्रियों से सम्बन्धित है। नाभि शरीर का केन्द्र है। गर्भ में बालक नाभि के द्वारा ही

पोषण-रस ग्रहण किया करता है। यदि शरीर से ठीक रीति से मल न निकलता रहे तो वह मनुष्य की मृत्यु का कारण हो जाया करता है। इसलिए प्राण के अन्य विभागों की तरह अपान का स्थान भी उनमें महत्त्वपूर्ण है। इसके सिवा अपान यहाँ उपलक्षण के तौर पर है, तात्पर्य सभी प्राणों से है। प्राण के रहने से मनुष्य जीवित रहा करता है। प्राण का मनुष्य के शारीरिक संगठन में इतना महत्त्व है कि उसका नाम ही प्राणी रखा गया है। आत्मा को सूक्ष्म शरीर के साथ एक शरीर से निकालकर अपेक्षित स्थान (योनि) में पहुंचाना प्राण ही का काम है।

(८) जल रेत और शिश्न वीर्य का रूप जलीय ही है। उसमें अधिकांश भाग जल ही होता है। यह स्पष्ट ही है ।।४।।

तमशनायापिपासे अब्रूतामावाभ्यामभिप्रजानीहीति। स ते अब्रवीदेतास्वेव वां देवतास्वाभजाम्येतासु भागिन्यौ करोमीति। तस्माद्यस्यै कस्यै च देवतायै हविर्गृह्यते भागिन्यावेवास्या-मशनायापिपासे भवतः ।।५।।

अर्थ–(तम्, अशनायापिपासे, अब्रूताम्) उस (आत्मा-परमेश्वर) को भूख प्यास ने कहा–(आवाभ्याम्, अभि प्रजानीहि, इति) हम दोनों के लिए स्थान बतलाओ (सः, ते अब्रवीत्) उन दोनों को (उस आत्मा ने) कहा–(एतासु, एव, वाम्, देवतासु, आभजामि) इन्हीं देवताओं (अग्नि आदि) में तुम दोनों को साथी बनाता हूँ। (एतासु, भागिन्यौ, करोमि, इति) इन्हीं में हिस्सेदार बनाता हूँ। (तस्मात्, यस्यै, कस्यै च, देवतायै, हविः, गृह्यते) इसलिए जिस किसी देवता के लिए हवि ग्रहण की जाती है, (भागिन्यौ, एव, अस्याम्, अशनायापिपासे भवतः) उसमें भाग लेने वाली भूख-प्यास होती हैं ।।५।।

व्याख्या–संसार का समस्त काम चलाने वाली दो शक्तियाँ हैं जिन्हें भूख और प्यास कहते हैं। ये ही संसार के प्रत्येक बढ़ने और काम करने वाले पदार्थों के बढ़ने और काम करने

का कारण हुआ करती हैं। प्राणी, अप्राणी सभी में इनका साम्राज्य है।

मनुष्य के अन्दर, इन्द्रियों में, जो दिव्य आग्नेय आदि शक्तियाँ हैं उन सभी में और उनसे बाहर जो वानस्पत्य आदि जगत् है उन सबमें, भूख-प्यास काम करती हैं। खाद्य और पेय पदार्थ सबके पृथक् पृथक् हैं। मनुष्य को खाने-पीने के लिए अन्न और जल की आवश्यकता है, वृक्षादि के लिए खाद और जल अपेक्षित होते हैं।

नेत्रादि के लिए रूप, रस आदि अन्न और जल का काम देते हैं। अग्नि के लिए हवि, समिधा आदि की आवश्यकता होती है। निदान जगत् में कोई वस्तु नहीं, जिसको किसी न किसी रूप में भूख-प्यास की जरूरत न पड़ती हो ॥५॥

॥ इति द्वितीयः खण्डः ॥

अथ तृतीयः खण्डः

स ईक्षतेमे नु लोकाश्च लोकपालाश्चान्नमेभ्यः सृजा इति ॥ १ ॥

अर्थ–(सः, ईक्षत, इमे, नु, लोकाः, च, लोकपालाः, च, अन्नम्, एभ्यः सृजै इति) उस (आत्मा = ईश्वर) ने देखा कि यह लोक और लोकपालक हैं अन्न इनके लिए बनाऊं ॥ १ ॥

सोऽपोभ्यतपत्ताभ्योऽभितप्ताभ्यो मूर्तिरजायत यो वै सा मूर्तिरजायताऽन्नं वै तत् ॥ २ ॥

अर्थ–(सः, आपः, अभ्यतपत्) उसने जलों (आप् रूप अव्याकृत प्रकृति) को तपाया (ताभ्यः, अभितप्ताभ्यः, मूर्तिः, अजायत) उनके तपने से मूर्ति उत्पन्न हुई, (या, वै, सा, मूर्तिः, अजायत अन्नम्, वै, तत्) जो वह मूर्ति उत्पन्न हुई, वही अन्न है ॥ २ ॥

तदेतदभिसृष्टं नदत्पराङत्यजिघांसत्तद्वाचा जिघृक्षत्तन्ना शक्नोद्वाचा ग्रहीतुम्। स यद्धैनद्वाचाऽग्रहैष्यदभिव्याहृत्य हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥ ३ ॥

अर्थ–(तत् अभिसृष्टम्, पराङ्, अत्यजिघांसत्) उस रचे हुए अन्न ने परे हट जाने की चेष्टा की (तत्, वाचा, अजिघृक्षत्) उसको वाणी से पकड़ना चाहा (तत् न, अशक्नोत्, वाचा ग्रहीतुम्) उसको वाणी से पकड़ने में समर्थ न हुआ। (सः, यत् च, एनत् वाचा अग्रहैष्यत्) वह जो इस वाणी से पकड़ लेता तो (अभिव्याहृत्य, ह, एव अन्नम्, अत्रप्स्यत्) अन्न का नाम लेकर ही तृप्त हो जाता ॥ ३ ॥

तत्प्राणेनाजिघृक्षत्तन्नाशक्नोत् प्राणेन ग्रहीतुम्।
स यद्धैनत्प्राणेनाग्रहैष्यदभिप्राण्य हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥ ४ ॥

अर्थ–(तत्, प्राणेन, अजिघृक्षत्) उसको प्राण से पकड़ना चाहा (तत्, न, अशक्नोत्, प्राणेन ग्रहीतुम्) उसे प्राण से न पकड़ सका (सः यत्, ह, एनत्, प्राणेन, अग्रहैष्यत्) वह जो इसको प्राण से पकड़ लेता तो (अभिप्राणस्य, ह, एव, अन्नम्, अत्रप्स्यत्) अन्न को सूंघकर ही तृप्त हो जाता ॥ ४ ॥

तच्चक्षुषाऽजिघृक्षत्तन्नाशक्नोच्चक्षुषा ग्रहीतुम्।
स यद्धैनच्चक्षुषाऽग्रहैष्यद् दृष्ट्वा हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥ ५ ॥

अर्थ–(तत्, चक्षुषा, अजिघृक्षत्) उस अन्न को आँख से पकड़ना चाहा (तत्, न, अशक्नोत्, चक्षुषा, ग्रहीतुम्) उसको आँख से ग्रहण नहीं कर सका (सः यत्, ह, एनत्, चक्षुषा, अग्रहैष्यत्) वह उसे आँख से ग्रहण कर लेता तो (दृष्ट्वा, ह, एव, अन्नम्, अत्रप्स्यत्) अन्न को देखकर ही तृप्त हो जाया करता ॥ ५ ॥

तच्छ्रोत्रेणाजिघृक्षत्तन्नाशक्नोच्छ्रोत्रेण ग्रहीतुम्।
स यद्धैनच्छ्रोत्रेणाग्रहैष्यच्छ्रुत्वा हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥ ६ ॥

अर्थ–(तत्, श्रोत्रेण, अजिघृक्षत्) उसको कान से ग्रहण करना चाहा परन्तु (तत्, न, अशक्नोत्, श्रोत्रेण, ग्रहीतुम्) उसे कान से ग्रहण नहीं कर सका (सः यत्, ह, एनत्, श्रोत्रेण, अग्रहैष्यत्) यदि वह इसको श्रोत्र से ग्रहण कर सकता तो (श्रुत्वा, ह, एव, अन्नम्, अत्रप्स्यत्) अन्न का नाम सुनकर ही तृप्त हो जाता ॥ ६ ॥

तत्त्वचाऽजिघृक्षत्तन्नाशक्नोत् त्वचा ग्रहीतुम्।
स यद्धैनत्वचाऽग्रहैष्यत्स्पृष्ट्वा हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥ ७ ॥

अर्थ–(तत्, त्वचा, अजिघृक्षत्) उसको त्वचा से ग्रहण करना चाहा परन्तु (तत्, न, अशक्नोत् त्वचा, ग्रहीतुम्) उसे त्वचा से ग्रहण नहीं कर सका (यदि) (सः यत्, ह, एनत्, त्वचा, अग्रहैष्यत्) उसे त्वचा से ग्रहण कर सकता तो (स्पृष्ट्वा, ह, एव, अन्नम्, अत्रप्स्यत्) अन्न को छूकर ही तृप्त हो जाता ॥ ७ ॥

तन्मनसाऽजिघृक्षत्तन्नाशक्नोन्मनसा ग्रहीतुम्।
स यद्धैनन्मनसाऽग्रहैष्यद्ध्यात्वा हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥ ८ ॥

अर्थ–(तत्, मनसा, अजिघृक्षत्) उसे मन से पकड़ना चाहा (परन्तु) (तत्, न, अशक्नोत् मनसा, ग्रहीतुम्) उसे मन से पकड़ न सका (सः यत्, ह, एनत्, मनसा, अग्रहैष्यत्) यह जो उसे मन से पकड़ लेता (तो) (ध्यात्वा, ह, एव, अन्नम्, अत्रप्स्यत्) अन्न का ध्यान करके ही तृप्त हो जाता ॥ ८ ॥

तच्छिश्नेनाजिघृक्षत्तन्नाशक्नोच्छिश्नेन ग्रहीतुम्।
स यद्धैनच्छिश्नेनाग्रहैष्यद्विसृज्य हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥ ९ ॥

अर्थ–(तत्, शिश्नेन, अजिघृक्षत्) उसको जननेन्द्रिय से पकड़ना चाहा परन्तु (तत्, न, अशक्नोत् शिश्नेन, ग्रहीतुम्) वह उसे जननेन्द्रिय से पकड़ न सका (यदि) (सः यत्, ह, एनत्, शिश्नेन, अग्रहैष्यत्) वह उसे शिश्न से पकड़ लेता (तो) (विसृज्य, ह, एव, अन्नम्, अत्रप्स्यत्) अन्न को (वीर्य की तरह) त्यागकर ही तृप्त हो जाया करता ॥ ९ ॥

तदपानेनाजिघृक्षत्तदावयत्।
स एषोऽन्नस्य ग्रहो यद्वायुरन्नमायुर्वा एष यद्वायुः ॥ १० ॥

अर्थ–(तत्, अपानेन, अजिघृक्षत्) उसने (अन्न) को अपान से ग्रहण करना चाहा (तत् आवयत्) उसने इसे पकड़ लिया (सः एषः, अन्नस्य, ग्रहः, यत्, वायुः, अन्नमायुः, वा, एषः, यत्, वायुः) सो जो वह वायु (अपान) है अन्न को ग्रहण करने वाला है। अथवा वह वायु ही आयु है ॥ १० ॥

व्याख्या–उसी आत्मा (ईश्वर) ने जब लोकों और लोकपालों को बना हुआ देखा तब उसने इनके लिए भोज्य (अन्न) बनाने का विचार किया और उन्हीं जलों को, जिसका इससे पहले उल्लेख हो चुका है, संचालित किया। उससे अन्न पैदा हुआ। अब लोकपाल (मनुष्य) किस प्रकार उस अन्न को ग्रहण करें। उस अन्न को वाणी, प्राण (नासिका), चक्षु, श्रोत्र, त्वचा, मन और शिश्न से ग्रहण करना चाहा परन्तु इनके द्वारा यह ग्रहण नहीं किया जा सका। तब अपान द्वारा उसे ग्रहण करना चाहा परन्तु यहाँ अपान समस्त प्राणों के प्रतिनिधि के रूप में है और उपलक्षण के तौर पर उसका नाम लिया गया है, तात्पर्य समस्त प्राण वायुओं से है। अपान ने उसे ग्रहण कर लिया। क्यों अपान अथवा प्राणों ने उसे ग्रहण कर लिया ? इसका उत्तर यह है कि अन्न (भोजन) जब कण्ठ में पहुँचता है तब उसे यह प्राण (उदान) ही कण्ठ से उदर में ले जाता है इसलिए स्पष्ट है कि भोजन का ग्रहण करना प्राण वायु ही का काम है। 'वी' धातु

जिससे वायु बनता है उसके अर्थ भी ग्रहण करने और खाने के हैं। इसलिए वहाँ उचित रीति से वायु को "अन्नायु" कहा गया है आयु शब्द के अर्थ भी वायु के हैं, अतः अन्नायु का अर्थ है "अन्न का ग्रहण करने वाला" वायु ॥ १-१० ॥

स ईक्षत कथं न्विदं मदृते स्यादिति स ईक्षत कतरेण प्रपद्या इति। स ईक्षत यदि वाचाऽभिव्याहृतं यदि प्राणेनाभिप्राणितं यदि चक्षुषा दृष्टं यदि श्रोत्रेण श्रुतं यदि त्वचा स्पृष्टं यदि मनसा ध्यातं यद्यपानेनाभ्यपानितं यदि शिश्नेन विसृष्टमथ कोऽहमिति ॥ ११ ॥

अर्थ–(स, ईक्षत, कथम्, नु, इदम्, मदृते, स्यात्, इति) उसी (आत्मा) ने देखा कि कैसे यह (इन्द्रियमय शरीर) मेरे बिना (जीव के बिना) रह सकता है। (सः ईक्षत, कतरेण, प्रपद्यै इति) उसने सोचा कि किस (मार्ग) से प्रवेश करूं? (सः, ईक्षत, यदि, वाचा अभिव्याहृतम्) यदि वाणी से (बिना मेरे = आत्मा के) बोल लिया गया (यदि प्राणेन, अभिप्राणितम्) यदि प्राण (नासिका ने सूंघ लिया) (यदि चक्षुषा, दृष्टम्) यदि आँखों से देख लिया गया (यदि श्रोत्रेण, श्रुतम्) यदि कान से सुन लिया गया (यदि त्वचा स्पृष्टम्) यदि त्वचा ने स्पर्श कर लिया (यदि, मनसा, ध्यातम्) यदि मन से संकल्प कर लिया गया, (यदि अपानेन, अभि अपानितम्) यदि अपान ने अपना काम कर लिया, (यदि, शिश्नेन, विसृष्टम्) यदि प्रजननेन्द्रिय ने (वीर्य) छोड़ दिया (अथ, कः, अहम्, इति) तब मैं क्या हूं? ॥ ११ ॥

स एतमेव सीमानं विदार्यैतया द्वाराप्रापद्यत। सैषा विदृतिर्नाम द्वास्तदेतन्नान्दनं तस्य त्रय आवसथास्त्रयः स्वप्ना अयमावसथोऽयमावसथोऽयमावसथ इति ॥ १२ ॥

अर्थ–(सः, एतम्, एव सीमानं विदार्य, एतया द्वारा प्रापद्यत) वह इस ही सीमा को फाड़कर इसके द्वारा प्रविष्ट हुआ। (सा, एषा, विदृतिः, नाम, द्वाः) वह द्वार 'विदृति' नाम वाला है (तत, एतत्, नान्दनम्) वह यह (द्वार) आनन्द की जगह है। (तस्य, त्रय, आवसथाः, त्रयः, स्वप्नाः) उस (आत्मा) के

रहने के तीन स्थान हैं, और तीन ही स्वप्न हैं (अयम् आवसथः, अयम्, आवसथः, अयम् आवसथः) यह स्थान है, यह स्थान है, यह स्थान है ।। १२ ।।

स जातो भूतान्यभिव्यैख्यत् किमिहान्यं वावदिषदिति। स एतमेव पुरुषं ब्रह्म ततमपश्यदिदमदर्शमहो ॥ १३ ॥

अर्थ–(सः, जातः, भूतानि, अभिव्यैख्यत्) उस उत्पन्न हुए (जीव) ने भूतों को देखा (किम्, इह, अन्यम्, वावदिषत् इति) क्या यहाँ अन्य से बोले ? (सः, एतम्, एव, पुरुषं ब्रह्म, ततम् अपश्यत्) उस (आत्मा) ने इसी महान् और व्यापक पुरुष (ईश्वर) को देखा (इदम्, अदर्शम् अहो) इसको देखा ।। १३ ।।

तस्मादिदन्द्रो नामेदन्द्रो ह वै नाम। तमिदन्द्रं सन्तमिन्द्रमित्याचक्षते परोक्षेण। परोक्षप्रिया इव हि देवाः परोक्षप्रिया इव हि देवाः ॥ १४ ॥

अर्थ–(तस्मात्, इदन्द्रः, नाम इदन्द्रः, ह, वै, नाम) इसलिए उस का इदन्द्र नाम है, इदन्द्र यह नाम है। (तम् इदन्द्रम्, सन्तम्, इदन्द्र, इति, आचक्षते परोक्षेण) उसको इदन्द्र होते हुए परोक्ष से इन्द्र कहते हैं, (परोक्षप्रियाः, इव, हि, देवाः) देव परोक्षप्रिय होते हैं (परोक्षप्रियाः इव हि देवाः) देव परोक्षप्रिय होते हैं ।। १४ ।।

व्याख्या–इस उपखण्ड में कतिपय आवश्यक बातें विस्तृत व्याख्या चाहती हैं उनमें से प्रत्येक का विवरण नीचे दिया जाता है–

(१) इन्द्रियमय शरीर जड़ है। अन्तःकरण चतुष्टय भी जड़ है। शरीर के अन्दर आत्मा के रहने और उसकी चेतना के प्रकाश से प्रकाशित होने से समस्त अन्तः बहिःकरण, काम किया करते हैं। रसायन शास्त्र (Chemistry) में जिस प्रकार एक वस्तु के उपस्थित होने मात्र से अन्यान्य अनेक वस्तुएँ मिल जाती हैं❖ और जिस प्रकार उस मिश्रण से वह पहली वस्तु सर्वथा अलग ही रहा करती है। इसी प्रकार आत्मा के शरीर में होने से, समस्त शरीरावयव, रक्त संचार, पाचन क्रिया आदि

❖ रसायन शास्त्र में उस वस्तु का नाम "कैटेलाइटिक" (Catalytic) है।

का कार्य स्वयमेव करने लगते हैं, अवश्य इन्द्रियाँ जो इरादे का काम करती हैं, उस इरादे का प्रारम्भ जीवात्मा ही से हुआ करता है। इसीलिए यहाँ जीव सोचता है कि यदि बिना मेरे ही समस्त इन्द्रियां अपना-अपना व्यापार कर सकती हैं तो शरीर में मेरा होना न होना एक जैसा है। परन्तु बिना जीव के शरीर का कोई भी व्यापार चाहे वह इच्छित हो या अनिच्छित, नहीं हो सकता इसीलिए आवश्यकता है कि शरीर में आत्मा रहे।

(२) इसी बात को दृष्टि में रखकर, आत्मा ने शरीर की सीमा को फाड़कर शरीर में प्रवेश किया। इसीलिए उस प्रवेश द्वार का नाम "विदृति" (फाड़ा या छिद्र किया हुआ) है वह प्रवेश द्वार मूर्धा का अन्तिम (ब्रह्मरन्ध्र) चक्र समझा जाता है इसी द्वार का दूसरा नाम "नान्दन" (आनन्ददायक) है।

(क) आत्मा से अभिप्राय क्या होता है। शिर की राह से जो आत्मा शरीर में प्रविष्ट होता है उस आत्मा से अभिप्राय परमात्मा है या जीवात्मा। विचार करने से यह बात साफ तौर से प्रकट होती है कि इस खण्ड में प्रयुक्त 'आत्मा' शब्द ईश्वर और जीव दोनों के लिए प्रयुक्त हुआ करता है। इस बात को प्रायः सभी जानते हैं। जिस शरीर में आत्मा के प्रविष्ट होने का प्रश्न है, यह वह शरीर नहीं जिसे विराट् कहते हैं और जो अव्याकृत प्रकृति (आपः) से बनाया गया था और जिसमें उसका बनाने वाला आत्मा (परमात्मा) प्रविष्ट समझा जाता है क्योंकि उसी का तो यह सूर्य और चन्द्ररूपी नेत्र वाला, विस्तृत (विराट् रूपी कल्पित) शरीर, समझा और माना जाता है। अपितु यह मनुष्य का शरीर है। इस मनुष्य शरीर में आत्मा और परमात्मा दोनों प्रकाश और छाया के सदृश प्रविष्ट हैं।[⊗] और दोनों के प्रविष्ट होने ही से शरीर का व्यापार चला करता है। प्राणियों (मनुष्यों) के शरीर में जीवात्मा "अभिमानी जीवात्मा" संज्ञक होता है और इसीलिए वह शरीर का कारोबार चलाने में मन और इन्द्रिय के साथ हो जाया करता है और ये तीनों ही मिलकर कर्ता और

⊗ गुहाम्प्रविष्टौ परमे परार्द्धे। छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति (कठोपनिषद् ३/१)

भोक्ता हुआ करते हैं।❖ परन्तु परमात्मा इन शरीरों में अपने व्यापकत्व से अनुशयी आत्मा के तौर पर रहा करता है और इसीलिए इन शरीरों में उसे अनुप्रविष्ट कहा जाया करता है।✽

तात्पर्य इन सबका यह है कि जहाँ मनुष्य शरीर में शिर के मार्ग से आत्मा का प्रवेश वर्णन किया गया है वहाँ आत्मा के प्रवेश का अभिप्राय यह है कि अभिमानी आत्मा के तौर पर जीव ने और अनुशयी आत्मा के तौर पर परमात्मा ने अनुप्रवेश किया अन्यथा देखने, सुनने, खाने, पीने, गर्भाधान करने आदि समस्त इन्द्रिय विषयों का अभिमानी आत्मा परमात्मा को ही मानना पड़ेगा और यदि ऐसा माना तो इससे परमात्मा के प्रामाण्य में धब्बा लगता है। दोनों का प्रवेश मानने ही से इस खण्ड के अन्तिम भाग की संगति भी लग सकती है। अन्यथा उस उत्पन्न हुए जीव ने व्यापक ब्रह्म को देखकर जो यह कहा कि "इदम् अदर्शम् अहो।" (अहो इस (ब्रह्म) को देखा) इत्यादि, वे वाक्य एक आत्मा अपने ही लिए तो नहीं कह सकता। फिर यहाँ तो देखने वाले को 'उत्पन्न हुआ (जीव)' और जिसे देखा उसे स्पष्ट शब्द में 'ब्रह्म' कहा गया है।

(ख) जीव शरीर में कब प्रविष्ट होता है ? इसी उपनिषद् में आगे बतलाया गया है❖ कि जीव प्रथम पिता के शरीर में आकर पिता के वीर्य के साथ, माता के शरीर में जाता है और वह वीर्य तथा रक्त और तीसरा जीव तीनों जब मिल जाते है। तब इसी का नाम गर्भ की स्थापना होती है यदि ऐसा न होता अर्थात् रज और वीर्य के साथ जब जीव शामिल न होता तो गर्भ स्थापित नहीं हो सकता था। संसार में चीजें दो प्रकार से बढ़ती हैं–

(१) एक बाहर से जैसे पत्थर, लोहा, चांदी, सोना आदि और (२) दूसरे भीतर से जैसे वृक्ष, पशुओं और मनुष्यों के

❖ आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्ते आहुर्मनीषिणः ।।

✽ तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् ।। अर्थात् उसको रचकर उसमें स्वयं (ईश्वर) अनुप्रविष्ट हुआ।) (तैत्तिरीयोपनिषद् ब्रह्मानन्दवल्ली अनुवाक ६)

❖ देखो इसी उपनिषद् का चौथा खण्ड।

शरीर आदि। इन दोनों प्रकार की वस्तुओं की बढ़ोतरी में यह अन्तर क्यों है? इसका कारण जीव का होना और न होना है। जिनमें जीव नहीं होता वे वस्तुएं बाहर से बढ़ती हैं और जिनमें जीव होता है वे भीतर से बढ़ा करती हैं। गर्भ भीतर से बढ़ा करता है इसलिए मानना पड़ता है कि उसके भीतर जीव है। अन्यथा वह न बढ़ सकता और न स्थापित हो सकता था, केवल रजोवीर्य के मेल से गर्भ स्थापित नहीं हुआ करता।

यदि जीव शरीर में प्रारम्भ से ही आ जाता है तब यहाँ यह क्यों कहा गया कि शरीर की सीमा फाड़कर शरीर में प्रविष्ट हुआ? इसका उत्तर यह है कि समस्त प्रकरण, जो इन्द्रियों द्वारा अन्न ग्रहण करने से प्रारम्भ होता है, आलंकारिक है। अन्यथा आँख, कान आदि किस प्रकार अन्न ग्रहण करने का यत्न कर सकते थे और उनकी असफलता पर अपान ने किस प्रकार अन्न ग्रहण कर लिया इत्यादि।

शरीर का काम जीव के बिना चल नहीं सकता था, इसलिए अलंकार द्वारा ही उसका प्रवेश दिखला दिया गया और मूर्धा के द्वारा प्रवेश दिखलाने का एक कारण है। एक दूसरी उपनिषद् में एक जगह कहा गया है कि 'शरीर में हृदय की १०१ नाड़ियों में से एक (सुषुम्णा) मूर्धा में जाकर समाप्त होती है। (उसकी) समाप्ति ही के स्थान का नाम ब्रह्मरन्ध्रचक्र है'। जब जीव का मोक्ष होता है तब वह इसी मार्ग से शरीर से निकलता है और जब उसकी अन्य (आवागमन) से (सम्बन्धित) गतियाँ होती हैं तब यह अन्य मार्गों से, शरीर से निकला करता है।❖

इससे स्पष्ट है कि शरीर में आने के लिए नहीं अपितु शरीर से बाहर निकलने के लिए आनन्द (मोक्ष) दायक मूर्धा-मार्ग है। इस उपनिषद् में अलंकार की पूर्ति के लिए जीव का शरीर में प्रवेश दिखलाना था, इसलिए इसी आनन्दप्रद मार्ग से उसका प्रवेश दिखला दिया।

❖ शतञ्चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका। तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमेण भवन्ति।। कठोपनिषद् ६/१६

(३) शरीर में जीव कहाँ रहता है? इसके लिए इस खण्ड में कुछ न कहा जाकर केवल तीन बार यह स्थान, यह स्थान, यह स्थान लिख दिया गया है। उसी प्रकरण में तीन स्वप्नों का नाम भी लिया गया है, जिसका तात्पर्य जागृत, स्वप्न और सुषुप्तावस्थाओं से है। इसीलिए टीकाकारों ने जागृतावस्था में जीव का दाहिनी आँख में, स्वप्नावस्था में कण्ठ में (अथवा मन में) और सुषुप्तावस्था में हृदय में होना बतलाया है। शंकराचार्य से लेकर प्रायः सभी टीकाकार इससे सहमत हैं।

(४) उसी हृदय में होता हुआ जीव, परमात्मा का साक्षात्कार किया करता है। इसीलिए खण्ड के अन्त में जीव द्वारा ब्रह्म का साक्षात्कार करने की बात लिख दी है। जीव ने जब हृदय में, महान् प्रभु का साक्षात्कार किया तो उसने सोचा कि 'अहो उसको देखा'। संस्कृत में ये शब्द हैं–"इदम्, अदर्शम् अहो" इस इदम् में अदर्शम् का द और र जोड़कर एक संक्षिप्त वाक्य (इदम् अदर्शम्) का "इदन्द्र" बना लिया गया और ईश्वर का यह "इदन्द्र" नाम इसीलिए है कि जीव उसका साक्षात्कार करते हैं।

उसी इदन्द्र को, परोक्षरूप देने के लिए "इन्द्र" कर दिया गया है क्योंकि देवगण (वीर विद्वान्) परोक्षप्रिय हुआ करते हैं ॥ ११-१४ ॥

इति तृतीयः खण्डः

इत्यैतरेय-द्वितीयारण्यके चतुर्थोऽध्यायः

इति उपनिषत्सु च प्रथमोऽध्यायः

अथ द्वितीयो अध्यायः
अथ चतुर्थः खण्डः

पुरुषे ह वा अयमादितो गर्भो भवति। यदेतद्रेतस्तदेतत्सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यस्तेजः सम्भूतमात्मन्येवात्मानं बिभर्ति तद्यदा स्त्रियां सिञ्चत्यथैनञ्जनयति तदस्य प्रथमं जन्म ॥ १ ॥

अर्थ–(पुरुषे, ह, वै, अयम्, आदितः, गर्भः भवति) पुरुष (पिता के शरीर) में निश्चय पहले से ही यह जीव गर्भ के (तौर पर) होता है। (यत्, एतद् रेतः) जो यह वीर्य (कहा जाता है) (तद्, एतत्, सर्वेभ्यः, अङ्गेभ्यः, तेजः, सम्भूतम् आत्मनि, एव, आत्मानम्, बिभर्ति) यह वह (वीर्य मनुष्य के शरीर में) समस्त अंगों से तेज (रूप में) इकट्ठा हुआ है। इस (पुत्र के तौर पर उत्पन्न होने वाले) आत्मा को (पुरुष) अपने आत्मा में (धारण करके) रक्षा करता है। (तद्, यदा, स्त्रियाम्, सिञ्चति, अथ, एतत्, जनयति तत्, अस्य, प्रथमम्, जन्म) उस वीर्य को जब पुरुष-पिता, (जिसके शरीर में उत्पन्न होने वाले पुत्र का आत्मा मौजूद है) स्त्री में सींचता है तब वह (पिता) इस (अपने गर्भभूत) को जन्म देता है वह इस (पिता के वीर्य में स्थित पुत्र के आत्मा) का पहला जन्म है ॥ १ ॥

तत् स्त्रियाम् आत्मभूयं गच्छति यथा स्वमङ्गं तथा। तस्मादेनां न हिनस्ति सास्यैतमात्मानमत्र गतं भावयति ॥ २ ॥

अर्थ–(तत्, स्त्रियाम्, आत्मभूयम् गच्छति, यथा, स्वम्, अङ्गम्, तथा) वह (गर्भ अर्थात् आत्मा सहित वीर्य) स्त्री का शरीर बन जाता है जैसे उसका अपना अंग। (तस्मात्, एनाम्, न, हिनस्ति) इसलिए उसको पीड़ा नहीं देता। (सा, अस्य, एतम्, आत्मानम्, अत्र, गतम्, भावयति) वह (स्त्री) इस पुरुष के इस (गर्भस्थ) आत्मा को अपने शरीर में मिला हुआ जानती है ॥ २ ॥

सा भावयित्री भावयितव्या भवति तं स्त्री गर्भं बिभर्ति सोऽग्र एव कुमारं जन्मनोऽग्रेऽधिभावयति स क यत्कुमारं जन्मनोऽग्रेधिभावयत्यात्मानमेव तद्भावयत्येषां लोकानां सन्तत्या एवं सन्तता हीमे लोकास्तदस्य द्वितीयं जन्म ॥ ३ ॥

अर्थ–(सा, भावयित्री, भावयितव्या, भवति) वह स्त्री गर्भ की रक्षा करती हुई (स्वयं) रक्षणीय होती है। (तम्, गर्भम्, स्त्री, बिभर्ति) स्त्री उस गर्भ को धारण करती है। (सः, अग्रे, एव, कुमारं, जन्मनः, अग्रे, अधिभावयति) वह (पिता) उस कुमार को जन्म से पहले और बाद भी बढ़ाता है। (सः, यत्, कुमारम्, जन्मनः, अग्रे, अधिभावयति, आत्मानम्, एव, तत्, भावयति) वह पिता जो जन्म से पहले कुमार को बढ़ाता है, (रक्षा करता है) वह मानो अपने ही आप को बढ़ाता है, (एषाम्, लोकानाम्, सन्तत्यै) इन लोकों के फैलाव के लिए (एवम्, सन्तताः, हि, इमे, लोकाः) इसी प्रकार फैले हुए ये लोक हैं। (तत्, अस्य, द्वितीयम्, जन्म) यह इसका दूसरा जन्म है ॥ ३ ॥

सोऽस्यायमात्मा पुण्येभ्यः कर्मभ्यः प्रतिधीयते। अथास्याऽयमितर आत्मा कृतकृत्यो वयोगतः प्रैति स इतः प्रयन्नेव पुनर्जायते तदस्य तृतीयं जन्म ॥ ४ ॥

अर्थ–(सः, अस्य, अयम्, आत्मा, पुण्येभ्यः, प्रतिधीयते) वह इस (पिता) का, यह आत्मा (कुमार = पुत्र) पुण्य कर्मों के लिए (पिता का) प्रतिनिधि होता है। (अथ, अस्य, अयम्, इतरः, आत्मा, कृतकृत्यः, वयोगतः, प्रैति) और इस (पिता) का यह (दूसरा) (पिता का असली अभिमानी) आत्मा कृतकृत्य और वृद्ध होकर चल देता है। (सः, इतः, प्रयन्, एव, पुनः जायते) वह यहाँ से जाते ही फिर से जन्म ले लेता है। तद्, अस्य, तृतीयम्, जन्म) वह इसका तीसरा जन्म है ॥ ४ ॥

तदुक्तमृषिणा–"गर्भे नु सन्नन्वेषामवेदमहं देवानां जनिमानि विश्वा। शतं मा पुर आयसीररक्षन्नधः श्येनो जवसा निरदीयमिति॥" (ऋग्वेदे मण्डले ४ सूक्तम् २७/१) गर्भ एव शयानो वामदेव एवमुवाच ॥ ५ ॥

अर्थ–(तत्, उक्तम्, ऋषिणा) ऐसा ही ऋषि ने कहा है–(नु अहम् गर्भे, सन्, एषाम्, देवानाम्, विश्वा, जनिमानि, अनु, अवेदम्) मैंने गर्भ में रहते हुए ही, इन देवों के समस्त जन्मों को जाना है। (मा, शतम्, आयसी, पुरः, अरक्षन्, अधः, श्येनः,

जवसा, निरदीयम्, इति) लोहे के समान सौ (अनेक) पुरों (शरीरों = योनियों) ने मुझे रक्षित रखा अब मैं (उस सम्बन्ध से) बाज पक्षी के समान वेग से निकल आया हूँ। (गर्भे, एव शयानः वामदेवः एवम्, उवाच) गर्भ ही में सोए हुए वामदेव ने इस प्रकार कहा (जैसा वेद मन्त्र में कहा गया है) ।। ५ ।।

स एवं विद्वान्नस्माच्छरीरभेदादूर्ध्वमुत्क्रम्यामुष्मिन् स्वर्गे लोके सर्वान्कामानान्त्वाऽमृतः समभवत्समभवत् ।। ६ ।।

अर्थ–(सः, एवम्, विद्वान्, अस्मात्, शरीरभेदात्, ऊर्ध्वम्, उत्क्रम्य, अमुष्मिन्, स्वर्गेलोके, सर्वान्, कामानाप्त्वाऽमृतः, समभवत्, समभवत्) वह विद्वान् (वामदेव) इस प्रकार शरीर छोड़कर ऊपर उठकर, उस स्वर्ग-लोक में, समस्त कामनाओं को पाकर अमर हो गया ।। ६ ।।

व्याख्या–इस खण्ड में मनुष्य के तीन जन्मों के होने की बात कही गई है–

पहला जन्म–पिता के शरीरान्तर्गत वीर्य में, उत्पन्न होने वाले पुत्र का आत्मा प्रविष्ट होता है। वीर्य (बीज) चूंकि समस्त शरीर का एकत्रित तेज होता है इसलिए इसमें उसी प्रकार समस्त शरीर का ढांचा मौजूद रहता है जिस प्रकार वटवृक्ष के बीज में वटवृक्ष का समस्त ढांचा। जब पिता उसी वीर्य को जिसमें उत्पन्न होने वाली सन्तति का आत्मा मौजूद होता है माता के शरीर में सिंचित करता है तब वह पिता अपने वीर्य में मौजूद आत्मा को जन्म देता है। यह उसका पहला जन्म होता है। यहाँ यह बात बिलकुल साफ है कि जीव शरीर में शिर फोड़कर नहीं अपितु उसके बनने से भी पहले ही, जब तक उस शरीर के कारणभूत गर्भ का प्रारम्भ माता के शरीर में नहीं होता, उस गर्भ का आधार बनने के लिए पिता के शरीर में आकर उसके वीर्य में ठहरता है।

दूसरा जन्म–माता गर्भ को अपने शरीर का अंग बनाकर उसकी रक्षा करती है इसलिए वह गर्भ माता को भारस्वरूप होकर कष्ट नहीं देता। ऐसी गर्भवती माता सभी के लिए रक्षा

का पात्र होती है। पिता गर्भगत सन्तति की, उत्पन्न होने से पहले जब वह गर्भ रूप में होता है और उत्पन्न होने के बाद भी रक्षा करता हुआ उसके विकास का कारण बनता है। संसार का विस्तार भी इसी प्रकार गर्भ और सन्तति की रक्षा द्वारा हुआ करता है इसीलिए इस प्रकार सन्तान पैदा करके उसकी रक्षा करने को, पितृऋण से उऋण होना कहा जाता है। इस प्रकार गर्भ-गत बालक का जन्म लेना, दूसरा जन्म कहा जाता है।

तीसरा जन्म—यह उत्पन्न पुत्र, अच्छे और पुण्य कर्मों के लिए पिता का प्रतिनिधि होता है। पिता का आत्मा कृतकृत्य होकर, शरीर के वृद्ध हो जाने पर संसार से चल देता है और इस प्रकार शरीर छोड़ते ही वह फिर जन्म ले लेता है। यह उस का तीसरा जन्म होता है क्योंकि उस (पिता) के भी पुत्रवत् दो जन्म पहले हो चुके थे।

इसी की पुष्टि ऋग्वेद के मन्त्र से की गई है। इस मन्त्र में दो बातें कही गई हैं—(१) "गर्भ में रहते हुए मैंने इन देवों के समस्त जन्मों को जान लिया है।" यह बात ऐसे ही जीवात्मा कहते और कह सकते हैं। जिन्होंने मिथ्या ज्ञान को दूर करके अपने को समुज्ज्वल बनाकर प्रत्येक प्रकार की अशुद्धि से अपने को रहित कर लिया है देवों से तात्पर्य यहाँ इन्द्रियों का है। इन्द्रियों के जन्मों से मतलब अपने ही पूर्व के जन्मों से है। संयम करने की योग्यता प्राप्त कर लेने वाले विद्वान् अपने पिछले जन्मों का हाल जान लिया करते हैं जैसा योगदर्शन में कहा गया है—
"संस्कारसाक्षात्करणात्पूर्वजातिज्ञानम्॥" (योगदर्शन)

अर्थात् संस्कारों के साक्षात् कर लेने से पहले जन्म का ज्ञान हो जाता है।

(२) दूसरी बात मन्त्र में यह कही गई है—"लोहे के सौ (अनेक) पुरों (योनियों) ने मुझे उसी तरह से रक्षित रखा। (जैसे पिंजड़े में पक्षी रखे जाया करते हैं।) अब मैं बाज की तरह वेग से (उन पिंजड़ों से) निकल आया हूं।" मोक्ष तक पहुंचने में यह स्पष्ट ही है कि जीव को अनेक जन्मों के

बन्धनों में से गुजरना पड़ता है। परन्तु जो उनसे निकलने का यत्न करते हैं। वे निकल ही जाया करते हैं, जैसे वामदेव के लिए इस खण्ड के अन्त में कहा गया है। यही भाव विस्तृत और स्पष्ट शब्दों में गर्भोपनिषद् में प्रदर्शित किए गए हैं। इनका उपयोगी भाग यहाँ उद्धृत किया जाता है–

गर्भोपनिषद्–"**अथ नवमे मासे सर्वलक्षणज्ञानकरणसम्पूर्णो भवति पूर्वजातिं स्मरति शुभाशुभं च कर्म विन्दति।**

पूर्वयोनिसहस्राणि दृष्ट्वा चैव ततो मया।
आहारा विविधा भुक्ताः पीता नानाविधाः स्तनाः॥
जातश्चैव मृतश्चैव जन्म चैव पुनः पुनः।
यन्मया परिजनस्यार्थे कृतं कर्म शुभाशुभम्॥
एकाकी तेन दह्येऽहं गतास्ते फलभोगिनः।
अहो दुःखोदधौ मग्नो न पश्यामि प्रतिक्रियाम्॥
यदि योन्याः प्रमुच्येऽहं तत्प्रपद्ये महेश्वरम्।
अशुभक्षयकर्त्तारं फलमुक्तिप्रदायकम्॥

अर्थात्–गर्भ के नौवें मास में जब समस्त ज्ञान और कर्मेन्द्रिय पूर्ण हो जाती हैं, पूर्व जन्म का (जीव) स्मरण करता है। शुभाशुभ कृत कर्मफल को प्राप्त होता है।

इससे पहले हजारों योनियों में मैं जा चुका हूं। अनेक प्रकार के आहार किये, अनेक माताओं के स्तनों से दूध पिया।

जन्मा, मरा, फिर बार-बार इसी प्रकार जन्म लिया और परिवार के लिए अच्छे बुरे कर्म किये।

अब मैं अकेला ही उनसे जल रहा हूं। (अर्थात् उनका फल भोग रहा हूं।) सुख-भोगी (परिवार वाले) सब चले गये। मैं दुःख के समुद्र में डूबा हुआ उससे निकलने का कोई मार्ग नहीं देखता।

यदि मैं इस योनिबन्धन से छूट जाऊं तो ईश्वर की शरण लूंगा जो दुःख विनाशक और मुक्तिदाता है।

निरुक्त के परिशिष्ट भाग में भी यास्काचार्य ने इस प्रकार के भाव प्रकट किये हैं–

निरुक्त— मृतश्चाहं पुनर्जातो जातश्चाहं पुनर्मृतः।
नानायोनिसहस्राणि मयोषितानि यानि वैः ॥
आहारा विविधाः भुक्ताः पीता नानाविधाः स्तनाः।
मातरो विविधा दृष्टाः पितरः सुहृदस्तथा ॥
अवाङ्मुखः पीड्यमानो जन्तुश्चैव समन्वितः ॥

अर्थात् मरकर मैं फिर जन्मा और जन्म लेकर फिर मरा। सहस्रों योनियों का मैंने आश्रय लिया।

अनेक प्रकार के आहारों का भोग किया और अनेक माताओं के स्तन पीए, अनेक माता और मित्र देखे। गर्भ में नीचे को सिर किए हुए, दुःखी प्राणी ऐसा सोचता है ॥ १-६ ॥

इति चतुर्थः खण्डः

इत्यैतरेयारण्यके पञ्चमोऽध्यायः

इति उपनिषत्सु द्वितीयोध्यायः समाप्तः

अथ तृतीयो अध्याय:

अथ पञ्चमः खण्डः

कोऽयमात्मेति वयमुपास्महे। कतरः स आत्मा। येन वा रूपं पश्यति येन वा शब्दं शृणोति येन वा गन्धानाजिघ्रति येन वा वाचं व्याकरोति येन वा स्वादु चास्वादु च विजानाति ॥ १ ॥

यदेतद् हृदयं मनश्चैतत्संज्ञानमाज्ञानं विज्ञानं प्रज्ञानं मेधा दृष्टिर्धृतिर्मतिर्मनीषा जूतिः स्मृतिः सङ्कल्पः क्रतुरसुः कामो वश इति। सर्वाण्येवैतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवन्ति ॥ २ ॥

एष ब्रह्मैष इन्द्र एष प्रजापतिरेते सर्वे देवा इमानि च पञ्च महाभूतानि पृथिवी वायुराकाश आपो ज्योतींषीत्येतानीमानि च क्षुद्रमिश्राणीव बीजानीतराणि चेतराणि चाण्डजानि च जरायुजानि च स्वेदजानि चोद्भिज्जानि चाश्वा गावः पुरुषा हस्तिनो यत्किञ्चेदं प्राणि जङ्गमं च पतत्रि च यच्च स्थावरं सर्वं तत्प्रज्ञानेत्रं प्रज्ञाने प्रतिष्ठितं प्रज्ञानेत्रो लोकः प्रज्ञा प्रतिष्ठा प्रज्ञानं ब्रह्म ॥ ३ ॥

स एतेन प्राज्ञेनात्मनाऽस्माल्लोकादुत्क्रम्यामुष्मिन्स्वर्गे लोके सर्वान्कामानाप्त्वाऽमृतः समभवत्समभवत् ॥ इत्योम् ॥ ४ ॥

अर्थ–(कः, अयम्, आत्मा, इति, वयम्, उपास्महे) वह आत्मा कौन है जिसकी हम उपासना करते हैं। (कतरः, सः, आत्मा) दोनों में से यह कौन आत्मा है ? (येन, वा, रूपम्, पश्यति) जिससे रूप को देखता है, (येन, वा, शब्दम्, शृणोति) या जिससे शब्द सुनता है, (येन, वा, गन्धान्, आजिघ्रति) या जिससे गन्धों को सूंघता है, (येन, वा, वाचम्, व्याकरोति) या जिससे वाणी को व्यक्त करता है, (येन, वा, स्वादु, च, अस्वादु, वा विजानाति) या जिससे स्वादिष्ट और अस्वादिष्ट (पदार्थों) को जानता है ॥ १ ॥

(यत्, एतत्, हृदयम्, मनः च) जो यह हृदय और मन है (एतत्, संज्ञानम्, आज्ञानम् विज्ञानम्, प्रज्ञानम्, मेधा, दृष्टिः, धृतिः,

मतिः, मनीषा, जूतिः, स्मृतिः, सङ्कल्पः, क्रतुः, असुः, कामः, वशः, इति) यह ज्ञान (शरीर और इन्द्रिय का शासक होने की योग्यता, विशेष ज्ञान, चेतना और बुद्धि, दृष्टि, धृति, समझ, मननशीलता, वेग, स्मृति, संकल्प, इरादा, श्वास लेना, काम और इच्छा है।) (सर्वाणि, एव, एतानि, प्रज्ञानस्य, नामधेयानि, भवन्ति) ये सब प्रज्ञान (चेतना) ही के नाम हैं ।। २ ।।

(एषः, ब्रह्म) यह ब्रह्म है, (एषः, इन्द्रः) यह इन्द्र है, (एषः, प्रजापतिः) यह प्रजापति है। (एते, सर्वे, देवाः) ये सब देव, (इमानि, च, पञ्च, महाभूतानि) ये पञ्च महाभूत, (पृथिवी, वायुः, आकाशः, आपः, ज्योतींषि, एतानि) पृथिवी, वायु, आकाश, जल और अग्नि ये (इमानि, च, क्षुद्रमिश्राणि, इव, बीजानि) ये छोटे और मिले-जुले से बीज (इतराणि, च, अण्डजानि, च, जरायुजानि, च स्वेदजानि, च उद्भिज्जानि, च, अश्वाः, गावः, पुरुषा, हस्तिनः) और जो अण्डे से उत्पन्न होने वाले, जेर से उत्पन्न होने वाले (मनुष्यादि) और पसीने से उत्पन्न होने वाले और पृथिवी को फोड़कर उत्पन्न होने वाले (वृक्षादि), घोड़े, गाय, पुरुष और हाथी (यत्, किम्, च, इदम्, प्राणी, जंगमम्, च पतत्रि, च, यत्, च, स्थावरम्) और जो कुछ यह प्राणी जंगम परद और जो स्थावर, (सर्वम्, तत् प्रज्ञानेत्रम्) वे सब प्रज्ञानेत्र हैं। (प्रज्ञाने प्रतिष्ठितम्) प्रज्ञान में प्रतिष्ठित हैं। (लोकः प्रज्ञानेत्रः) लोक प्रज्ञानेत्र हैं। (प्रज्ञा, प्रतिष्ठिता) प्रज्ञान पर प्रतिष्ठित हैं, (प्रज्ञानम्, ब्रह्म) प्रज्ञान ब्रह्म है ।। ३ ।।

(सः, एतेन, प्राज्ञेन, आत्मना) वह इस प्राज्ञ आत्मा से (अस्मात्, लोकात्, उत्क्रम्य) इस लोक से ऊपर चढ़कर (अमुष्मिन्, स्वर्गे, लोके) उस स्वर्ग लोक में (सर्वान्, कामान्, आप्त्वा) समस्त इच्छाओं को पूरी करके, (अमृतः, समभवत् समभवत्) अमर हो जाता है ।। इति ओम् ।। ४ ।।

व्याख्या–इससे पहले इस उपनिषद् में दो शरीर और दो आत्माओं का विवरण दिया गया है। उनमें से एक तो वह है जिसका शरीर विराट् रूप है और जिसके इन्द्रियों से अग्नि आदि भूतों की उत्पत्ति हुई है और दूसरा शरीर वह जिसके इन्द्रियों में, ये पञ्चभूत इन्द्रिय शक्ति होकर, प्रविष्ट हुए। इस दूसरे शरीर के लिए कहा गया है कि इसमें रहने वाला आत्मा (जीव) पिता के वीर्य में प्रविष्ट होकर उसी के साथ माता के शरीर में जाकर गर्भ की स्थापना करता है। विराट् रूपी शरीर में रहने वाला आत्मा ब्रह्म है और माता के शरीर से गर्भ में आकर उत्पन्न होने वाला जीव है। अतः इस खण्ड के प्रारम्भ ही में यह प्रश्न किया गया है कि इन दोनों आत्माओं में से वह कौन सा आत्मा है कि जिसकी हम (मनुष्यगण) उपासना करते हैं। क्या वह जिसके शरीर में होने से हम देखते–सुनते आदि हैं। इस प्रकार का उत्तर स्वयं उपनिषद् के पाठक दे सकें, इसके लिए उपनिषद्कार ने वर्णन किया है कि जो मन और हृदय है वह "संज्ञान" आदि १६ वस्तुओं में ही है और इन सोलह वस्तुओं में से, एक जो प्रज्ञान है जिसका नाम प्रारम्भ में ही लिया गया है, बाकी "संज्ञान" आदि उसी का रूप अथवा नाम है। इतना वर्णन करने के बाद अब असली प्रश्न का उत्तर दिया है कि वह प्रज्ञान ही ब्रह्म है, वही इन्द्र और वही प्रजापति है। बाकी जीव जगत् अथवा प्राकृतिक जगत् क्या है इसके लिए कहा गया है कि ये सब उसी प्रज्ञा (प्रज्ञान) के नेत्र हैं और उसी प्रज्ञा में प्रतिष्ठित हैं। अर्थात् वही प्रज्ञान रूपी ब्रह्म इन सबका आश्रय स्थान है और इसी का प्रज्ञा रूप ब्रह्म के आश्रय से मनुष्य इस लोक से ऊपर होकर, आप्तकाम हो जाता और मोक्ष प्राप्त कर लिया करता है। यहाँ (इस खण्ड में) मन को चेतना और संज्ञानादि को उसी चेतना का रूप अथवा नाम क्यों कहा गया है ? उत्तर स्पष्ट है और

वह यह है कि शरीर में जीव के होने से उसकी चेतना का प्रकाश समस्त शरीर में उसी प्रकार फैला हुआ रहता है जिस प्रकार लैम्प का प्रकाश कमरे में और जिस प्रकार उस लैम्प के प्रकाश से कमरे की प्रत्येक वस्तु प्रकाशमय होती है। उसी प्रकार आत्मा की चेतना के प्रकाश से भी समस्त मन और इन्द्रियादि, शरीरावयव चेतनामय और प्रकाशित रहते हैं।

ब्रह्म को प्रज्ञान क्यों कहा गया? इसलिए कि चेतना, आनन्द और सत्य के साथ उसका स्वरूप है और ब्रह्म को इसीलिए सच्चिदानन्द स्वरूप कहते हैं ॥ १-४ ॥

इति पञ्चमः खण्डः

इत्यैतरेयारण्यके षष्ठोऽध्यायः
इति उपनिषत्सु तृतीयोऽध्यायः
इत्यैतरेयोपनिषत्सम्पूर्णा

ओ३म्

उपनिषद् रहस्य

एकादशोपनिषद्

(मूल, शब्दार्थ, व्याख्या और श्लोक-मन्त्र शब्दानुक्रमणिका सहित)

भारतीय मनीषा का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण उपनिषद् हैं, ये आध्यात्मिक चिन्तन के सर्वोत्कृष्ट नवनीत हैं।

उपनिषद् शब्द का एक अर्थ 'रहस्य' भी है। उपनिषद् अथवा ब्रह्म-विद्या अत्यन्त गूढ़ होने के कारण साधारण विद्याओं की भाँति हस्तगत नहीं हो सकती, इन्हें 'रहस्य' कहा जाता है। इन रहस्यों को उजागर करने वालों में महात्मा नारायण स्वामीजी का नाम उल्लेखनीय है।

व्याख्याकार
महात्मा नारायण स्वामी
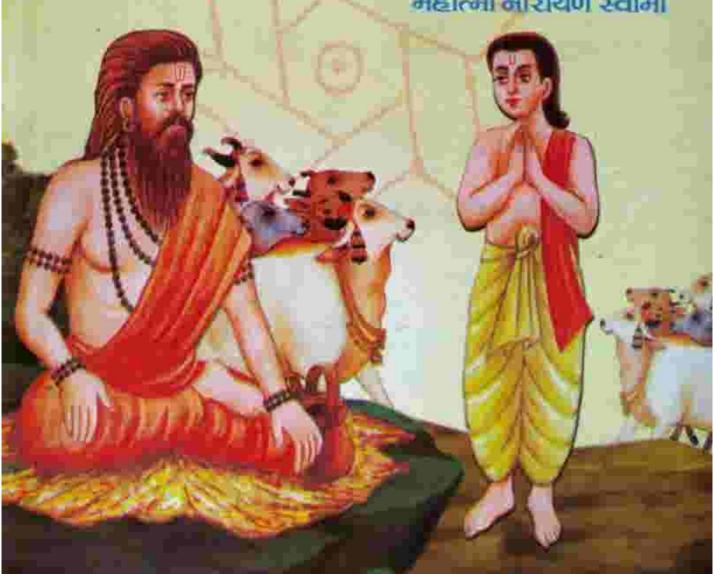
श्वेताश्वतर उपनिषद्

॥ ओ३म् ॥

भूमिका

ईश्वर की सत्ता सर्वोच्च है।

इस मूल सिद्धान्त को स्पष्ट करते हुए यह उपनिषद् कहता है कि–

न तस्य कश्चित् पतिरस्ति लोके
न चेशिता नैव च तस्य लिंगम्।
स कारणं करणाधिपाधिपो
न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः ॥

उस परमपिता परमात्मा का कोई स्वामी नहीं है। उस पर कोई शासन करने वाला नहीं है। उसका कोई लिंग नहीं है। क्योंकि वह स्वयं सृष्टि का निर्माता है। इस सृष्टि के साधनों का भी स्वामी है।

मूल आध्यात्मिक सिद्धान्तों को हमारे उपनिषद् अत्यन्त सरल रूप में प्रस्तुत करने की कला में सर्वोत्तम ग्रन्थ हैं। आध्यात्मिक विकास के लिए वेदों और उपनिषदों का गहरा स्वाध्याय अत्यन्त आवश्यक है।

आशा है वैदिक मान्यताओं के प्रचार प्रसार में श्वेताश्वतरोपनिषद् का यह संस्करण अवश्य ही लाभकारी होगा।

श्वेताश्वतरोपनिषद्

प्रथमोऽध्यायः

ओ३म्-ब्रह्मवादिनो बदन्ति। किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाता, जीवाम केन, क्व च सम्प्रतिष्ठा।

अधिष्ठिताः केन, सुखेतरेषु वर्त्तामहे, ब्रह्मविदो व्यवस्थाम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ—ब्रह्मवादी [ब्रह्मज्ञान के विद्यार्थी] ब्रह्म के विषय पर परस्पर वार्तालाप करते हैं और कहते हैं कि (कारणम्) जगत् का कारण [किम्] क्या कोई (ब्रह्म) ब्रह्म [परमात्मा] है [अथवा ब्रह्म क्या है] (कुतः) कहाँ से [किससे] (जाताः स्म) हम उत्पन्न हुए हैं। (केन) किस से [किसके द्वारा] (जीवाम) हम जीते हैं (च) और (क्व) किसके (सम्प्रतिष्ठाः) हम आश्रित हैं। (ब्रह्मविदः) हम ब्रह्म के जानने वाले (केन) किससे (अधिष्ठिताः) अधिष्ठित किसकी अध्यक्षता में (सुखेतरेषु—सुख + इतरेषु) सुख वा दुःख में (व्यवस्थाम्) नियम में (वर्त्तामहे) वर्तते हैं [अर्थात् किसकी व्यवस्था से हम सुख-दुःख भोग रहे हैं]।

कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्यम्।
संयोग एषां न त्वात्मभावादात्माप्यनीशः सुखदुःखहेतोः ॥ २ ॥

शब्दार्थ—(इति) यह (चिन्त्यम्) विचारणीय है (कि क्या) (कालः) काल [वक्त] (स्वभाव) [पदार्थों का] स्वभाव [कुदरत] (नियतिः) प्रारब्ध [भाग्य], (यदृच्छा) अकस्मात् [इत्तफाक से] (भूतानि) [पञ्च] भूत [पृथिवी, जल, तेज, वायु वा आकाश], (योनिः) योनि अर्थात् माता-पिता अथवा (पुरुषः) जीवात्मा [सृष्टि का कारण है अथवा] (एषाम्) इन [उपरोक्त प्रथम पद] का (संयोगः) संयोग [अर्थात् पृथक्-पृथक्, नहीं तो क्या मिलकर] [सृष्टि का कारण है]। [उत्तर देते हैं कि] (न तु) नहीं, (आत्मा भावात्) आत्मभाव न होने के

कारण [और] (आत्मा) जीवात्मा (अपि) भी (अनीशः) अनीश अर्थात् अल्प शक्ति (सामर्थ्य) वा अल्प ज्ञान वाला होने [और] (सुख दुःख हेतोः) सुख-दुःख भोगने में परतन्त्र होने के कारण [सृष्टि का कारण नहीं हो सकता]।। २ ।।

ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्।
यः कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ–[तब] (ते) वे [ब्रह्मवादी ऋषि] (ध्यानयोगानुगताः) ध्यानयोग में अनुगत [लीन] होकर (स्वगुणैः) [उसके] अपने गुणों से (निगूढाम्) गूढ़ [छिपी हुई, अव्यक्त] (देवात्मशक्तिम्) परमात्मा की दिव्य शक्ति को (अपश्यन्) देखते हुए [यह विचारने लगे कि] (यः) जो [महान् देव] (एकः) अकेला ही (तानि) उन पूर्वोक्त (कालात्मयुक्तानि) काल से लेकर आत्मा तक [आठों] (निखिलानि) समस्त (कारणानि) कारणों का (अधितिष्ठति) अधिष्ठाता है [वह निस्सहाय अकेला ही जगत् का कारण है]।। ३ ।।

तमेकनेमिं त्रिवृतं षोडशान्तं शतार्द्धारं विंशतिप्रत्यराभिः।
अष्टकैः षड्भिर्विश्वरूपैकपाशं त्रिमार्गभेदं द्विनिमित्तैकमोहम् ॥ ४ ॥

शब्दार्थ–[उन ब्रह्मवादी ऋषियों ने समाधि अवस्था में] (तम्) उस [संसार रूपी ब्रह्मचक्र] को [देखा जैसा कि निम्न वर्णित है अर्थात्] (एकनेमिं) एक [प्रकृति रूप] नेमि [परिधि-घेरा] वाला, (त्रिवृतम्) तीन [सत्त्व, रज वा तम रूप] लपेटों वाला, (षोडशान्तम्) १६ [प्राण, श्रद्धा, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी, इन्द्रिय, मन, अन्न, वीर्य, तप, मन्त्र, कर्म, लोक और नाम कलारूप] अन्त [जुड़े टुकड़े अर्थात् अवयव] वाला, (शतार्धारम्–शत + अर्ध + अरम्) ५० अरे अर्थात् [अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश पाँच क्लेश तथा पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पंच ज्ञानेन्द्रियाँ और मन और इन्हीं की ११ अशक्तियों वा ६ तुष्टि अर्थात् एक की प्रकृति के ज्ञान मात्र में, दूसरे की संन्यासचिह्नों के धारण अर्थात् वैराग्य में, तीसरे की यह समझने में कि काल ही सब कुछ करता है, चौथे की भाग्य के भरोसे में, पाँचवें की अहिंसा व्रत में, छठे की सत्यव्रत

में, सातवें की अस्तेय व्रत में, आठवें की ब्रह्मचर्य व्रत में और नवम की अपरिग्रह अर्थात् विषयभोग में दोष देखकर अस्वीकार करने में तुष्टि हो जाती है और इन ९ तुष्टियों की ९ ही अशक्तियाँ अर्थात् अभाव वा ८ सिद्धियाँ [ऐश्वर्य] अर्थात् एक अणिमा, दूसरी महिमा, तीसरी गरिमा, चौथी लघिमा, पाँचवीं प्राप्ति, छठी पराक्राम्य, सातवीं ईशित्व और आठवीं वशित्व और इन आठ की फिर ८ अशक्तियाँ, इस प्रकार ५ क्लेश, २८ अशक्ति, ९ तुष्टि और ९ सिद्धि मिलकर कुल ५० अरों वाला ब्रह्मचक्र बनता है। तथा (षड्भिः) छ (अष्टकैः) अष्टकों वाला [अर्थात् १ प्रकृत्यष्टक-पाँच स्थूलभूत, मन, बुद्धि और अहंकार, २. धात्वष्ट, त्वक्, चर्म, मांस, रुधिर, मेदा, अस्थि, मज्जा वा वीर्य ३. सिद्धि-अष्टक-परकाय प्रवेश, जलादि में असंग, उत्क्रान्ति, ज्वलन्त, दिव्यश्राप, आकाशगमन, प्रकाशावरणक्षय और भूतजय, ४. मद-अष्टक-तनमद, धनमद, जनमद, बलमद, ज्ञानमद, बुद्धिमद, कुलमद, वा जातिमद, ५. अशुभ-अष्टक-अशुभ सोचना, सुनना, देखना, बोलना, स्पर्श करना, कर्म करना, कराना, होने देना, ६. धर्म अष्टक-नित्यधर्म, निमित्त धर्म, देशधर्म, कालधर्म, कुलधर्म, जातीय धर्म, आपद्-धर्म और अपवाद धर्म, (विश्वरूपैकपाशम्) विश्वरूपी एक ही पाश [बन्धन] वाला, (त्रिमार्गभेदम्) [उत्पत्ति, स्थिति वा प्रलय रूप] तीन मार्गों के भेदन करने वाला, (द्विनिमित्तैकमोहम्-द्विनिमित्त + एकमोहम्) दो [शुभ और अशुभ ब्रह्मचक्र के चलने के] निमित्त वाला वस्तुतः मोहरूपी एक ही निमित्त वाला (ब्रह्मचक्र) जो है उसको समाधि में देखा अर्थात् इस अद्वैत जगत् रचना को देखकर ब्रह्म में लीन हो गये]॥४॥

पञ्चस्रोतोम्बुं पञ्चयोन्युग्रवक्रां पञ्चप्राणोर्मिं पञ्चबुद्ध्यादिमूलाम्।
पञ्चावर्तां पञ्चदुःखौघवेगां पञ्चाशद्भेदां पञ्चपर्वामधीमः॥५॥

शब्दार्थ-[संसार रूपी अथवा पिण्डरूपी नदी] (पंचस्रोतः) पांच ज्ञानेन्द्रियरूप स्रोतों में बहने वाला (अम्बुम्) जलवाली, (पञ्चयोन्युग्रवक्राम्) पञ्च स्रोतों के कारण उग्र [भीषण]

और वक्र [टेढ़ी, मेढ़ी] (पंचप्राणोर्मिम्–पञ्चप्राण + ऊर्मिम्) पञ्च प्राणरूपी लहरों वाली, (पञ्चबुद्ध्यादिमूलाम्)–[पञ्चबुद्धि + आदि–मूलाम्] पाँच बुद्धि रूपी [शब्द, स्पर्श, रूप, रस वा गन्ध–रूप] पाँच आवर्त अर्थात् भंवर वाली, (पञ्चदुःखौधवेगाम्–पंचदुःख + ओधवेगाम्) [जन्म दुःख, मृत्यु दुःख, जरा दुःख, रोग दुःख और गर्भ दुःख] पाँच प्रकार के दुःखों के प्रवाह से वेगवाली, (पञ्चाशद्भेदाम्) पचास [कई एक] भेद [तारने के तरीकों] वाली, (पञ्चपर्वाम्) [अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश रूप] पाँच पर्व [जोड़] वाली [नदी को] (अधीमः) हम जानते हैं ॥५॥

सर्वाजीवे सर्वसस्थे बृहन्ते अस्मिन् हंसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे।
पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति ॥६॥

शब्दार्थ–(अस्मिन्) इस (सर्वाजीवे–सर्व + आजीवे) सब जीवों के जीवनाधार, (सर्वसंस्थे) सबके आश्रयभूत, (बृहन्ते) बड़े (ब्रह्मचक्रे) ब्रह्मचक्र में (हंसः) जीवात्मा (भ्राम्यते) [सुख–दुःख का फल भोगने रूप] घुमाया जाता है। [जीव जब] (आत्मानम्) अपने आत्मा (च) और (प्रेरितारम्) [इस चक्र के] प्रेरक [परमात्मा] को (पृथक्) भिन्न (मत्वा) जानकर (तेन) उस [परमात्मा] से (जुष्टः) प्रेम किया हुआ [अर्थात् उसका प्रेमपात्र जब हो जाता है] (ततः) तब (अमृतत्वम्) मोक्ष को (एति) प्राप्त कर लेता है ॥६॥

उद्गीतमेतत्परमं तु ब्रह्म तस्मिंस्त्रयं सुप्रतिष्ठाऽक्षरं च।
अत्रान्तरं ब्रह्मविदो विदित्वा लीना ब्रह्मणि तत्परा योनिमुक्ताः ॥७॥

शब्दार्थ–(एतत्) यह (परमम्) [सर्वोत्कृष्ट) (ब्रह्म) ब्रह्म [परमात्मा] (तु) तो (उद्गीतम्) ऊँचा स्तुति मान करने योग्य है। (तस्मिन्) उसे [उपरोक्त ब्रह्मचक्र] में (त्रयम्) तीन (अक्षरम्) अविनाशी [ब्रह्म, जीव वा प्रकृति] (सुप्रतिष्ठा) अच्छी प्रकार स्थित हैं। (अत्र) इन [ब्रह्म, जीव वा प्रकृति में] (ब्रह्मविदः) ब्रह्मवेत्ता (अन्तरम्) अन्तर [भेद] (विदित्वा) जानकर (ब्रह्मणि) ब्रह्म में (लीनाः) लीन हुए (तत्पराः)

उसमें रमकर (योनिमुक्ताः) योनि अर्थात् जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त हो जाते हैं ॥ ७ ॥

संयुक्तमेतत् क्षरमक्षरं च व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वमीशः।
अनीशश्चात्मा बध्यते भोक्तृभावाज्ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ–(एतत्) इस [प्रकृति] (क्षरम्) कार्यरूप [पृथिव्यादि कार्यरूप में] नाशवान् [और] (अक्षरम्) [कारण रूप में] अविनाशी (च) और (व्यक्तम्) [कार्यरूप में] दृश्य [प्रकट] [वा] (अव्यक्तम्) [कारण रूप में] अदृश्य [अप्रकट] [दोनों रूपों में] [संयुक्तम्] मिली हुई को अर्थात् (विश्वम्) सब जगत् को (ईशः) सबका स्वामी [ईश्वर] (भरते) धारण वा पालन करता है (च) और (अनीशः) असमर्थ, परतन्त्र [फल भोगने में] (आत्मा) जीवात्मा (भोक्तृभावात्) सुख-दुःख [कर्मफल] भोगने के कारण (बध्यते) [जन्म मरण के] बन्धन में बन्ध जाता है [किन्तु वह] (देवम्) परमदेव परमात्मा को (ज्ञात्वा) जानकर (सर्वपाशैः) सब बन्धनों से (मुच्यते) छूट जाता है अर्थात् मोक्ष प्राप्त कर लेता है ॥ ८ ॥

ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशावजा ह्येका भोक्तृभोग्यार्थयुक्ता।
अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्त्ता त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ–(द्वौ) दो (ज्ञाज्ञौ–ज्ञ + अज्ञौ) ज्ञानी [ब्रह्म] वा अज्ञानी [जीव], (अजौ) दोनों ही अजन्मा (ईशानीशौ = ईश + अनीशौ) समर्थ–स्वामी [ब्रह्म] व असमर्थ [अल्प शक्ति वाला जीव] [व] [तीसरा] (हि) निश्चय से (एकः) एक (अजा) अजा, [अजन्मा, अनादि] और है [प्रकृति] [जो, कि] (भोक्तृ + भोग्यार्थ युक्ता) भोगने वाले [जीव] के भोगों के अर्थों से युक्त [अर्थात् भोग के लिए] है (च) और (आत्मा) परमात्मा (अनन्तः) अनन्त, (विश्वरूपः) विश्वरूप [सारा विश्व उस सर्वव्यापक का अवयवरूप है] [और] (हि) निश्चय से (अकर्त्ता) [वह] कर्म व उसके फल–बन्धन में नहीं फंसता। (यदा) जब [जीव] (त्रयम्) उक्त तीनों [ब्रह्म, जीव वा प्रकृति] को (विन्दते) पा लेता [जान लेता]

है तो कहता है कि (एतत्) यह [सर्वव्यापक अन्तर्यामी] (ब्रह्म) ब्रह्म है ॥ ९ ॥

क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः।
तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्त्व-भावात् भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः ॥ १० ॥

शब्दार्थ–(प्रधानम्) प्रकृति [कार्यरूप] (क्षरः) नाशवान् है, (हरः) संहर्ता [ब्रह्म] (अमृताक्षरम्) अविनाशी है। (क्षरात्मानौ) नाशवान् [कार्यरूप] प्रकृति वा अविनाशी जीव आत्मा इन दोनों पर (एकः) एक (देवः) परमदेव परमात्मा (ईशते) स्वामित्व करता है। (तस्य) उस [ब्रह्म] के (अभिध्यानात्) पूरे तौर पर ध्यान करने से, (योजनात्) अपने आत्मा को उसमें युक्त करने अर्थात् योग-समाधि से (च) और (तत्त्वभावात्) उसमें तन्मय (लीन) होने से (भूयः) फिर (अन्ते) अन्त में (विश्वमायानिवृत्तिः) संसार की माया [बन्धनों] से निवृत्ति हो जाती है अर्थात् वह मोक्ष को प्राप्त कर लेता है ॥ १० ॥

ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः क्षीणैः क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः।
तस्याभिध्यानात्तृतीयं देहभेदे विश्वैश्वर्यं केवल आप्तकामः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ–[मनुष्य] (देवम्) परमदेव [ब्रह्म] को (ज्ञात्वा) जानकर (सर्वपाशापहानि–सर्वपाश + अपहानि) [उसके] सब बन्धनों का नाश हो जाता है [और] (क्लेशैः) [सब] क्लेशों के (क्षीणैः) क्षीण [नष्ट] होने पर (जन्म-मृत्युप्रहाणि) जन्म-मृत्यु के दुःख [आवागमन] से छूट जाता है, (तस्य) उसे [ब्रह्म] के (अभिध्यानात्) अच्छी प्रकार ध्यान करने से (देहभेदे) देह छूटने [मृत्यु] पर (तृतीयम्) तीसरे (विश्वैश्वर्यम्) विश्व के ऐश्वर्य को प्राप्त कर (केवलः) प्रकृति के सांसारिक सुखों से विरक्त [जीवात्मा] (आप्तकामः) सर्वकामनापूर्ण [सफल मनोरथ] हो जाता है अर्थात् मोक्ष को प्राप्त कर लेता है ॥ ११ ॥

एतज्ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थं नातः परं वेदितव्यं हि किञ्चित्।
भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ-(एतत्) इस (नित्यम्) नित्य (एव) ही (आत्मसंस्थम्) आत्मा में स्थित [ब्रह्म] को (ज्ञेयम्) जानना चाहिए। (अतः) इससे (परम्) श्रेष्ठ [बड़ा] (किञ्चित्) कुछ [कोई] (हि) भी (न वेदितव्यम्) नहीं जानना चाहिये। (भोक्ता) [सुख-दुःख] भोगने वाला [जीवात्मा] (भोग्यम्) भोगने योग्य [प्रकृति] को (प्रेरितारम्) प्रेरणा देने वाले [ब्रह्म] को (मत्वा) जानकर (सर्वम्) सब (त्रिविधम्) तीन प्रकार के जगत् कारण [ब्रह्म, प्रकृति वा जीव] (प्रोक्तम्) जो ऊपर कहे गये हैं उनको [पृथक्-पृथक् जानकर] ब्रह्मज्ञानी कहता है [कि] (मे) मेरा (तत्) वह [ब्रह्म] है अर्थात् ब्रह्म में लीन हो जाता है॥ १२॥

वह्नेर्यथा योनिगतस्य मूर्तिर्न, दृश्यते नैव च लिङ्गनाशः।
स भूयं एवेन्धनयोनिगृह्यस्तद्वोभयं वै प्रणवेन देहे ॥ १३ ॥

शब्दार्थ-(यथा) जैसे (वह्नेः) अग्नि के (योनिगतस्य) अपने योनि [कारण-स्थानकाष्ठ] में रहते हुए (तस्य) उस को (मूर्तिः) आकृति [चमकीला स्वरूप] (न दृश्यते) दिखाई नहीं देती (च) और (न) न (एव) ही [उसका] (लिङ्गनाशः) उपस्थिति के चिह्न का नाश [होता है] (सः) वह [अग्नि] (भूयः एव) फिर भी (इन्धनयोनिगृह्यः) ईन्धनरूपी योनि [उत्पत्ति स्थान] में ग्रहण की जा सकती है (तद् वा) तो वैसे ही (उभयम्) दोनों [ब्रह्म व जीव] (व) निश्चय से (देहे) देह में [हृदयाकाश में स्थित] (प्रणवेन) प्रणव [ओ३म्] के जप से [जाने जा सकते हैं]॥ १३॥

स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्।
ध्याननिर्मथनाभ्यासादेवं पश्येन्निगूढवत्॥ १४॥

शब्दार्थ-(स्वदेहम्) अपने शरीर को (अरणिम्) [नीचे की] अरणि [विशेष ईन्धन] (कृत्वा) के समान करके (च) और (प्रणवम्) ओ३म् [परमात्मा के सर्वोत्कृष्ट नाम] को (उत्तरारणिम्) ऊपर की अरणि [के समान करके] (ध्याननिर्मथनाभ्यासात्) ध्यानरूपी रगड़ के निरन्तर अभ्यास

से (निगूढवत्) आत्मा के भीतर में स्थित (देवम्) परमात्मदेव को (पश्येत्) [ध्यान दृष्टि से] देखे ॥ १४ ॥

तिलेषु तैलं दधिनीव सर्पिरापः स्रोतः स्वरणीषु चाग्निः।
एवमात्माऽत्मनि गृह्यतेऽसौ सत्येनैनं तपसा योऽनुपश्यति ॥ १५ ॥

शब्दार्थ–[जैसे] (तिलेषु) तिलों में (तैलम्) तेल, (इव) जैसे (दधिनि) दही में (सर्पिः) घी, (स्रोतःसु) [भूमिगत] स्रोतों [झरनों] में (आपः) जल (च) और (अरणीषु) अरणियों [विशेष काष्ठों] में (अग्निः) अग्नि [छिपी होती है] (एवम्) ऐसे ही (आत्मनि) हृदयाकाश के भीतर आत्मा में (असौ) यह (आत्मा) परमात्मा (गृह्यते) ग्रहण किया जा सकता है [परन्तु] (यः) [उससे] जो (एनम्) इस [ब्रह्म] को (सत्येन) सत्याचरण [व] (तपसा) तप [धर्मानुष्ठान] के द्वारा (अनुपश्यति) देख [जान] लेता है ॥ १५ ॥

सर्वव्यापिनमात्मानं क्षीरे सर्पिरिवार्पितम्।
आत्मविद्यातपोमूलं तद्ब्रह्मोपनिषत् परम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ–(क्षीरे) दूध में (सर्पिः) घी (इव) की तरह (सर्वव्यापिनम्) सर्वव्यापक (आत्मानम्) परमात्मा को (अर्पितम्) [अपने आत्मा में] उपस्थित [जाने]। (आत्मविद्यातपोमूलम्) आत्मज्ञान वा तप [धर्मानुष्ठान] ही जिसका मूल [अर्थात् जानने का साधन है] (तत्) उस (ब्रह्म) की (उपनिषत्परम्) [ध्यान योग द्वारा] उपासना ही परम [श्रेष्ठ] है ॥ १६ ॥

द्वितीयोऽध्यायः

युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धियः।
अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या अध्याभरत्॥ १ ॥

यजु० ११/१

शब्दार्थ–[जो] (युञ्जानः) योग के करने वाले मनुष्य [जब] (तत्त्वाय) ब्रह्म ज्ञान के लिए (प्रथमम्) पहले (मनः) अपने मन को [परमेश्वर में युक्त करते हैं तब] (सविता) सर्वजगदुत्पादक परमेश्वर (धियम्) [उनकी] बुद्धि को [अपनी कृपा से अपने में युक्त कर लेता है] [फिर वे योगी] (अग्नेः) ज्ञानस्वरूप परमेश्वर के (ज्योतिः) प्रकाशस्वरूप को (निचाय्य) यथावत् निश्चय करके (अध्याभरत्) अपने आत्मा में परमेश्वर को धारण करते हैं। (पृथिव्याः) पृथ्वी के बीच में [योगी का यही प्रसिद्ध लक्षण है ऐसा जानना चाहिये] ॥ १ ॥

युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे।
स्वर्ग्याय शक्त्या ॥ २ ॥ यजु० ११/२

शब्दार्थ–[हे योग और ब्रह्मविद्या जानने की इच्छा करने वाले मनुष्यो !] जैसे (वयम्) हमने [योगियों ने] (युक्तेन) योगयुक्त [योगाभ्यास किया] (मनसा) मन [विज्ञान] से और (शक्त्या) सामर्थ्य योगबल से (देवस्य) सर्वद्योतक, स्वप्रकाश व आनन्द- स्वरूप (सवितुः) सकल जगदुत्पादक जगदीश्वर के (सवै) जगत्रूप इस ऐश्वर्य में (स्वर्ग्याय) मोक्षसुख की प्राप्ति के लिए [ज्ञानरूप प्रकाश को धारण करें वैसे तुम भी करो] ॥ २ ॥

युक्त्वाय सविता देवान् स्वर्यतो धिया दिवम्।
बृहज्ज्योतिः करिष्यतः सविता प्रसुवाति तान्॥ ३ ॥

यजु० ११/३

शब्दार्थ–[उपरोक्त प्रकार से योगाभ्यास किये जाने से] (देवान्) देवों [अपने उपासकों योगियों को] (सविता) सर्वजगदुत्पादक अन्तर्यामी ईश्वर अपनी कृपा से (स्वर्यतः) अत्यन्त सुख दे के (धिया) [उनकी] बुद्धि के साथ [अपने

आनन्दस्वरूप प्रकाश को युक्त करता है] [तथा] (युक्त्वाय) [उनकी आत्माओं को अपने में] सम्यक् युक्त करके (बृहज्ज्योतिः) अनन्त प्रकाश वा (दिवम्) दिव्य-स्वरूप को (प्रसुवाति) प्रकाशित करता है [और] (तान्) उन (करिष्यतः) सत्य, प्रेम, भक्ति से [उस परमेश्वर की] उपासना करने वालों (योगियों) को [सदा आनन्द में रखता है] ॥ ३ ॥

युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः।

वि होत्रा दधे वयुनाविदेक इन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः ॥ ४ ॥ यजु० ११/४, ऋ० ५/८/१/१

शब्दार्थ–[जो] (होत्राः) होता [योगी मनुष्य], (विप्रा) ईश्वरोपासक मेधावी [बुद्धिमान्] (विप्रस्य) सर्वज्ञ [परमेश्वर], (बृहतः) महान्, (विपश्चितः) अनन्त विद्यावान्, (सवितुः) सर्वजगदुत्पादक, (देवस्य) सर्वजगत्प्रकाशक [परमात्मा] के [मध्य] (मनः) मन को (युञ्जते) युक्त करते [और] (धियः) बुद्धि को (उत) भी (युञ्जते) युक्त करते हैं [जो परमात्मा] (वयुनावित्) सब प्रज्ञानों व प्रजा को जानने वाला [साक्षी] है [और] (एकः) एक [असहाय] (इत्) ही (विदधे) सब जगत् को रचता व धारण करता है [उसकी] (मही) महती बड़ी (परिष्टुतिः) सब प्रकार से स्तुति [करनी चाहिए] [ऐसा करने से मनुष्य परमेश्वर के पास पहुंच जाता है अर्थात् उसको प्राप्त कर लेता है] ॥ ४ ॥

युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिर्वि श्लोकः एतु पथ्येव सूरेः।

शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः ॥ ५ ॥

यजु० ११/५

शब्दार्थ–[ईश्वर योग का उपदेश देने वालों वा योग जिज्ञासुओं को उपदेश करता है कि जब तुम] (पूर्व्यम्) सनातन (ब्रह्म) ब्रह्म [मुझ परमेश्वर] की (नमोभिः) सत्यभाव से नमस्कारादि रीति द्वारा [उपासना करोगे तब मैं तुम दोनों को आशीर्वाद दूंगा कि] (श्लोकः) सत्यवाणी वा सत्यकीर्ति

(वाम्) तुम दोनों को (विएतु) विशेषतया विविध प्रकार से प्राप्त हों। (सूरेः) परम विद्वान् को (इव) जैसे (पथ्या) धर्ममार्ग [यथावत् प्राप्त होता है इसी प्रकार तुमको सत्य सेवा से सत्यकीर्ति प्राप्त हो]। (शृण्वन्तु) तुम लोग सुनो कि (ये) जो (अमृतस्य) मोक्ष मार्ग के (पुत्रा) पालन करने वाले (विश्वे) सब [मुक्त] जीव अविनाशी ईश्वर के योग से (दिव्यानि धामानि) दिव्य लोकों अर्थात् सुखरूप जन्मों वा स्थानों को [आतस्थुः] अच्छी प्रकार स्थिर प्राप्त हो चुके हैं। उसी उपासना योग से (युजे) तुम्हें युक्त करता हूं।

भावार्थ–योग के जिज्ञासुओं को चाहिए कि योगारूढ़ विद्वानों का संग करके उनसे योगविधि सीखकर स्वयं योगाभ्यास करें अर्थात् ब्रह्म की उपासना करें॥५॥

अग्निर्यत्राभिमथ्यते वायुर्यत्राधिरुध्यते।
सोमो यत्रातिरिच्यते तत्र सञ्जायते मनः॥६॥

शब्दार्थ–(यत्र) जहाँ [शरीर के जिस स्थान में] (अग्निः) अग्नि (अभिमथ्यते) मथा [सुलगाया] जाता है, [अर्थात् मूलाधार में] (वायुः) प्राण (अधिरुध्यते) रोका जाता है [और] (यत्र) जहाँ (सोमः) अमृत रस (अतिरिच्यते) अतिशय से [वहुत] होता है [टपकता है], (तत्र) वहाँ (मनः) मन (संजायते) युक्त होता [स्थिरता का लाभ करता] है। [देह में मूलाधार एक स्थान है जहाँ प्राण रोका जाता है, मानस अग्नि को सुलगाया जाता है और वहाँ से सुषुम्णा नाड़ी तक अमृत टपकता है और आनन्द प्रतीत होता है वहाँ मन ठहर जाता है।]॥६॥

सवित्रा प्रसवेन जुषेत ब्रह्म पूर्व्यम्।
तत्र योनिं कृण्वसे न हि ते पूर्वमक्षिपत्॥७॥

शब्दार्थ–(सवित्रा) सर्वजगदुत्पादक से (प्रसवेन) जो [महान् अद्‌भुत रचना वाली] सृष्टि प्रसव [उत्पन्न] हुई है [उसे देखकर] (पूर्व्यम्) सृष्टि के पूर्व वर्त्तमान सनातन अनादि (ब्रह्म) ब्रह्म को (जुषेत) [उसके आनन्द स्वरूप में मग्न होकर उसको] सेवन करें (तत्र) उसी ब्रह्म (योनिम्)

उत्पत्ति स्थान को (कृण्वसे) तू कर [अर्थात् उस अनन्त ब्रह्मरूप योनि में स्थित उसी को ही अपना गुरु, माता, पिता मान]। [इससे] (ते) तू (पूर्वम्) [समय से] पूर्व (न हि) नहीं (अक्षिपत्) गिरेगा अर्थात् बिना पूरे नियत काल [एक ब्रह्म वर्ष] मोक्ष का सुख भोगेगा और जन्म-मरण के बन्धन में नहीं आयेगा ॥ ७ ॥

त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं हृदीन्द्रियाणि मनसा सन्निवेश्य।
ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान् स्त्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि ॥ ८ ॥

शब्दार्थ–(विद्वान्) विद्वान् व्यक्ति (शरीरम्) शरीर के (त्रिः) तीनों भाग [शिर, गर्दन वा छाती] (समम्) सीधा (उन्नत) उन्नत [ऊंचा] (स्थाप्य) रखकर (इन्द्रियाणि) इन्द्रियों को (मनसा) मन के साथ (हृदि) हृदय में (संनिवेश्य) संनिविष्ट [स्थित] करके [अर्थात् योग द्वारा] (ब्रह्मोडुपेन = ब्रह्म + उडुपेन) ब्रह्मरूपी [ओंकार रूपी] नौका से (सर्वाणि) सब (भयावहानि) भयानक (स्त्रोतांसि) जल प्रवाहों [संसार रूपी नदी के स्त्रोतों] को (प्रतरेत) पार कर जावे ॥ ८ ॥

प्राणान् प्रपीड्येह संयुक्तचेष्टः क्षीणे प्राणे नासिकयोच्छ्वसीत।
दुष्टाश्वयुक्तमिव वाहमेनं विद्वान् मनो धारयेताप्रमत्तः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ–(इह) इस योगाभ्यास में (संयुक्तचेष्टः) चेष्टाओं को वश में करके [रोककर] [और] (प्राणान्) प्राणों श्वासों को (प्रपीड्य) खीचें और रोककर (प्राणे) प्राण के (क्षीणे) क्षीण होने पर [जब भीतर न रुक सके] (नासिकया) [उसे] नासिका से [उच्छ्वसीत] शनैः शनैः बाहर निकाल देवे। [दुष्टाश्वयुक्तम् = दुष्ट + अश्व + युक्तम्] दुष्ट घोड़ों से युक्त (वाहन) रथ में (इव) जैसे [घोड़ों को वश में किया जाता है वैसे] (अप्रमत्तः) प्रमाद रहित (विद्वान्) विद्वान् मनुष्य [प्राणायाम द्वारा] (मनः) मन को (धारयेत) धारण करे [अर्थात् वश में करे] ॥ ९ ॥

(प्राणायाम करने से मन व इन्द्रियाँ वश में आ जाती हैं अतएव योगी के लिए प्राणायाम अत्यावश्यक है)।

समे शुचौ शर्कराव‌ह्निवालुकाविवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः।
मनोऽनुकूले न तु चक्षुपीडने गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत् ॥ १० ॥

शब्दार्थ—(सम) सम [पदरे-हमवार] (शुचौ) स्वच्छ [पवित्र] (शर्करावह्निवालुकाविवर्जिते = शर्करा + वह्नि + वालुका + विवर्जिते) बजरी [धूल], आग वा रेत से रहित (शब्दजलाश्रयादिभिः) [तथा] [मधुर] शब्द [वा] [नदी सरोवर आदि] के आश्रय से युक्त [होने के कारण] (मनः) मन के (अनुकूले) अनुकूल [गुहानिवाताश्रयणे] गुफा वाले [एकान्त] निवास [वायु के वेग से रहित] स्थान में योगाभ्यास करें परन्तु (चक्षुपीडने) आँखों को [धूपादि से] पीड़ा [दुःख] देने वाले स्थान में (न तु) नहीं (प्रयोजयेत्) योगाभ्यास करें ॥ १० ॥

नीहारधूमार्कानिलानलानां खद्योतविद्युत्स्फटिकशशीनाम्।
एतानि रूपाणि पुरःसराणि ब्रह्मण्यभिव्यक्तिकराणि योगे ॥ ११ ॥

शब्दार्थ—(योगे) योग [ब्रह्म का ध्यान] करते समय [योगी को] (एतानि) ये (रूपाणि) भिन्न-भिन्न रूप (पुरः-सराणि) आरम्भ में [पहले ही] दिखलाई देते हैं [अर्थात्] (नीहारधूमार्कानिलानलानाम् = नीहार + धूम + अर्क + अनिल + अनलानाम्) कुहरा सा, धुआं सा, सूर्य, वायु और अग्नि [तथा] (खद्योतविद्युत्स्फटिकशशीनाम्—खद्योत + विद्युत् + स्फटिक + शशीनाम्) जुगनू, बिजली, स्फटिक [बिलौरी पत्थर] और चन्द्र—[इनकी ज्योतियाँ दिखाई देती हैं]। [योग में ब्रह्मदर्शन से पहले ये रूप] (ब्रह्मणि) ब्रह्म में (अभिव्यक्तिकराणि) प्रकटता [ब्रह्म का साक्षात्कार] कराने वाले होते हैं ॥ १० ॥

पृथ्व्याप्तेजोऽनिलखे समुत्थिते पञ्चात्मके योगगुणेप्रवृत्ते।
न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ—(पृथ्व्यप्तेजोऽनिलखे = पृथिवी + अप् + तेजः + अनिल + ख) पृथिवी, जल, तेज, वायु वा आकाश (पञ्चात्मके) [देह के इन] पाँच भूतों के (समुत्थिते) भली प्रकार वश में हो जाने [तथा] (योगगुणे) योग [चित्तवृत्तिनिरोध] के गुण [तेजरूपफललाभ] के (प्रवृत्ते) प्रवृत्त होने पर [योगाग्निमयम् = योग + अग्निमयम्] योग द्वारा तेजोमय [देदीप्यमान] (शरीरम्) शरीर (प्राप्तस्य) प्राप्त हुए (तस्य)

उस योगी को [न रोग], (न जरा) न जरा [बुढ़ापा] [और] (न मृत्यु:) न ही मृत्यु दुःख होता [सताता] है ॥ १२ ॥

लघुत्वमारोग्यमलोलुपत्वं वर्णप्रसादं स्वरसौष्ठवं च।
गन्धः शुभो मूत्रपुरीषमल्पं योगप्रवृत्तिं प्रथमां वदन्ति ॥ १३ ॥

शब्दार्थ–(योगप्रवृत्तिम्) योग में प्रवृत्त हुए [योगी का] (प्रथमाम्) पहला [फल] (वदन्ति) कहते हैं [कि उसके शरीर में] [हलकापन], (आरोग्यम्) नीरोगता, (अलोलुपत्वम्) अलोलुपता [विषयों की लालसा अथवा किसी पदार्थ का लालच न होना], (वर्णप्रसादम्) [शरीर के] वर्ण [रंग] का निखरना (च) और (स्वरसौष्ठवम्) स्वर में माधुर्य, [शरीर से] (शुभः) अच्छी (गन्धः) [अर्थात् सुगन्ध] निकलना, (मूत्रपुरीषमल्पम्) मूत्र वा पुरीष का अल्प मात्रा [थोड़ा होना] [हो जाते हैं] ॥ १३ ॥

यथैव बिम्बं मृदयोपलिप्तं तेजोमयं भ्राजते तत् सुधान्तम्।
तद्वात्मतत्त्वं प्रसमीक्ष्य देही एकः कृतार्थो भवते वीतशोकः ॥ १४ ॥

शब्दार्थ–(यथा) जैसे (एव) ही (बिम्बम्) स्वर्ण पिण्ड (मृदया) मट्टी से (उपलिप्तम्) लिप्त [सना] हुआ (तत्) वह (सुधान्तम्) स्वच्छ किया [धोया] हुआ (तेजोमयम्) तेजोमय (कान्तियुक्त) (भ्राजते) चमकने लग पड़ता है (तत् उ) वैसे ही (देही) देहधारी [जीवात्मा] अपने आत्मा के (आत्मतत्त्वम्) आत्मतत्त्व [परमात्मा] को (प्रसमीक्ष्य) [अपने भीतर] भली प्रकार देख [जान] कर (एकः) एक [अकेला] (वीतशोकः) शोक रहित हुआ (कृतार्थः) कृतार्थ [सफल मनोरथ] (भवते) हो जाता है ॥ १४ ॥

यदाऽऽत्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत्।
अजं ध्रुवं सर्वतत्त्वैर्विशुद्धं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ–(युक्तः) योगी (यदा तु) जब (दीपोपमेन) दीपक के समान [ब्रह्मतत्त्वम्) ब्रह्म के स्वरूप को (इह) यहाँ [इस जीवन में] (प्रपश्येत्) साक्षात् कर लेता है [तब]

(अजम्) अजन्मा, (ध्रुवम्) [सर्वव्यापक होने से] कम्पन से रहित (सर्वतत्त्वैर्विशुद्धम्) सब तत्त्वों से अधिक शुद्ध (देवम्) परमात्मदेव को (ज्ञात्वा) जानकर (सर्वपाशैः) सब पाशों [बन्धनों] से (मुच्यते) मुक्त हो जाता है अर्थात् मोक्ष को प्राप्त कर लेता है ॥ १५ ॥

एषो ह देवः प्रदिशोऽनुसर्वाः पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः।
स एव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ् जनांस्तिष्ठति सर्वतोमुखः ॥ १६ ॥

यजु० ३१/४

शब्दार्थ–(जनाः) हे जनो [विद्वानो] ! (एषः) यह (ह) प्रसिद्ध (देवः) परमात्मदेव (सर्वाः) सब (प्रदिशः) दिशाओं उपदिशाओं [अर्थात् सब ओर] (अनु) अनुकूलता से [ठीक तौर पर अणु-अणु में] [व्यापक होकर] (सः उ) वही (गर्भे) गर्भ [प्राणियों के हृदय] के (अन्तः) बीच में (पूर्वः) पूर्व [कल्प के आदि में–प्रथम] (ह) निश्चय से (जातः) विद्यमान [प्रकटता को प्राप्त हुआ] [और] (सः एव) वही (जातः) प्रसिद्ध हुआ [और] (सः) वह (जनिष्यमाणः) [आगामी कल्पों में भी] प्रथम प्रसिद्धता को प्राप्त होगा। (सर्वतोमुखः) सर्वतोमुख [सब ओर अन्तर्यामी रूप से उपदेष्टा और सब कार्य बिना अवयवों के करने वाला] (प्रत्यङ्) प्रत्येक पदार्थ को प्राप्त हुआ (तिष्ठति) अचल सर्वत्र स्थित है [वही तुम सबका उपास्य और जानने योग्य है] ॥ १६ ॥

यो देवोऽग्नौ योऽप्सु यो विश्वं भुवनमाविवेश ।
य ओषधीषु यो वनस्पतिषु तस्मै देवाय नमो नमः ॥ १७ ॥

शब्दार्थ–(यः) जो (देवः) परमात्मदेव (अग्नौ) अग्नि में है, (यः) जो (अप्सु) जलों में है, (यः) जो (विश्वम्) सम्पूर्ण (भुवनम्) जगत् में (आविवेश) प्रविष्ट [व्यापक] हो रहा है, (यः) जो (ओषधीषु) औषधियों में [और] (यः) जो (वनस्पतिषु) वनस्पतियों में [व्यापक हो रहा है] (तस्मै) उस (देवाय) परमात्मदेव को (नमो नमः = नमः + नमः) [हमारा] बारम्बार नमस्कार हो ॥ १७ ॥

तृतीयोऽध्यायः

य एको जालवानीशत ईशनीभिः सर्वांल्लोकानीशत ईशनीभिः।
य एवैक उद्भवे सम्भवे च य एतद् विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ १ ॥

शब्दार्थ–(यः) जो (एकः) एक ही [अद्वितीय–असहाय्य] (जालवान्) [मायारूप] जाल को बिछाने वाला (ईशनीभिः) अपनी शासकीय शक्तियों से (ईशते) सब संसार पर स्वामित्व वा शासन करता है और (सर्वान्) सब (लोकान्) [पृथिवी आदि] लोकों को (ईशनीभिः) अपनी [महान्] शक्तियों से (ईशते) नियम में चला रहा है, (यः) जो (एकः) एक (एव) ही (उद्भवे) जगत् की उत्पत्ति (च) और (सम्भवे) स्थिति में [समर्थ है] (एतत्) इस [ब्रह्म] को (ये) जो (विदुः) जानते हैं (ते) वे (अमृताः) अमृत [अर्थात् जन्म–मरण से रहित] (भवन्ति) हो जाते हैं ॥ १ ॥

एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुर्य इमांल्लोकानीशत ईशनीभिः।

प्रत्यङ् जनांस्तिष्ठति सञ्चुकोचान्तकाले संसृज्य विश्वा भुवनानि गोपाः ॥ २ ॥

शब्दार्थ–(रुद्रः) रुद्ररूप [दुष्टों पर क्रोधकारी ब्रह्म] (एकः) एक (हि) ही है। (द्वितीयाय) ब्रह्म दो [वा इससे अधिक] कहने वाले (न तस्थुः) स्थित [टिक] नहीं सकते। [अर्थात् निश्चय से रुद्ररूप ब्रह्म एक ही है।] (यः) जो (इमान्) इन (लोकान्) लोकों को (ईशनीभिः) अपनी महान् शासकीय शक्तियों से (ईशते) अपने स्वामित्व में रखता [और नियम में चला रहा है वह] (प्रत्यङ्) प्रत्येक (जनान्) व्यक्ति के अन्तरात्मा में (तिष्ठति) स्थित है और (विश्वा) सारे (भुवनानि) भुवनों [लोकों] को (संसृज्य) रचकर (गोपाः) रक्षा [स्थिति] करने वाला ब्रह्म (अन्तकाले) अन्तकाल में [सृष्टि की स्थिति के पश्चात्] (सञ्चुकोच) इन्हें समेट लेता

है [अर्थात् वही एक ब्रह्म सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति, स्थिति वा प्रलय का करने वाला है और वही एक उपास्य है।] ॥ २ ॥

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात्।
सं बाहुभ्यां धमति संपतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देवऽ एकः ॥ ३ ॥

यजु० १७/१९

शब्दार्थ–[जो] (विश्वतश्चक्षुः) सब संसार का द्रष्टा (उत) और (विश्वतोमुखः) सर्ववक्ता अर्थात् सबका अन्तर्यामीरूप से उपदेष्टा [वा] (विश्वतोबाहुः) सर्वधारक वा सब प्रकार अनन्त बल वा पराक्रम से युक्त (उत) तथा (विश्वतस्पात्) सर्वत्र पग वाला अर्थात् सर्वगत वा सर्वव्यापक [है] [वही] (एकः) एक ही असहाय अद्वितीय (देवः) स्वप्रकाशस्वरूप परमात्मा (द्यावाभूमी) सूर्यपृथिव्यादि लोकों को (जनयन्) उत्पन्न करता हुआ (बाहुभ्याम्) अनन्त बल वा पराक्रमरूप बाहुओं से (पतत्रैः) [सब जीवों को] सुख दुःख रूपं फलों से (संधमति) सम्यक् [यथायोग्य] कम्पायमान अर्थात् जन्म–मरणादि को प्राप्त करा रहा है ॥ ३ ॥

यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः।
हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वं स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु ॥ ४ ॥

शब्दार्थ–(यः) जो [ब्रह्म] (देवानाम्) धार्मिक विद्वान् लोगों, दिव्यगुणयुक्त इन्द्रियों वा लोक लोकान्तरादि का (प्रभवः) रचने वाला (च) और (उद्भवः) उनका पालन वा रक्षा करने वाला, (विश्वाधिपः) सारे विश्व का राजा [स्वामी], (रुद्रः) रुद्र [दुष्टों को रुलाने वाला], (महर्षिः) महर्षि [महान् क्रान्तदर्शी, वेदज्ञान देने वाला] [सर्वज्ञ] [और जिसने] (पूर्वम्) पूर्व ही सृष्टि की आदि में (हिरण्यगर्भम्) हिरण्यगर्भ सूर्यादि प्रकाशमय लोकों वा प्रकाश को (जनयामास) उत्पन्न किया (सः) वह [परमात्मा] (नः) हमको (शुभया) शुभ [मेधा और] (बुद्ध्या) बुद्धि से (संयुनक्तु) संयुक्त करे ॥ ४ ॥

या ते रुद्र शिवा तनूरघोरापापकाशिनी।
तया नस्तनुवा शान्तमया गिरिशन्ताभिचाकशीहि ॥५॥

यजु० १६/२

शब्दार्थ–(गिरिशन्त) हे वेदवाणी [सत्योपदेश] से सुख पहुंचाने वाले! (रुद्र) हे रुद्र [दुष्टों को न्याय दण्ड देकर रुलाने वाले] भयंकर परमात्मा! (या) जो (ते) तेरी [अघोरा) घोर उपद्रव से रहित शान्त (अपापकाशिनी) सत्य धर्मों को प्रकाशित करने वाली (शिवा) कल्याणकारिणी (तनूः) तनु [विस्तृत स्वरूप] है [तया] उसी (शान्तमया) शान्तमय (तनुवा) विस्तृत स्वरूप से (नः) हमको (अभिचाकशीहि) देखो अर्थात् कृपादृष्टि करो [सब प्रकार से कृपया हमें ज्ञान विज्ञान से संयुक्त करो जिससे हमें ऐहिक और पारमार्थिक सुख का शीघ्र लाभ हो] ॥५॥

यामिषुं गिरिशन्त हस्ते बिभर्ष्यस्तवे।
शिवां गिरित्र! तां कुरु मा हिंसीः पुरुषं जगत् ॥६॥

यजु० १६/३

शब्दार्थ–(गिरिशन्त) हे वेदवाणी द्वारा हमें सुख देने वाले [ईश्वर]! [याम्] जिस (इषुम्) [अनन्तशक्तिरूप] बाण को (अस्तवे) फेंकने के लिए (हस्ते) आप हाथ में अर्थात् अपने अन्दर (बिभर्षि) धारण करते हो (ताम्) उस [बाण] को (शिवाम्) मंगलकारी (कुरु) कर अर्थात् हमारी सर्वथा रक्षा कर। (गिरित्र) हे वेदोपदेश को करने वाले [ईश्वर]! (पुरुषम्) पुरुषार्थयुक्त मनुष्य वा (जगत्) संसार [सृष्टि] को (मा) मत [न] (हिंसीः] मार [हिंसाकर] अर्थात् कृपया इन सबकी रक्षा कर ॥६॥

ततः परं ब्रह्म परं बृहन्तं यथा निकायं सर्वभूतेषु गूढम्।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारमीशं तं ज्ञात्वामृता भवन्ति ॥७॥

शब्दार्थ–(ततः) उस [ब्रह्माण्ड] से (परम्) परे [अर्थात् ब्रह्माण्ड के अतिरिक्त] ब्रह्म [जो कि] (परम्) सर्वोत्कृष्ट [वा] (बृहन्तम्) महान् (यथानिकायम्) [शरीर में] यथास्थान (सर्वभूतेषु) सब [चर-अचर] भूतों में (गूढम्) छिपा हुआ

वर्तमान अन्तर्यामी (विश्वस्य) जगत् का (एकम्) एक [ही स्वामी], (परिवेष्टितारम्) सब विश्व को लपेटने वाला [फेरे हुए] [और] (ईशम्) स्वामी [है] (तम्) उस [ब्रह्म] को (ज्ञात्वा) जानकर [धार्मिक विद्वान योगी लोग] (अमृताः) अमृत [मुक्त] (भवन्ति हो जाते हैं) ॥ ७ ॥

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥ ८ ॥

शब्दार्थ–[हे जिज्ञासुओ !] (अहम्) मैं [योगी] (एतत्) इस [पूर्वोक्त] (महान्तम्) महान् [सबसे बड़े] (आदित्यवर्णम्) स्वप्रकाश स्वरूप [विज्ञानस्वरूप] (तमसः) अविद्यान्धकार से (परस्तात्) परे [रहित] (पुरुषम्) पूर्ण जगदीश्वर को [वेद] जानता हूं। (तम्) उसको (एव) ही (विदित्वा) जानकर (मृत्युम्) [मनुष्य] मृत्युदुःख को (अति एति) उल्लंघन [पार] कर सकता है। (अन्यः) [बिना उसके जाने] और कोई (पन्थाः) मार्ग (अयनाय) मुक्ति के लिए (न) नहीं (विद्यते) जाना जाता ॥ ८ ॥

यस्मात् परं नापरमस्ति किञ्चिद्यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ–(यस्मात्) जिससे (परम्) परे [दूर] अथवा (अपरम्) पीछे (किञ्चित्) कुछ भी (न अस्ति) नहीं है। (यस्मात्) जिससे (अणीयः) सूक्ष्म (किञ्चित्) कोई (न) नहीं [और] (न) ही (ज्यायः) बड़ा (अस्ति) है [जो] (दिवि) आकाश में (वृक्ष इव) वृक्ष की तरह (एकः) अकेला ही (स्तब्धः) निश्चल (तिष्ठति) स्थिर वर्त्तमान है। (तेन) उन (पुरुषेण) पूर्ण परमात्मा से (इदम्) यह (सर्वम्) सम्पूर्ण जगत् (पूर्णम्) पूरा (भरा पड़ा) है अर्थात् सबमें वह पूर्णतया व्यापक हो रहा है ॥ ९ ॥

ततो यदुत्तरतरं तदरूपमनामयम्।
य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःखमेवापि यन्ति ॥ १० ॥

शब्दार्थ–(ततः) उस [कार्यरूप जगत्] से (तत्) जो (उत्तरतरम्) परे से परे [अर्थात् इस जगत् से परे जो कारण रूप

प्रकृति है उससे भी परे] [ब्रह्म] है। (तत्) वह (अरूपम्) रूप [काया] रहित [और] (अनामयम्) [जरामृत्यु आदि] व्याधि से मुक्त है। (ये) जो मनुष्य (एतत्) इस [ब्रह्म] को (विदुः) जान लेते हैं [अर्थात् ब्रह्मज्ञानी] (अमृताः) [मुक्त] (भवन्ति) हो जाते हैं (अथ) और (इतरे) दूसरे (दुःखम्) दुःख को (एव) ही [अपि] निश्चय से (यन्ति) प्राप्त होते हैं ॥ १० ॥

सर्वाननशिरोग्रीवः सर्वभूतगुहाशयः।
सर्वव्यापी स भगवांस्तस्मात् सर्वगतः शिवः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ–(सर्वाननशिरोग्रीवः = सर्व + आनन + शिरः + ग्रीवः) सर्वत्र मुख, सिर वा ग्रीवा वाला [अर्थात् सब का उपदेष्टा, सर्वज्ञ वा सर्वव्यापक] अथवा जिसमें सब प्राणियों के मुख, शिर वा ग्रीवा स्थित हैं (और) (सर्वभूतगुहाशयः) सब प्राणियों की हृदय-गुहा में सोने वाला [अर्थात् अन्तर्यामी रूप से व्यापक], (सर्वव्यापी) सर्वव्यापक [है] (सः) वह (भगवान्) भगवान् [ऐश्वर्यवान्] [है] (तस्मात्) इस कारण [वह] (सर्वगतः) सब जगह पहुंचा हुआ है और (शिवः) कल्याणकारी [ऐहिक और पारमार्थिक सुख का देने वाला है] ॥ ११ ॥

महान् प्रभुर्वै पुरुषः सत्त्वस्यैष प्रवर्त्तकः।
सुनिर्मलामिमां प्राप्तिमीशानो ज्योतिरव्ययः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ–(एषः) यह ब्रह्म (वै) निश्चय से (महान्) महान् [अनन्त], (प्रभुः) सब का स्वामी, (पुरुषः) सबमें परिपूर्ण, (सत्त्वस्य) सत्य धर्म का (प्रवर्तकः) प्रवर्तक, (अव्ययः) अविनाशी, (ज्योतिः) प्रकाशस्वरूप [और] (इमाम्) इस (सुनिर्मलाम्) अतिनिर्मल (प्राप्तिम्) (मोक्षरूप), प्राप्य-लक्ष्य का (ईशानः) स्वामी है ॥ १२ ॥

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः।
हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो य एतद् विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ १३ ॥

शब्दार्थ–(जनानाम्) मनुष्यों के (अङ्गुष्ठमात्रः) अङ्गुष्ठमात्र (हृदये) हृदय में (अन्तरात्मा) जीवात्मा के अन्दर (सदा) सर्वदा (पुरुषः) पूर्ण ब्रह्म (सन्निविष्टः) स्थित [विद्यमान] है। [वह] (हृदा) हृदय (मनीषा) बुद्धि व

(मनसा) मन से (अभिक्लृप्तः) प्राप्य [जानने योग्य] है। (ये) जो (एतत्) इसको (विदुः) जानते हैं (ते) वे (अमृताः) अमर [मुक्त] (भवन्ति) हो जाते हैं॥ १३ ॥

सहस्रशीर्षाः पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो स्पृत्वा अत्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम्॥ १४ ॥

यजु० ३१/१

शब्दार्थ–(सहस्रशीर्षा) हजारों [अर्थात् असंख्य] जीवों के सिर हैं जिसमें अथवा जो सर्वज्ञ है, [सहस्राक्षः] हजारों [अर्थात् असंख्य] जीवों की आँखें हैं जिसमें अथवा जो सर्वद्रष्टा है, (सहस्रपात्) हजारों (अर्थात् असंख्य) जीवों के पाद हैं जिसमें अथवा जो सर्वगत सर्वव्यापक है (सः) वह (पुरुषः) पूर्ण ब्रह्म (सर्वतः) सब ओर से (भूमिम्) भूगोल अर्थात् सारे प्रकृति रूप जगत् को [में] (स्पृत्वा) व्यापक होकर (दशाङ्गुलम्) दशाङ्गुल [अर्थात् पाँच स्थूल वा पाँच सूक्ष्म भूतों वाले जगत्] को (अत्यतिष्ठत्–अति + अतिष्ठत्) उल्लंघन कर स्थित है अर्थात् इस सकल जगत् के भीतर और बाहर भी परिपूर्ण व्यापक हो रहा है॥ १४ ॥

पुरुष एवेदꣳ सर्वं यद् भूतं यच्च भव्यम्।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति॥ १५ ॥

यजु० ३१/२

शब्दार्थ–(यत्) जो (भूतम्) उत्पन्न हुआ (च) और (यत्) जो (भव्यम्) उत्पन्न होने वाला (उत) और (यत् जो (अन्नेन) पृथिव्यादि से (अतिरोहति) अत्यन्त बढ़ता [व्यतिरिक्त होता] है (इदम्) इस (सर्वम्) सारे [प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप जगत्] को (अमृतत्त्वस्य) अविनाशी मोक्ष सुख का (ईशानः) स्वामी [अधिष्ठाता] (पुरुषः) पूर्ण परमात्मा (एव) ही [रचता है अन्य कोई नहीं]॥ १५ ॥

सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥ १६ ॥

शब्दार्थ–[यह ब्रह्म] (सर्वतः) सब ओर [सर्वत्र] (पाणिपादम्) हाथ [अनन्त बल] वा पाद [सर्वगत अनन्त

विद्यमानता] वाला, (सर्वतः) सब ओर (अक्षिशिरोमुखम्–अक्षि + शिरः मुखम्) आँख वाला [सर्वद्रष्टा], शिर [अनन्त ज्ञान वाला], मुख [अन्तर्यामी रूप में सबको उपदेश देने वाला], (सर्वतः) सब ओर (श्रुतिमत्) कानों [श्रवणशक्ति] वाला, (लोके) संसार में (सर्वम्) सबको (आवृत्य) ढांप [घेर] कर [अर्थात् सब में व्यापक होकर] (तिष्ठति) स्थित हो रहा है ॥ १६ ॥

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
सर्वस्य प्रभुमीशानं सर्वस्य शरणं बृहत् ॥ १७ ॥

शब्दार्थ–[वह ब्रह्म] (सर्वेन्द्रियगुणाभासम्–सर्व + इन्द्रिय + गुण + आभासम्) [बिना भौतिक इन्द्रियों के] सब इन्द्रियों के गुणों के आभास वाला [ज्ञान अर्थात् सुनने, देखने आदि की शक्ति वाला], (सर्वेन्द्रियविवर्जितम्) सब इन्द्रियों के गोलकों से रहित, (सर्वस्य) सबके (प्रभुम्) स्वामी [अधिष्ठाता], ईशानम्) परमैश्वर्यवान् [और] (सर्वस्य) सबका (बृहत्) महान् (शरणम्) आश्रयस्थान है ॥ १७ ॥

नवद्वारे पुरे देही हंसो लेलायते बहिः।
वशी सर्वस्य लोकस्य स्थावरस्य चरस्य च ॥ १८ ॥

शब्दार्थ–(नवद्वारे) नौ द्वारों वाली (पुरे) शरीररूपी नगरी में (देही) देह का स्वामी [देहधारी] (हंसः) जीवात्मा (बहिः) बाहर जाने को (लेलायते) लेलायत [उत्सुक] होता है [परन्तु वह ब्रह्म सदा मुक्त] (सर्वस्य) समस्त (स्थावरस्य) अचर (च) वा (चरस्थ) चर जंगमी (लोकस्य) जगत् का [वशी] वशी [वश अर्थात् नियम में रखने वाला है] ॥ १८ ॥

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।
स वेत्ति विश्वं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ–[परमेश्वर के] (अपाणिपादः) हाथ-पाँव नहीं हैं [परन्तु] (ग्रहीता) अपने शक्तिरूप हाथ से सबका ग्रहण करता [और] (जवनः) सर्वव्यापक होने से सबसे अधिक वेगवान् गतिशील, (अचक्षुः) चक्षु के गोलक नहीं [परन्तु]

(पश्यति) सबको यथावत् देखता, (अकर्णः) कान नहीं [परन्तु] (शृणोति) [सबकी बातें] सुनता है, [अन्तःकरण नहीं परन्तु] (सः) वह (विश्वम्) सब जगत् को (वेत्ति) जानता है (च) और (तस्य) उसको (वेत्ता) [अवधिसहित] जानने वाले कोई भी नहीं। (तम्) उसी को (अग्रयम्) सबसे श्रेष्ठ, (महान्तम्) सबसे महान् (पुरुषम्) [सबसे पूर्ण होने से] पुरुष (आहुः) कहते हैं ॥ १९ ॥

अणोरणीयान् महतो महीयानात्मा गुहायां निहितोऽस्य जन्तोः।
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमीशम् ॥ २० ॥

शब्दार्थ–[वह ब्रह्म] (अणोः) अणु [सूक्ष्म] से भी (अणीयान्) [सूक्ष्म], [और] (महतः) महान् [बड़े] से भी (महीयान्) महान् अणु [बड़ा] [है]। (आत्मा) [वह] परमात्मा (अस्य) इस (जन्तोः) जीव की (गुहायाम्) हृदयरूपी गुफा में (निहितः) छिपा हुआ स्थित है। (तम्) उस (अक्रतुः) [सकाम अर्थात् सुख-दुःख वाले] कर्म रहित (महिमानम्) महान् (ईशम्) परमैश्वर्यवान् स्वामी को (वीतशोकः) शोकरहित पुरुष (धातुः) उस सर्वधारक [परमात्मा] की (प्रसादात्) कृपा से ही (पश्यति) साक्षात् करता है ॥ २० ॥

वेदाहमेतमजरं पुराणं सर्वात्मानं सर्वगतं विभुत्वात्।
जन्मनिरोधं प्रवदन्ति यस्य ब्रह्मवादिनो हि प्रवदन्ति नित्यम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ–[ब्रह्मज्ञानी कहता है कि] (अहम्) मैं (एतम्) इस (अजरम्) जरा रहित, (पुराणम्) सनातन [अनादि], (सर्वात्मानम्) सबके [अन्तर्यामी रूप से] आत्मा, [तथा] (विभुत्वात्) सर्वव्यापकत्व के कारण (सर्वगतं) सर्वगत (जन्मनिरोधम्) जन्ममरण के बन्धन से रहित परमेश्वर को [वेद] जानता हूं (ब्रह्मवादिनः) ब्रह्मवादी (यस्य) जिसका [प्रवदन्ति] व्याख्यान [बखान] करते हैं। (हि) निश्चय से [नित्यम्] नित्य ब्रह्म का (प्रवदन्ति) वर्णन करते हैं ॥ २१ ॥

चतुर्थोऽध्याय:

य एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगाद् वर्णाननेकान् निहितार्थो दधाति।

विचैति चान्ते विश्वमादौ स देवः स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु ॥ १ ॥

शब्दार्थ–(यः) जो (एकः) [अद्वितीय ब्रह्म] (अवर्णः) स्वयं रंग, रूप अर्थात् आकृति काया रहित [है किन्तु] (शक्तियोगात्) अपनी अनन्त शक्ति [बल-सामर्थ्य] के योग से (बहुधा) बहुत प्रकार से (अनेकान्) अनेक (वर्णान्) रंग-रूप-आकार वाले चराचर (विश्वम्) जगत् को (निहितार्थः) स्वोद्देश्य [ज्ञानयुक्त प्रयोजन से] (दधाति) रचता व धारण करता है (च) और (सः) वह (अन्ते) सृष्टिकाल समाप्त होने पर (विचैति) [इस जगत् का] संहार [प्रलय] करता है। (सः) वह ही (देवः) आनन्दस्वरूप परमात्मा (आदौ) सृष्टि के आदि में (नः) हमें (शुभया) शुभ (बुद्ध्या) बुद्धि से (संयुनक्तु) संयुक्त करे अर्थात् मेधा बुद्धि प्रदान करे ॥ १ ॥

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः।

तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः सः प्रजापतिः ॥ २ ॥

शब्दार्थ–(तत्) वह [परमेश्वर] (एव) ही (अग्निः) [आनन्द स्वरूप तथा पूज्यतम होने से] "अग्नि" [नाम वाला कहा जाता है] (तत्) वह ही (आदित्यः) [अविनाशी तथा स्वप्रकाशस्वरूप होने से] आदित्य" [कहा जाता है]। (तत्) वह ही (वायुः) [सबका धारण करने वाला अनन्त बलवान् होने तथा प्राणों से भी प्रिय होने से] "वायु" [कहा जाता है] (उ) और (तत्) वह ही (चन्द्रमाः) [स्वयं आनन्दस्वरूप होने तथा अपने सेवकों को आनन्द देने वाला होने से] "चन्द्रमा" [कहा जाता है]। (तत्) वह ही (शुक्रम्) [सर्वजगदुत्पादक होने से] "शुक्र" [कहा जाता है]। (तत्)

वह ही (ब्रह्म) [सबसे बड़ा होने से] "ब्रह्म" [कहा जाता है] [और] (तत्) वह ही (तत्) वह (आपः) जल है (प्रजापतिः) [सब जगत् का पति अर्थात् स्वामी वा पालक होने से] "प्रजापति" [कहाता है]। [परमात्मा के अनेक गुण हैं इसलिए उसके अग्नि आदित्यादि अनेक नाम हैं। ये नाम केवल भौतिक पदार्थों के ही नहीं है ।। २ ।।

त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी।
त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ–[ईश्वर भक्त अपने आपको कहता है]–(त्वम्) तू (स्त्री) [कभी] स्त्री शरीरधारी [और कभी] (त्वम्) तू (पुमान्) पुरुष शरीरधारी (असि) हो जाता है। (त्वम्) तू [कभी] (कुमारः) कुमार का शरीर [धारण कर लेता है] (उत वा) और कभी (कुमारी) कुमारी का। (त्वम्) तू [कभी] (जीर्णः) जीर्ण [बूढ़ा] हुआ (दण्डेन) [लाठी] से (वञ्चसि) चलता फिरता है। (त्वम्) तू (जातः) जन्म को प्राप्त हुआ (विश्वतोमुखः) नानायोनिगत (भवसि) हो जाता है ।। ३ ।।

[भाव यह है कि जीवात्मा नानाविध योनियों में जन्म लेता है और मोक्ष प्राप्त करने पर ही जन्म-मरण के बन्धन से रहित होता है]।

नीलः पतङ्गो हरितो लोहिताक्षस्तडिद्गर्भ ऋतवः समुद्राः।
अनादिस्त्वं विभुत्वेन वर्तसे यतो जातानि भुवनानि विश्वा ॥ ४ ॥

शब्दार्थ–[अब भक्त प्रकृति को सम्बोधित करके कहता है कि] (अनादिः) हे अनादि [कारणरूप प्रकृति] (त्वम्) तू (विभुत्वेन) विशाल [व्यापक रूप से] (वर्तसे) विद्यमान है (यतः) जिससे (नीलः) नीलवर्ण (पतङ्गः) सूर्य, (हरितः) हरितवर्ण, (लोहिताक्षः) रक्तवर्ण (तडिद्गर्भः) मेघ, (ऋतवः) ऋतुएं, (समुद्राः) समुद्र [वा] (विश्वा) सब (भुवनानि) लोकलोकान्तर (जातानि) उत्पन्न हुए हैं ।। ४ ।।

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ॥५॥

शब्दार्थ–(एकम्) एक (अजाम्) अनादि (लोहितशुक्ल कृष्णाम्) सत्त्व, रज, तमोगुण रूप प्रकृति (सरूपाः) [परिणामिनी होने से] अपने जैसी (बह्वीः) बहुत (प्रजाः) प्रजाओं [कार्यरूप सृष्टि] को (सृजमानाम्) उत्पन्न करती हुई को [एकः] एक (हि) ही (अजः) अनादि [जीवात्मा] (जुषमाणः) सेवता हुआ (अनुशेते) उसके साथ लिपटता है और फंसता है, [परन्तु] (अन्यः) एक और दूसरा (अजः) अनादि [परमात्मा] (एनाम्) इसे (भुक्तभोगाम्) [जीवद्वारा] भोगी जा रही [प्रकृति] को (जहाति) छोड़ देता है अर्थात् वह [परमात्मा] इसमें न फंसता और न भोग करता है। [इस श्लोक में परमात्मा जीवात्मा वा प्रकृति तीनों का वर्णन है] ॥५॥

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥६॥

शब्दार्थ–[जो] (द्वा) [ब्रह्म और जीव] दोनों (सुपर्णा) [चेतनता और पालनादि गुणों रूप] सुन्दर पंखों वाले सदृश, (सयुजा) व्याप्य व्यापक भाव से संयुक्त, (सखाया) परस्पर मित्रतायुक्त [अर्थात् प्रेमयुक्त सनातन अनादि हैं] और (समानम्) एक ही (वृक्षम्) [कार्य प्रकृतिरूप] वृक्ष का (परिषस्वजाते = परि + सस्वजाते) सब ओर आश्रय [आलिंगन] करके बैठे हैं। (तयोः) उन दोनों में से (अन्य) ब्रह्म से भिन्न दूसरा (जीव) (पिप्पलम्) (इस वृक्ष रूप] संसार में पाप पुण्यरूप कर्मों के फलों को (स्वाद्वत्ति–स्वादु + अत्ति) अच्छे प्रकार स्वाद लेकर भोगता है और (अन्यः) दूसरा [परमात्मा] (अनश्नन्) [कर्मों के फलों को] न भोगता हुआ (अभिचाकशीति) सर्वत्र प्रकाशमान् हो रहा है [अथवा सब ओर से जीव के कर्मों को साक्षीरूप देखता है]। [इस वेद मन्त्र में बताया गया है कि जीव से ईश्वर, ईश्वर से जीव और दोनों से प्रकृति भिन्न रूप

तीनों अनादि हैं। ईश्वर प्रकृति में व्यापक हो रहा है और जीव भी उसमें लिप्त हुआ है] ॥ ६ ॥

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः ॥ ७ ॥

शब्दार्थ–(समाने) एक ही (वृक्षे) [प्रकृति रूप] वृक्ष पर बैठे [दोनों में से] (पुरुषः) जीवात्मा (निमग्नः) निमग्न हुआ (अनीशया) अपने असामर्थ्य के कारण (मुह्यमानः) अज्ञानवश (शोचति) शोक करता है। (यदा) [परन्तु] जब (अन्यम्) दूसरे (जुष्टम्) शान्त [प्रसन्न] [वा] (ईशम्) समर्थ ब्रह्म को [जानकर] (अस्य) इस [ब्रह्म] की (महिमानम्) महिमा को (पश्यति) देखता है (इति) तो (वीतशोकः) शोकरहित हो जाता है ॥ ७ ॥

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तं न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ॥ ८ ॥

ऋ० १/१६४/३९

शब्दार्थ–(यस्मिन्) जिस (ऋचः) ऋग्वेदादि वेदमात्र से प्रतिपादित, (अक्षरे) अविनाशी, (परमे) परम [सर्वोत्कृष्ट], (व्योमन्) आकाशवत् सर्वव्यापक [ईश्वर] में (विश्वे) सब (देवाः) विद्वान् और पृथिवी सूर्यादि सब लोक (अधिनिषेदुः) आध्येरूप से स्थित हैं। (तत्) उस [ब्रह्म] को (यः) जो (न) नहीं [वेद] जानता (ऋचः) [वह] ऋग्वेदादि से (किम्) क्या कुछ (करिष्यति) कर सकता है [क्या कुछ सुख को प्राप्त हो सकता है] ? कुछ नहीं ? [किन्तु] (ये) जो (तत्) [वेदों को पढ़के धर्मात्मा योगी होकर] उस ब्रह्म को (विदुः) जानते हैं, (ते) वे (इत्) ही (इमे) इस ब्रह्म में (समासते) अच्छी प्रकार स्थित होते हैं [अर्थात् शान्ति पाते और मुक्तिरूपी परमानन्द को प्राप्त होते हैं] ॥ ८ ॥

छन्दांसि यज्ञाः क्रतवो व्रतानि भूतं भव्यं यच्च वेदा वदन्ति।
अस्मान् मायी सृजते विश्वमेतत्तस्मिंश्चान्यो माया सन्निरुद्धः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ–(छन्दांसि) छन्द [वेद], (यज्ञाः) नैत्यिक [पञ्च] महायज्ञ, (क्रतवः) अन्य यज्ञरूप कर्म, (व्रतानि) सत्यादिव्रत, (भूतम्) जो हो चुका है, (भव्यम्) जो आगे होगा (च) और (यत्) जो कुछ (वेदाः) (वदन्ति) कहते हैं (एतत्) इस (विश्वम्) सब जगत् को (अस्मान्) और हम सब [जीवों के शरीरों] को (मायी) मायापति [प्रकृति का स्वामी परमेश्वर] (सृजते) रचता है (च) और (तस्मिन्) उसमें (अन्यः) अन्य [परमेश्वर से भिन्न दूसरा अर्थात् जीवात्मा] (मायया) माया जाल के बन्धन से (सन्निरुद्धः) कैद अर्थात् फंसा हुआ है ॥ ९ ॥

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।
तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत् ॥ १० ॥

शब्दार्थ–(मायाम्) माया को (तु) तो (प्रकृतिम्) प्रकृति (विद्यात्) जाने (तु) और (मायिनम्) मायी को (महेश्वरम्) महेश्वर [परमात्मा] [जाने]। (तस्य) उसके (अवयवभूतैः) एकदेशस्थ पंच अंगभूत अर्थात् महाभूतों से (इदम्) यह (सर्वम्) सब [जगत्] जगत् (व्याप्तम्) व्याप्त हो रहा है ॥ १० ॥

यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येको यस्मिन्निदं सं च विचैति सर्वम्।
तमीशानं वरदं देवमीड्यं निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति ॥ ११ ॥

शब्दार्थ–(यः) जो (एकः) अकेला ही (योनिं, योनिम्) प्रत्येक योनि [जन्म-जाति] का (अधितिष्ठति) अधिष्ठाता है [च] और (यस्मिन्) जिसमें (इमम्) यह (सर्वम्) सब [जगत्] (सम् एति) समाता है (च) और [जिससे यह फिर] (विचैति) प्रलय को प्राप्त हो जाता है (तम्) उस (ईशानम्) सकल ऐश्वर्यवान् सर्वशक्तिमान् स्वामी (वरदम्) वरदाता [श्रेष्ठ, ऐहिक और पारमार्थिक सुख देने वाले], (देवम्) देव [आनन्दस्वरूप वा आनन्ददाता], (ईड्यम्) बहुत स्तुति के

योग्य [अनन्तगुण सम्पन्न ब्रह्म] को (निचाय्य) निश्चय करके [अच्छी प्रकार जानकर [मनुष्य] (अत्यन्तम्) अत्यन्त (शान्तिम्) शान्ति को (एति) प्राप्त कर लेता है ॥ ११ ॥

यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः।
हिरण्यगर्भं पश्यत जायमानं स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु ॥ १२ ॥

शब्दार्थ–(यः) जो (देवानाम्) [पृथिवी, सूर्यादि व धार्मिक विद्वानादि] देवताओं का (प्रभवः) उत्पत्ति रचयिता (च) और (उद्भवः) उन्नतिकर्त्ता [पालक] (विश्वाधिपः) सारे जगत् का अधिपति [सर्वेश्वर], (रुद्रः) दुष्टों को उनके पाप कर्मों का दण्ड देकर रुलाने वाला [और] (महर्षिः) अनन्त ज्ञान वाला क्रान्तदर्शी [भविष्यद्रष्टा] है [उस] (जायमानम्) [सृष्टि रचना द्वारा] प्रतीत हुए (हिरण्यगर्भम्) सूर्यादि प्रकाशमय लोकों का उत्पत्ति, स्थिति स्थान [ज्योतिर्मय] को (पश्यत) देखो [अर्थात् अच्छी प्रकार जानो] (सः) वह (नः) हमें (शुभया) शुभ (बुद्ध्या) बुद्धि से (संयुनक्तु) संयुक्त करे। [ऐसा ही श्लोक तीसरे अध्याय में चौथी संख्या पर आया है वहाँ भी अर्थ देख लेवें] ॥ १२ ॥

यो देवानामधिपो यस्मिंल्लोका अधिश्रिताः।
य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ १३ ॥

शब्दार्थ–(यः) जो (देवानाम्) देवों [परम विद्वानों वा अन्य सब दिव्य पदार्थों] का (अधिपः) स्वामी [है] (यस्मिन्) जिस में (लोकाः) सब लोक पृथिवी सूर्यादि (अधिश्रितः) स्थित है। (यः) जो (अस्य) इस (द्विपदः) दुपाये [मनुष्य आदि] (च) और (चतुष्पदः) चौपाये [गौ आदि] का (ईशे) ईश्वर [स्वामी] है (कस्मै) उस सुखस्वरूप (देवाय) सकल ऐश्वर्य के देने हारे प्रकाशस्वरूप सर्वज्ञ परमात्मा के लिए [हविषा] अत्यन्त श्रद्धा वा प्रेम से (विधेम) विशेष भक्ति करें अर्थात् आत्मादि सर्वसमर्पण से उसकी यथावत् पूजा करें ॥ १३ ॥

सूक्ष्मातिसूक्ष्मं कलिलस्य मध्ये विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम्।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा शिवं शान्तिमत्यन्तमेति ॥ १४ ॥

शब्दार्थ–[जो] (कलिलस्य) गहन (विश्वस्य) संसार के (मध्ये) मध्य (सूक्ष्मातिसूक्ष्मम्) सूक्ष्म से भी सूक्ष्म (अनेकरूपम्) अनेक रूप पदार्थों का (स्रष्टारम्) रचयिता, [तथा] (विश्वस्य) सम्पूर्ण जगत् का (एकम्) एक ही अनन्त (परिवेष्टितारम्) आवृत्त करने [ढांपने] वाला है [उस] (शिवम्) कल्याणकारी परमात्मा को (ज्ञात्वा) जानकर ही [मनुष्य] (अत्यन्तम्) अत्यन्त (शान्तिम्) शान्ति [सुख] को (एति) प्राप्त करता है ॥ १४ ॥

स एव काले भुवनस्य गोप्ता विश्वाधिपः सर्वभूतेषु गूढः।
यस्मिन् युक्ता ब्रह्मर्षयो देवताश्च तमेवं ज्ञात्वा मृत्युपाशांश्छिनत्ति ॥ १५ ॥

शब्दार्थ–(सः) वह [ब्रह्म] (एव) ही (काले) समय पर (भुवनस्य) सृष्टि की (गोप्ता) रक्षा करने वाला है [और] (विश्वाधिपः) सम्पूर्ण जगत् का अधिपति [स्वामी] है [तथा] (सर्वभूतेषु) सब भूतों प्राणियों में (गूढः) अन्तर्यामी रूप से स्थित है (यस्मिन्) जिसमें (ब्रह्मर्षयः) ब्रह्मज्ञानी ऋषि (च) और (देवताः) धार्मिक विद्वान् लोग (युक्ताः) योगसाधना में लगे हुए हैं (तम्) उसी [ब्रह्म] को (एव) ही (ज्ञात्वा) जानकर [मनुष्य] (मृत्युपाशान्) मृत्यु के पाशों को [अर्थात् जन्म-मरण के बन्धन को] (छिनत्ति) काट देता है ॥ १५ ॥

घृतात् परं मण्डमिवातिसूक्ष्मं ज्ञात्वा शिवं सर्वभूतेषु गूढम्।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ–(घृतात्) घृत से (परम्) परे [ऊपर] (मण्डमिव) मण्ड [तरल घी] की तरह (अतिसूक्ष्मम्) बहुत सूक्ष्म, (शिवम्) कल्याणकारी, (सर्वभूतेषु) सब प्राणियों में (गूढम्) छिपे हुए [अन्तर्यामी रूप से] हृदय में आत्मा के अन्दर व्याप्त, (विश्वस्य) जगत् को (एकम्) एक ही (परिवेष्टितारम्) सब ओर आवृत्त करने [ढांपने] वाले (देवम्) सकल ऐश्वर्य के देने हारे प्रकाशस्वरूप सर्वज्ञ ब्रह्म को (ज्ञात्वा) जानकर ही (सर्वपाशैः) मनुष्य सब पाशों [जन्म मरण के बन्धनों] से

(मुच्यते) छूट जाता है अर्थात् मोक्ष को प्राप्त कर लेता है ॥ १६ ॥

एष देवो विश्वकर्मा महात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः।
हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो य एतद् विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ १७ ॥

शब्दार्थ–(एषः) यह (देवः) प्रकाशस्वरूप सर्वज्ञ ब्रह्म (विश्वकर्मा) सम्पूर्ण जगत् का रचयिता, (महात्मा) सबसे महान् आत्मा [परमात्मा] (सदा) सर्वदा, (जनानाम्) प्राणियों के (हृदये) हृदय में (सन्निविष्टः) विद्यमान [और] (हृदा) हृदय [चाहना] अर्थात् उत्कट इच्छा (मनीषा) बुद्धि [व] (मनसा) मन [मनन] से (अभिक्लृप्तः) पाया जाने वाला है। (ये) जो मनुष्य (एतत्) इस [ब्रह्म] को (विदुः) जान लेते हैं (ते) वे [अमृताः] मुक्त (भवन्ति) हो जाते हैं ॥ १७ ॥

यदातमस्तन्न दिवा न रात्रिः न सन्न चासच्छिव एव केवलः।
तदक्षरं तत् सवितुर्वरेण्यं प्रज्ञा च तस्मात् प्रसृता पुराणी ॥ १८ ॥

शब्दार्थ–(यदा) जब (अतमः) तम [तमोगुण अर्थात् अविद्या] का अभाव हो जाता है (तत्र) वहाँ [तब] (न) न (दिवा) दिन [जैसा प्रकाश] [तथा] [न] न [ही] (रात्रिः) रात्रि जैसा अन्धकार होता है [क्योंकि उस परमात्मा का दिव्य रूप] (न) न (सत्) सत् [है] (च) और [न] न [ही] (असत्) असत् है। [वह] [केवल] एकाकी (शिवः) [कल्याणकारी परमात्मा] (एव) ही [है]। (तत्) वह [परमात्मा] (अक्षरम्) अविनाशी, (तत्) वह [उस] (सवितुः) सकलजगदुत्पादक का [स्वरूप] (वरेण्यम्) सर्वोत्कृष्ट वा ध्यान करने योग्य है (च) और (तस्मात्) उसी परमात्मा से (पुराणी) पुरातन (प्रज्ञा) बुद्धि [अथवा वेदज्ञान] (प्रसृता) फैली है [अर्थात् सनातन वेदज्ञान का प्रकाश हुआ है] ॥ १८ ॥

नैनमूर्ध्वं न तिर्यञ्चं न मध्ये परिजग्रभत्।
न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद् यशः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ–[कोई भी] (एनम्) इस [ब्रह्म] को (न) न (ऊर्ध्वम्) ऊपर से, (च) और (न) न (तिर्यञ्चम्) तिरछे से (च) और (न) न (मध्ये) मध्य [बीच] से (परिजग्रभत्) पकड़ सकता है। (तस्य) उस [ब्रह्म] की [कोई] [प्रतिमा] प्रतिमा [मूर्ति अथवा आकृति] (न) नहीं (अस्ति) है (यस्य) जिस [ब्रह्म] का (नाम) नामस्मरण [उपासना] ही (महद्यशः = महत् + यशः) महान् [बड़े] यश [कीर्ति] का करने हारा है ॥ १९ ॥

न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्।
हृदा हृदिस्थं मनसा य एनमेवं विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ २० ॥

शब्दार्थ–(अस्य) इस [ब्रह्म] का (रूपम्) रूप (संदृशे) दृष्टि में (न) नहीं (तिष्ठति) उतरता [क्योंकि] (कश्चन) कोई भी (एनम्) इस को (चक्षुषा) चक्षु [आँखों] से (न) नहीं (पश्यति) देख पाता है। (ये) जो (एनम्) इस (हृदिस्थम्) हृदय में स्थित को (हृदा) हृदय [वा] (मनसा) मन से (एवम्) ऐसे (विदुः) जानते हैं (ते) वे (अमृताः) अमर [मुक्त] (भवन्ति) हो जाते हैं ॥ २० ॥

अजात इत्येवं कश्चिद्भीरुः प्रपद्यते ।
रुद्र यत्ते दक्षिणं मुखं तेन मां पाहि नित्यम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ–(रुद्र) हे पापियों को दण्ड देकर रुलाने वाले ईश्वर! (आप) अजन्मा हो । (इति एवम्) [आपको] ऐसे जानकर [कश्चित्] कोई भीरुः [पाप कर्म से अथवा पाप से] डरने वाला [ही] (प्रपद्यते) [आपकी] शरण में आता है। (यत्) [हे भगवान्] जो (ते) तेरा [दक्षिणम्] दक्षता [अत्यन्त चतुराई] वाला क्रियाशील (मुखम्) मुख [स्वरूप अथवा आशीर्वाद] है (तेन) उससे (माम्) मेरी (नित्यम्) सदा (पाहि) रक्षा कीजिए ॥ २१ ॥

मा नस्तोके तनये मा न आयुषि मा नो गोषु मा न अश्वेषु रीरिषः।

वीरान् मा नो रुद्र ! भामिनो वधीर्हविष्मन्तः सदमित्त्वा हवामहे ॥ २२ ॥

शब्दार्थ–(रुद्र) हे दुष्टों को रुलाने वाले परम न्यायाधीश ! [आप कृपया] (मा) न (नः) हमारे (तोके) सद्योजात [अभी उत्पन्न हुए बच्चे] पर [वा] (तनये) छोटे बालक पर, [मा] न (नः) हमारी (आयुषि) [पूर्ण] आयु पर, (मा) न (नः) हमारी (गोषु) गौओं पर, (मा) न (नः) हमारे (अश्वेषु) घोड़ा आदि पशुओं पर, (मा) न (नः) हमारे (वीरान्) शूरवीरों पर (रीरिषः) रोषयुक्त [और] (भामितः) क्रोधित होकर [इनको कभी] (वधीः) मारें। [हे भगवन्] (हविष्मन्तः) हम [ब्रह्म] यज्ञ के करने वाले (सदम्) सदा (त्वा) आपका (इत्) ही (हवामहे) आह्वान करते हैं। [इसमें जो 'आयुषि' शब्द आया है वेद मन्त्र में इसके स्थान पर 'आयौ' आया है। शेष कोई भेद नहीं] ॥ २१ ॥

पञ्चमोऽध्यायः

द्वे अक्षरे ब्रह्मपरे त्वनन्ते विद्याऽविद्ये निहिते यत्र गूढे।
क्षरं त्वविद्या ह्यमृतं तु विद्या विद्याऽविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः ॥ १ ॥

शब्दार्थ–(यत्र) जिस (अक्षरे) अविनाशी (अनन्ते) अनन्त (ब्रह्मपरे) परब्रह्म में (विद्याविद्ये) विद्या [अध्यात्मज्ञान] वा अविद्या [जड़ प्रकृति का ज्ञान] (द्वे) दोनों (तु) ही (गूढे) गूढ़ (निहित) विद्यमान हैं (तु) और (यः) जो (विद्याविद्ये) पूर्वोक्त विद्या वा अविद्या दोनों का (ईशते) ईश्वर [स्वामी अथवा आदिमूल] है (सः) वह (अन्यः) दूसरा [जीवात्मा वा प्रकृति से भिन्न] ही है। (अविद्या) प्रकृति ज्ञान [पदार्थ विद्या-भौतिक ज्ञान] (तु) तो (क्षरम्) विनाशी है [क्योंकि कार्यरूप प्रकृति विनाशी है] (तु) और (विद्या) आध्यात्मिक ज्ञान (हि) निश्चय से (अमृतम्) अविनाशी [मोक्षदायक] है ॥ १ ॥

यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येको विश्वानि रूपाणि योनीश्च सर्वाः।
ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्ति जायमानं च पश्येत् ॥ २ ॥

शब्दार्थ–(यः) जो [परमात्मा] (योनिं योनिम्) योनि-योनि [अर्थात् सब योनियों] का (एकः) एक ही (अवितिष्ठति) अधिष्ठाता [नियामक] है [और] (विश्वानि) सब (रूपाणि) [जीवों वा पदार्थों के] रूपों (च) और (सर्वाः) सब (योनीः) योनियों [का उत्पत्तिकर्त्ता] (च) और (अग्रे) पूर्व (प्रसूतम्) उत्पन्न (कपिलम्) कपिल (ऋषिम्) ऋषि (यः) जो हुआ (तम्) उसकी (ज्ञानैः) ज्ञानद्वारा (बिभर्ति) पुष्टि करने वाला है (तम्) उस (जायमानम्) [सब सृष्टि की उत्पत्ति द्वारा] प्रकट हुए (पश्येत्) [मुमुक्षु] देखे [जाने] ॥ २ ॥

एकैकं जालं बहुधा विकुर्वन्नस्मिन् क्षेत्रे संहरत्येष देवः।
भूयः सृष्ट्वा पतयस्तथेशः सर्वाधिपत्यं कुरुते महात्मा ॥ ३ ॥

शब्दार्थ–(एषः) यह (देवः) दिव्यगुणयुक्त (ईशः) ऐश्वर्यवान् [स्वामी] (एकैकम्) प्रत्येक [नानाविध] (जालम्)

[संसाररूपी] जाल को (बहुधा) बहुत प्रकार से (विकुर्वन्) फैलाता हुआ (अस्मिन्) इस (क्षेत्रे) क्षेत्र [सृष्टिरचना] में (संहरति) संहार करता [प्रलय में समेट लेता] है। (पतयः) विद्वानो ! (भूयः) फिर [तथा] वैसे ही (ईशः) वह ईश्वर [जगत् स्वामी] (महात्मा) महान् आत्मा [परमात्मा] (सृष्ट्वा) सृष्टि को रचकर (सर्वाधिपत्यम्) सब पर आधिपत्य [राज्य] (कुरुते) करता है [ऐसा जानो]।

सर्वा दिशः ऊर्ध्वमधश्च तिर्यक् प्रकाशयन् भ्राजते यद्वनड्वान्।
एवं स देवो भगवान् वरेण्यो योनिस्वभावानधितिष्ठत्येकः ॥ ४ ॥

शब्दार्थ–(यत् उ) जिस प्रकार (अनड्वान्) सूर्य (सर्वाः) सब (दिशः) दिशाओं, (ऊर्ध्वम्) ऊपर (अधः) नीचे (च) और (तिर्यक्) तिरछे [दायें-बायें] (प्रकाशयन्) प्रकाश करता हुआ (भ्रांजते) स्वयं प्रकाशता है (एवम्) ऐसे ही (सः) वह (देवः) परमात्मदेव [ब्रह्म] (भगवान्) परमैश्वर्यवान् (वरेण्यः) सर्वोत्कृष्ट स्वीकरणीय (एकः) अकेला ही (योनिस्वभावान्) सब [मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्षादि] योनियों के (पृथक्-पृथक्) स्वभावों का (अधितिष्ठति) अधिष्ठाता है [अर्थात् उन पर राज्य करता अथवा नियम से चला रहा है] ॥ ४ ॥

यच्च स्वभावं पचति विश्वयोनिः पाच्यांश्च सर्वान् परिणामयेद् यः।
सर्वमेतद् विश्वमधितिष्ठत्येको गुणांश्च सर्वान् विनियोजयेद् यः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ–(च) और (यः) जो (स्वभावम्) [पदार्थों के] स्वभावों [गुणों को (पचति) पकाता [द्रव्यों में पृथक्-पृथक् निहित करता है] (च) और (यः) जो (विश्वयोनिः) सबका आधार (सर्वान्) सब (पाच्यान्) पकाने योग्य [पदार्थों] को (परिणमत्) पकाता [फल देता] है (यः) जो (एकः) अकेला ही (एतत्) इस (सर्वम्) सब (विश्वम्) जगत् पर (अधितिष्ठति) अध्यक्षता करता है (च) और (सर्वान्) सब (गुणान्) [सब पदार्थों वा जीवों के] गुणों को (विनियोजयेत्) विनियुक्त [स्थापित] करता है [उसी को जानकर ही हम अमर हो सकते हैं] ॥ ५ ॥

तद् वेदगुह्योपनिषत्सु गूढं तद् ब्रह्मा वेदयते ब्रह्मयोनिम्।
ये पूर्वदेवा ऋषयश्च तद्विदुस्ते तन्मया अमृता वै बभूवुः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ–(तद्) उस (वेदगुह्योपनिषत्सु = वेद + गुह्य + उपनिषत्सु) वेदों के गुह्य रहस्य की व्याख्या करने वाली उपनिषदों में (गूढम्) [ब्रह्मज्ञान] छिपा है। (तत्) उस (ब्रह्मयोनिम्) वेद के आदि मूल [प्रकाशित करने वाले] परमेश्वर का (ब्रह्मा) ब्रह्म [चारों वेदों का ज्ञाता] (वेदयते) ज्ञान कराता है। (ये) जो (पूर्वदेवाः) पहले हो चुके विद्वान् (च) और (ऋषयः) मन्त्रद्रष्टा ऋषियों ने (तत्) उस ब्रह्म को (विदुः) जाना (ते) वे (तन्मया) उसमें लीन हुए (वै) निश्चय से (अमृता) अमर [मुक्त] (बभूवुः) हो गये ॥ ६ ॥

गुणान्वयो यः फलकर्मकर्ता कृतस्य तस्यैव स चोपभोक्ता।
स विश्वरूपस्त्रिगुणस्त्रिवर्त्मा प्राणाधिपः सञ्चरति स्वकर्मभिः ॥ ७ ॥

शब्दार्थ–(यः) जो [जीवात्मा] (गुणान्वयः) [तीन] गुणों से युक्त [रजोगुण, तमोगुण, सतोगुण], (फल कर्म कर्त्ता) फल भोगने वाले कर्मों का कर्त्ता (च) और (तस्य) उस (कृतस्य) किये हुए कर्म का (सः) वह (एव) ही (उपभोक्ता) फल भोगने वाला है, (सः) वह [जीव] (विश्वरूपः) अनेक योनियों में जाकर अनेक रूपों वाला उत्पन्न होता है [और वह] (त्रिगुणः) [ऊपर कहे] तीन गुणों से युक्त [और] (त्रिवर्त्मा) तीन मार्गों वाला [उत्तम, मध्यम, अधम], (प्राणाधिपः) प्राणों का स्वामी [मृत्यु के समय प्राण जीव के साथ ही जाते हैं] (स्वकर्मभिः) अपने कर्मों के कारण [अनुसार] (सञ्चरति) भिन्न योनियों में भटकता फिरता है ॥ ७ ॥

अङ्गुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः सङ्कल्पाहङ्कारसमन्वितो यः।
बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव आराग्रमात्रोऽप्यपरोऽपि दृष्टः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ–(यः) [जीवात्मा] (अङ्गुष्ठमात्रः) [अंगुष्ठमात्र हृदय में वास करने के कारण] अंगुष्ठमात्र कहा जाता है [परन्तु वह] (सङ्कल्पाहङ्कारसमन्वितः) संकल्प [मन] व

अहंकार [बुद्धि] से युक्त (रवितुल्यरूपः) सूर्य के तुल्य प्रकाशरूप अर्थात् विशाल रूप वाला है। [वह] (आराग्रमात्रः) [वास्तव में] सुई की नोक के बराबर है [अर्थात्! अत्यन्त सूक्ष्म है], [फिर] (अपि) भी [वह] (अपरः) अपर अर्थात् शरीर में उत्कृष्ट [अथवा परमात्मा से भिन्न] (बुद्धेः) बुद्धि के (गुणेन) गुणों [उत्कृष्टज्ञान] वा (आत्मगुणेन) आत्मा के गुणों [अपने चेतनस्वरूप] से (एव हि) ही (दृष्टः) देखा [जाना] जाता है ॥ ८ ॥

बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।
भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते ॥ ९ ॥

शब्दार्थ–[यदि] (बालाग्रशतभागस्य) बाल के सौवें भाग का (च) फिर [उसके भी] (शतधा) सौवें भाग को (कल्पितस्य) कल्पना किये हुए का (भागः) एक हिस्सा [अर्थात् बाल के अग्रभाग के दश सहस्रवें भाग के परिमाण वाला] (सः) वह [उतना] (जीवः) जीव (विज्ञेयः) जानना चाहिए (च) और (सः) वह (आनन्त्याय) अनन्त होने के लिए अर्थात् अनन्त मोक्ष पद को प्राप्त करने के लिए (कल्पते) समर्थ होता है ॥ ९ ॥

नैव स्त्री न पुमानेष न चैवायं नपुंसकः।
यद्यच्छरीरमादत्ते तेन-तेन स रक्ष्यते ॥ १० ॥

शब्दार्थ–(एषः) यह [जीवात्मा] (न) न (एव) ही (स्त्री) स्त्री [लिंगी] है [और] (न) न (पुमान्) पुरुष [लिंगी] (च) और (न) न (एव) ही (अयम्) यह (नपुंसकः) नपुंसक [लिंगी] है। (यद्यत्–यत् + यत्) जिस-जिस (शरीरम्) शरीर को [यह] (आदत्ते) ग्रहण करता है (तेन-तेन) उस उसके साथ (सः) वह [रक्ष्यते] रखा जाता है अर्थात् युक्त हो जाता है ॥ १० ॥

सङ्कल्पनस्पर्शनदृष्टिमोहैर्ग्रासाम्बुवृष्ट्यात्मविवृद्धिजन्म।
कर्मानुगान्यनुक्रमेण देही स्थानेषु रूपाण्यभिसम्प्रपद्यते ॥ ११ ॥

शब्दार्थ–(देही) जीवात्मा (संकल्पनस्पर्शनदृष्टिमोहैः– संकल्पन + स्पर्शन + दृष्टि + मोहैः) संकल्प, स्पर्शन, दर्शन तथा मोह से (स्थानेषु) भिन्न-भिन्न [शरीररूपी] स्थानों में (कर्मानुगानि) कर्मानुसार (रूपाणि) रूपों [देहों] को (अभिसम्प्रपद्यते) प्राप्त होता है (च) और (अनुक्रमेण) क्रमपूर्वक (ग्रासाम्बुवृष्ट्या) अन्न-जलादि के सेवन से (आत्मविवृद्धिजन्म) [जीवात्मा के] आत्मा [शरीर तथा मन] की वृद्धि और उत्पत्ति होती है [अर्थात् वह देह वृद्धि और जन्म को प्राप्त होता है] ॥ ११ ॥

स्थूलानि सूक्ष्माणि बहूनि चैव रूपाणि देही स्वगुणैर्वृणोति।
क्रियागुणैरात्मगुणैश्च तेषां संयोगहेतुरपरोऽपि दृष्टः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ–(देही) जीवात्मा (स्थूलानि) स्थूल (च) और (सूक्ष्माणि) सूक्ष्म (बहूनि) बहुत (रूपाणि) रूपों [देहों] को (स्वगुणैः) अपने गुणों अर्थात् पाप-पुण्यरूप कर्मों के प्रभावों से [अर्थात् उनके अनुसार] (वृणोति) स्वीकार (ग्रहण) करता है। (अपरः) परब्रह्म परमात्मा से भिन्न [जीवात्मा] (अपि) भी (क्रियागुणैः) अपने कर्मों के गुणों [साधनों] (च) तथा (आत्मगुणैः) अपने स्वाभाविक (इच्छाद्वेषादि) गुणों के कारण (दृष्टः एव) जाना ही जाता है [जो कि] (तेषाम्) उन शरीरों के साथ (संयोगहेतुः) संयोग कराने का हेतु [कारण] होता है ॥ १२ ॥

अनाद्यनन्तं कलिलस्य मध्ये विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम्।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ–(कलिलस्य) गहन संसार के (मध्ये) मध्य [में व्यापक] [जो] (अनादि) अनादि [अजन्मा] तथा (अनन्तम्) अनन्त [अन्तरहित], (विश्वस्य) जगत् के (स्रष्टारम्) रचयिता, (अनेकरूपम्) विविध प्रकार के जड़ तथा चेतन जगत् के स्रष्टा, अनेकरूप [तथा] उनमें व्यापक, (विश्वस्य) जगत् के (एकम्) एक ही (परिवेष्टितारम्) आवृत्त करने (ढांपने) वाले [देवम्] परमात्मदेव को (ज्ञात्वा) जानकर [जीव] (सर्वपाशैः) सब जन्म-मरण के बन्धनों से (परिमुच्यते) छूट जाता है ॥ १३ ॥

भावग्राह्यमनीड्याख्यं भावाभावकरं शिवम्।
कलासर्गकरं देवं ये विदुस्ते जहुस्तनुम् ॥ १४ ॥

शब्दार्थ–(भावग्राह्यम्) भावना [श्रद्धा] से ग्रहण करने योग्य (अनीड्याख्यम्) [आश्रय की अपेक्षा न रखने वाले होने के कारण] अनीड्य नाम वाले, (भावाभावकरम्) जगत् का भाव [रचना] और अभाव [संसार का प्रलय] करने वाले (शिवम्) कल्याणकारी, (कलासर्गकरम्) [पूर्वोक्त सोलह] कलाओं की रचना करने वाले (देवम्) परमात्मदेव को (ये) जो (विदुः) जान लेते हैं (ते) वे (तनुम्) शरीर को (जहुः) छोड़कर [मुक्त हो जाते हैं] ॥ १४ ॥

षष्ठोऽध्यायः

स्वभावमेके कवयो वदन्ति कालं तथान्ये परिमुह्यमानाः।
देवस्यैष महिमा तु लोके येनेदं भ्राम्यते ब्रह्मचक्रम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ–(येन) जिससे (इदम्) यह (ब्रह्मचक्रम्) ब्रह्मचक्र [सृष्टि का चक्र] (भ्राम्यते) घुमाया जाता है [अर्थात् इस सृष्टि का कारण] (एके) कई (कवयः) विद्वान् लोग (परिमुह्यमानाः) भ्रम में पड़कर (स्वभावम्) स्वभाव [कुदरत] (वदन्ति) बतलाते हैं (तथा) और (अन्ये) कई दूसरे (कालम्) काल को, (तु) परन्तु (लोके) संसार में (एषः) यह (महिमा) महिमा [बड़ाई] तो (देवस्य) परमात्मदेव की है [जिससे इस सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति वा प्रलय होते हैं] ॥ १ ॥

येनावृतं नित्यमिदं हि सर्वंज्ञः कालकारो गुणी सर्वविद्यः।
तेनेशितं कर्म विवर्तते ह पृथिव्यप्तेजोऽनिलखानि चिन्त्यम् ॥ २ ॥

शब्दार्थ–(येन) जिस [परमात्मा] से [इदम्] यह (सर्वम्) सब जगत् (नित्यम्) सदा (आवृतम्) आच्छादित रहता है, (यः) जो (ज्ञः) ज्ञाता, (कालकारः) काल का कर्त्ता [प्रकट करने वाला], (गुणी) सर्वगुणसम्पन्न [अनन्त गुणों वाला] [और] (सर्ववित्) सर्वज्ञ है (तेन) उसी से (ईशितम्) अधिष्ठित [अध्यक्षता में] (हि) निश्चय से (कर्म) [जगत् में] कर्म का (विवर्तते) सब प्रकार से संचालन हो रहा है [अर्थात् यह संसार चक्र चल रहा है]। (पृथिव्यप्तेजः) पृथिवी, जल वा तेज [अथवा] (अनिलखानि) वायु वा आकाश [इनका जगत् का कारण होना तो] (चिन्त्यम्) चिन्तनीय [सन्दिग्ध] है [ठीक नहीं क्योंकि परमात्मा ही इस सृष्टि का निमित्त कारण है और यह पञ्चभूत केवल सृष्टि के उपादान कारण अर्थात् साधन हैं] ॥ २ ॥

तत्कर्म कृत्वा विनिवर्त्य भूयस्तत्त्वस्य तत्त्वेन समेत्य योगम्।
एकेन द्वाभ्यां त्रिभिरष्टभिर्वा कालेन चैवात्मगुणैश्च सूक्ष्मैः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ–(तत्) वह [ब्रह्म] (कर्म) [सृष्टि रचनारूप] कर्म (कृत्वा) करके (विनिवर्त्य) निवृत्त होकर (भूय:) फिर (तत्त्वस्य) तत्त्व का (तत्त्वेन) तत्त्व के साथ (योगम्) योग (समेत्य) संगत कर (एकेन) एक (द्वाभ्याम्) दो (त्रिभि:) तीन (वा) या (अष्टभि:) आठों प्रथम अध्याय में कहे तत्त्व (कालेन) काल (च एव) लेकर (आत्मगुणै: सूक्ष्मै:) आत्मा के सूक्ष्म गुणों पर्यन्त [इसके योग से परमात्म देव कर्म का संचालन करता है, वे स्वतन्त्र कुछ नहीं कर सकते] ॥ ३ ॥

आरभ्य कर्माणि गुणान्वितानि भावांश्च सर्वान् विनियोजयेद्य:।
तेषामभावे कृतकर्मनाश: कर्मक्षये याति स तत्त्वतोऽन्य: ॥ ४ ॥

शब्दार्थ–(य:) जो मनुष्य (गुणान्वितानि) [सत्त्व, रज, तम] गुणों से युक्त (कर्माणि) कर्मों को (आरभ्य) आरम्भ करता (च) और (सर्वान्) सबको (भावान्) भावों से (विनियोजयेत्) युक्त करता है [तो फिर] (तेषाम्) उन [कर्मों] के (अभावे) भावरहित अर्थात् निष्काम होने पर (कृतकर्मनाश:) किये कर्म का नाश होता अर्थात् बन्धन में डालने वाला नहीं होता [और] (कर्मक्षये] [सकाम्) कर्म के क्षय होने पर (स:) वह उस ब्रह्म को (याति) प्राप्त हो जाता है जो (तत्त्वत:) वास्तव में (अन्य:) [जीव से] भिन्न है ॥ ४ ॥

आदि: स संयोगनिमित्तहेतु: परस्त्रिकालादकलोऽपि दृष्ट:।
तं विश्वरूपं भवभूतमीड्यं देवं स्वचित्तस्थमुपास्य पूर्वम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ–(स:) वह [ब्रह्म] (संयोगनिमित्तहेतु:) तत्त्वों के संयोग [अर्थात् सृष्टिरचना] का निमित्त कारण है। [वह] (त्रिकालात्) तीनों कालों [भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान] से (पर:) परे (आदि:) सब तत्त्वों से पूर्व वर्त्तमान (अकल:) कलाओं [अवयवों] से शून्य (अपि) भी (दृष्ट:) देखा जाता है। (तम्) उस (विश्वरूपम्) विश्वरूप [विश्व ही जिसका रूप है], (भवभूतम्) सृष्टि के रूप में प्रकट हो रहे (ईड्यम्) स्तुति के योग्य (स्वचित्तस्थम्) अपने चित्त [हृदय] में स्थित

(देवम्) परमात्मदेव की [जीव] (पूर्वम्) पूर्व [पहले] (उपास्य) उपासना करके [योग द्वारा प्राप्त कर सकता है] ॥ ५ ॥

स वृक्षकालाकृतिभिः परोऽन्यो यस्मात् प्रपञ्चः परिवर्ततेऽयम्।
धर्मावहं पापनुदं भगेशं ज्ञात्वात्मस्थममृतं विश्वधाम ॥ ६ ॥

शब्दार्थ–(सः) वह [ब्रह्म] (वृक्षकालाकृतिभिः) वृक्ष [छेदन-भेदन], काल [सीमा] और आकृति [आकार-काया] से (परः) परे [रहित], (अन्यः) [जीव वा प्रकृति से] भिन्न, (यस्मात्) जिसके निमित्त कारण से (अयम्) यह (प्रपञ्च) सारा संसार चक्र [परिवर्तते] घूम रहा है [धर्मावहम्–धर्म + आवहम्] धर्मप्रसारकं [धर्म प्राप्त कराने वाले], (पापनुदम्) पापनाशक, (भगेशम्) सकलैश्वर्य के स्वामी, (आत्मस्थम्) सर्व जगत् के वासस्थान [आश्रयभूत] को (ज्ञात्वा] जानकर ही [मनुष्य मोक्ष को प्राप्त कर सकता है] ॥ ६ ॥

तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमं च दैवतम्।
पतिं पतीनां परमं परस्तादविदाम देवं भुवनेशमीड्यम् ॥ ७ ॥

शब्दार्थ–(तम्) उस (ईश्वराणाम्) ऐश्वर्यसम्पन्नों में (परमम् महेश्वरम्) परमैश्वर्यवान् [अथवा समर्थों में परमसमर्थ], (च) और (तम्) उस (देवतानाम्) सब विद्वानों [वा दिव्य गुणयुक्त पदार्थों] में (परमम् दैवतम्) परम विद्वान् [देवों के देव] (पतीनाम्) पतियों [स्वामियों-रक्षकों] में (पतिम्) [सर्वश्रेष्ठ] पति [और] (परस्तात्) परे से भी (परमम्) परे [अनन्त] (भुवनेशम्) सब संसार के स्वामी, (ईड्यम्) बहुत स्तुति के योग्य (देवम्) परमात्म देव को (विदाम) हम जानते हैं ॥ ७ ॥

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ॥ ८ ॥

शब्दार्थ–(तस्य) उस परमात्मा से (कार्यम्) [प्रकृति की न्याईं] कोई तद्रूप कार्य (च) और (कारणम्) उसका कारण

अर्थात् साधकतम दूसरा (न विद्यते) जाना नहीं जाता [अपेक्षित नहीं] अर्थात् परमात्मा अज है। वह किसी पदार्थ से नहीं बनता और न ही उसके चैतन्यस्वरूप से यह जगत् बनता है, वह कारण प्रकृति से जगत् का बनाने वाला निमित्त कारण है न कि उपादान कारण (तत्समः—तत् + समः) उसके समान [तुल्य] (न) कोई नहीं है (च) और (न) न ही (अभ्यधिकः) उससे कोई अधिक [बढ़कर] (दृश्यते) दिखाई देता है। (अस्य) उसकी (शक्तिः) शक्ति (परा) सर्वोत्तम सर्वोत्कृष्ट [और] (विविधा) नानाविध (एव) शक्ति ही [श्रूयते] सुनी जाती है। (च) और उसमें (ज्ञानबलक्रिया) [अनन्त] ज्ञान, बल वा क्रिया (स्वाभाविकी) स्वाभाविक [सहज स्वभाव से है और उसके लिए कोई कार्य कठिन नहीं है] ॥ ८ ॥

न तस्य कश्चित् पतिरस्ति लोके न चेशिता नैव च तस्य लिङ्गम्।
स कारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ—(तस्य) उस [परमात्मा का] (लोके) इस लोक [संसार] में [कश्चित्] कोई (पतिः) स्वामी अथवा रक्षक (न) नहीं है (च) और (न) न ही (ईशिता) उसका कोई नियन्ता [वश में करने वाला] अथवा उस पर शासन करने वाला है (च) और (न एव) न ही (तस्य) उसका (लिङ्गम्) कोई लिंग [पहचान कराने वाला चिह्न] है। (सः) वह (कारणम्) [इस सृष्टि का निमित्त] कारण है [और] (करणाधिपाधिपः) साधनों के स्वामी का भी स्वामी है (च) और (अस्य) इसका (कश्चित्) कोई (जनिता) उत्पन्न करने वाला (न) नहीं (च) और (न) न ही (अधिपः) [कोई उसके ऊपर, उसका कोई] शासक, स्वामी अथवा अधिष्ठाता है ॥ ९ ॥

यस्तूर्णनाभ इव तन्तुभिः प्रधानजैः स्वभावतः।
देव एकः स्वमावृणोत् स नो दधात् ब्रह्माप्ययम् ॥ १० ॥

शब्दार्थ—(प्रधानजैः) प्रकृति से उत्पन्न (तन्तुभिः) तन्तुओं से (तन्तुनाभः) मकड़ी (स्वभावतः) स्वभाव से [अनायास]

(इव) जैसे [अपने को ढक लेती है वैसे (जो)] जो (एकः) एक (देवः) परमात्मदेव है (स्वम्) अपने को [कार्यरूप प्रकृति से] (आवृणोत्) घेर लेता है। (सः) वह (नः) हमें (ब्रह्माप्ययम्—ब्रह्म + अप्ययम्) ब्रह्म [अपने] में लीनता (दधात्) धारण [प्रदान करे [अर्थात्] मोक्ष प्रदान करे ॥ १० ॥

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥ ११ ॥

शब्दार्थ—[वह] (देवः) परमात्मदेव (एकः) एक ही (सर्वभूतेषु) सब प्राणियों में (गूढः) छिपा हुआ, (सर्वव्यापी सर्वव्यापक (सर्वभूतान्तरात्मा) सब प्राणियों की आत्माओं के भीतर अन्तर्यामी रूप से स्थित [व्यापक], (कर्माध्यक्षः) सब के कर्म का अधिष्ठाता [कर्मफल प्रदाता], (सर्वभूताधिवासः) सब भूतों [प्राणियों तथा पृथिव्यादि] में बसने वाला, तथा सब भूतों का आधार। (साक्षीः) सबके शुभाशुभ कर्मों का द्रष्टा, (चेता) चेतनस्वरूप, (केवलः) अद्वितीय (च) और (निर्गुण) गुणों [दुर्गुणों अथवा सत्त्व, रज, तम तीनों गुणों] से रहित [अलग] है ॥ ११ ॥

एको वशी निष्क्रियाणां बहूनामेकं बीजं बहुधा यः करोति।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ—(यः) जो (एकः) अकेला ही (निष्क्रियाणाम्) निष्क्रिय [निश्चेष्ट तत्त्व] को (वशी) वश में करने वाला है [और] (बहूनाम्) बहुत पदार्थों के (एकम्) एक (बीजम्) बीज को (बहुधा) बहुत प्रकार के (करोति) कर देता है (तम्) (आत्मस्थम्) आत्मा में स्थित [परमात्मा] को (ये) जो (धीराः) बुद्धिमान् लोग (अनुपश्यन्ति) साक्षात् कर [अर्थात् यथार्थतया जान] लेते हैं(तेषाम्) उन्हीं को (शाश्वतम्) सदा रहने वाला सुख [मोक्ष] [प्राप्त हो जाता है] (इतरेषाम्) दूसरों [अज्ञानियों] को (न) नहीं ॥ १२ ॥

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्।
तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ–(यः) जो (नित्यानाम्) नित्यों में (नित्यः) नित्य है, (चेतनानाम्) चेतनों में (चेतनः) चेतन है [अर्थात् अमर चेतनस्वरूप है]। (एकः) ही [अकेला] (बहूनाम्) अनेकों जीवों की (कामान्) कामनाओं की (विदधाति) सिद्धि करने वाला है (तत्) वही (कारणम्) इस सृष्टि का निमित्त कारण है [और] (सांख्ययोगाधिगम्यम्) सांख्य [ज्ञान] व योग से वह प्राप्त होता है। उस (देवम्) देवों के देव [परमात्मदेव] को (ज्ञात्वा) जानकर ही [मनुष्य] [सर्वपाशैः] सब पाशों [जन्म-मरण के बन्धनों] से (मुच्यते) छूट जाता है [अर्थात्] मोक्ष को प्राप्त कर लेता है ।। १३ ।।

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥ १४ ॥

शब्दार्थ–(तत्र) वहाँ [उस परमात्मा के सामने] (न) न (सूर्य) (भांति) चमकता है [अर्थात् सूर्य उसको प्रकाशित दिखा नहीं सकता] [और] (न) न ही (चन्द्रतारकम्) चांद और तारे। (न) न (इमाः) ये (विद्युतः) बिजलियाँ (भान्ति) उसके सामने चमकती हैं, अथवा उसको प्रकाशित कर सकती हैं [तो] (अयम्) यह (अग्निः) (कुतः) कैसे (उसे प्रकाशित कर सकता है)। (तम्) उसके (एव) ही (भान्तम्) प्रकाशित होने [चमकने] से (सर्वम्) यह सब [सूर्य, चन्द्र, तारे आदि] (अनुभाति) चमकते हैं। (तस्य) उसके (भासा) प्रकाश [ज्योति] से ही (इदम्) यह (सर्वम्) सारा जगत् (विभाति) चमकता है ।। १४ ।।

एको हंसः भुवनस्यास्य मध्ये स एवाग्निः सलिले सन्निविष्टः।
तमेव विदित्वा अतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥ १५ ॥

शब्दार्थ–(एकः) एक [अद्वितीय] (हंसः) पापनाशक परमात्मा (हि) ही [अस्य] इस (भुवनस्य) जगत् के (मध्ये) [बीच में] व्यापक है। (सः) वह (एव) ही (अग्निः)

प्रकाशस्वरूप (ज्ञानस्वरूप) (सलिले) जल में (सन्निविष्टः) स्थित हुआ है [अग्नि के मेल के बिना वायु से जल नहीं बनता]। (तम्) उस [ब्रह्म] को (एव) ही (विदित्वा) जानकर [मनुष्य] (मृत्युम्) मृत्यु दुःख को (अति एति) उल्लंघन कर सकता है। (अन्यः) और कोई (पन्था) मार्ग (अयनाय) मोक्ष के लिए (विद्यते) जाना (न) नहीं जाता अर्थात् नहीं है ॥ १० ॥

स विश्वकृद्विश्वविदात्मयोनिर्ज्ञः कालकारो गुणी सर्वविद्यः।
प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः संसारमोक्षस्थितिबन्धहेतुः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ–(सः) वह [परमात्मा] (विश्वकृत्) जगत् का रचने वाला, (विश्वविद्) जगत् का जानने वाला,(आत्मयोनिः) स्वयम्भू, (ज्ञः) ज्ञाता, (कालकारः) काल का कर्त्ता [नियम में बान्धने वाला], (गुणी) सद्गुणों से युक्त, (सर्ववित्) सर्वज्ञ (प्रधानक्षेत्रज्ञपतिः) प्रधान [प्रकृति] और क्षेत्रज्ञ [जीवात्मा] का पति [स्वामी], (गुणेश–गुण + ईशः) [तीनों] गुणों का नियन्ता [और] (संसारमोक्षस्थितिबन्धहेतुः = संसार + मोक्ष + स्थिति + बन्ध + हेतुः) संसार के मोक्ष, स्थिति [पालन] वा बन्ध का हेतु [कारण] है [अर्थात् जगत् की उत्पत्ति, स्थिति वा प्रलय वा जीव के मोक्ष पालन वा मरण–जन्म के बन्धन का हेतु वही परमात्मा है] ॥ १६ ॥

स तन्मयो ह्यमृतः ईशसंस्थो ज्ञः सर्वगो भुवनस्यास्य गोप्ता।
य ईशेऽस्य जगतो नित्यमेव नान्यो हेतुर्विद्यते ईशनाय ॥ १७ ॥

शब्दार्थ–(सः) वह ब्रह्म (हि) ही निश्चय से (तन्मयः) आत्ममय [स्वयम्भू, किसी अन्य का विकार नहीं], (अमृतः) अविनाशी [सदा मुक्तस्वभाव] (ईशसंस्थः) शासन की मर्यादा वाला, (ज्ञः) जानने वाला [परमविद्वान्], (सर्वगः) सर्वव्यापक अनन्त, (अस्य) इस (भुवनस्य) जगत् का (गोप्ता) रक्षक, (यः) जो [तथा] (अस्य) इस (जगतः) जगत् का (नित्यम्) नित्य (एव) ही (ईशे) स्वामी [नियन्ता] है। (ईशनाय) [इस

समस्त जगत् के] शासन के लिए (अन्यः) दूसरा कोई (हेतु) कारण [समर्थ] (न) नहीं (विद्यते) जाना जाता ॥ १७ ॥

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
तं ह देवं आत्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥ १८ ॥

शब्दार्थ–(यः) जो (पूर्वम्) पहले पहल (ब्रह्माणम्) चतुर्वेदी [चारों वेदों के ज्ञाता ऋषि] को [विदधाति] बनाता [उत्पन्न करता] है। (च) और (यः) जो (वै) निश्चय से (तस्मै) उस [ब्रह्मा ऋषि] के लिए [वेदान्] चारों वेदों का प्रकाश (प्रहिणोति) [अग्नि, वायु आदि ऋषियों द्वारा] स्थापित कराता है (तम्) उस (आत्मबुद्धि प्रकाशम्) आत्मा में बुद्धि के प्रकाश करने वाले (देवम्) परमात्मदेव की (हि) ही (शरणम्) शरण को (अहम्) मैं (मुमुक्षुः) मोक्ष का इच्छुक (वै) निश्चय से [प्रपद्ये] जाता हूँ ॥ १८ ॥

निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्।
अमृतस्य परं सेतुं दग्धेन्धनमिवानलम् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ–[मैं मुमुक्षु उस] (निष्कलम्) कला [अवयव] रहित, (निष्क्रियम्) सकाम अर्थात् बन्धन में डालने वाले कर्मों से रहित, (शान्तम्) सदा शान्तस्वरूप, (निरवद्यम) निर्दोष [अविद्या अन्धकार से परे], (निरञ्जनम्) निर्मल, (अमृतस्य) मोक्ष के (परं सेतुम्) परम [सर्वोत्कृष्ट] सेतु [दुःखसागर से पार कराने वाला], (दग्धेन्धनमिवानलम्–दग्ध + इन्धनम् + इव + अनलम्) जले ईंधन वाली अग्नि के समान [निर्धूम दीप्तिमान्] [परमात्मदेव की शरण में जाता हूं] ॥ १९ ॥

यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः।
तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति ॥ २० ॥

शब्दार्थ–(यदा) जब (मानवाः) मनुष्य (चर्मवत्) मृगचर्म से (आकाशम्) [विशाल] आकाश को [वेष्टयिष्यन्ति] लपेट लेंगे (तदा) तब (देवम्) परमात्मा देव को (अविज्ञाय) जाने बिना ही (दुःखस्यान्तः) (दुःख का अन्त) (भविष्यति) हो

जायेगा [अर्थात् जैसे चर्म से आकाश] का ढकना असम्भव है वैसे ब्रह्म को जाने बिना दुःखों [का अन्त होना अर्थात् मोक्ष प्राप्ति असम्भव है] ॥ २० ॥

तपः प्रभावाद् देवप्रसादाच्च ब्रह्म ह श्वेताश्वतरोऽथ विद्वान्।
अत्याश्रमिभ्यः परमं पवित्रं प्रोवाच सम्यगृषिसङ्घजुष्टम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ–(तपः) तप [धर्मानुष्ठान] के (प्रभावात्) प्रभाव से (च) और (देवप्रसादात्) देव [भगवान्] के अनुग्रह से (विद्वान्) (श्वेताश्वतरः) श्वेताश्वतर ऋषि ने (सम्यगृषिसङ्घजुष्टम्) भली प्रकार ऋषियों के संघ [मण्डली] द्वारा सेवित (ब्रह्म) ब्रह्म का (परमम्) परम (पवित्रम्) पवित्र (ह) पूर्व कभी (अत्याश्रमिभ्यः) संन्यासियों को (प्रोवाच) उपदेश किया ॥ २१ ॥

वेदान्ते परमं गुह्यं पुराकल्पे प्रचोदितम्।
नाप्रशान्ताय दातव्यं नापुत्रायाशिष्याय वा पुनः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ–(पुराकल्पे) प्राचीन समय में (परमम्) [उपरोक्त] परम [सर्वोत्कृष्ट] (गुह्यम्) गूढ़ [ब्रह्मज्ञान] (वेदान्ते) वेदान्त शास्त्र में (प्रचोदितम्) वर्णन किया गया था। [इसका उपदेश] (अप्रशान्ताय) अशान्त चित्त वाले व्यक्ति, (अपुत्राय) अपुत्र [जो योग्य पुत्र न हो] [वा] (पुनः) या (अशिष्याय) अशिष्य [जो योग्य शिष्य न हो] को (न) नहीं (दातव्यम्) देना चाहिये ॥ २२ ॥

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः प्रकाशन्ते महात्मन इति ॥ २३ ॥

शब्दार्थ–(यस्य) जिस मनुष्य की(देवे) परमात्मदेव पर (परा) परम (भक्तिः) भक्ति [होती है] [और जिसकी भक्ति] (यथा) जैसे (देवे) परमात्मदेव में (तथा) वैसे ही (गुरौ) गुरु में होती है (तस्य) उसी [ऐसे] (महामनाः) महात्मा को [ही] (एते) ये (कथिताः) [उपनिषद् में] कह गये [उपरोक्त] (अर्थाः) रहस्य (हि) निश्चय से (प्रकाशन्ते) प्रकाशित होते हैं। (इति) ऐसे जानना चाहिए ॥ २३ ॥